अध्याय १

भारतीय अर्थशास्त्र का अर्थ

अर्थशास्त्र को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागों में बाँटा गया है जिनमे से एक भाग 'सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र' (Theory of economics) और दूसरा भाग 'व्यवहारिक अर्थशास्त्र' (Applied economics) कहा जाता है। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र में हम कुछ ऐसे आधारभूत सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं जो आवश्यकताओं (wants) की पूर्ति के सम्बन्ध मे मनुष्य के व्यवहार की विवेचना करते हैं जब कि उद्देश्य दिये हो और उनकी पूति के साधन अपर्याप्त हों तथा उनके विभिन्न प्रयोग हो। अर्थशास्त्र में इन आधारभूत सिद्धान्तों को हम उत्पादन, उपभोग विनिमय और वितरण के अन्तर्गत अध्ययन करते हैं। सीमात उपयोगिता के ह्रास का नियम, उत्पादन के नियम, लगान का सिद्धान्त और रोजगार तथा व्यवसाय चक्र के सिद्धान्त अर्थशास्त्र के इन आधारभूत सिद्धान्तो के ही उदाहरण हैं। हम सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र का अध्ययन या तो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कर सकते हैं या विश्लेपणात्मक दृष्टि से। यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाय तो इसका रूप 'अर्थशास्त्र की विचारधारा का इतिहास' जैसा हो जाता है और दूसरी स्थिति मे विश्लेषणात्मक अर्थशास्त्र (Analytical Economics) जैसा हो जाता है जिसे संक्षेप में केवल अर्थशास्त्र भी कहते हैं।

व्यवहारिक अर्थशास्त्र सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र से बिल्कुल भिन्न है। इसमें उन समस्याओ का अध्ययन किया जाता है जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्नों के बीच पैदा हो जाती हैं, जैसे कृषि और उद्योग की समस्यायें, उत्पादन, आयात और निर्यात, बैंक और मुद्रा व्यवस्था, आर्थिक नियोजन, आदि। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र की भाँति, व्यवहारिक अर्थशास्त्र का अध्ययन हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी कर सकते हैं और ऐसी स्थिति में अर्थशास्त्र 'आर्थिक इतिहास', (Economic History) का रूप धारण कर लेता है। यदि विश्लेषण की दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो यह 'वर्तमान आर्थिक समस्याओं के अध्ययन' का रूप ले लेता है।

सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र की उत्पत्ति वास्तव में मनुष्य के व्यवहार के कुछ आधारभूत सिद्धान्तों और जनता की आर्थिक स्थिति के आधार पर होती है। उदाहरण के लिये, प्राचीन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तो पर इगलैंड की १८ वीं शताब्दी की

परिस्थितियों का बहुत प्रभाव पड़ा। इसके बाद जनता की आर्थिक स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों के फलस्वरूप आर्थिक सिद्धान्तों में भी संशोधन परिवर्द्धन होते गये। जैसे ही नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं उनकी व्याख्या करने के लिये या तो पहले के आर्थिक सिद्धान्तों का विस्तार किया गया या नये सिद्धान्तों का जन्म हुआ। हम वर्तमान की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिये या आर्थिक इतिहास लिखने के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक और व्यावहारिक अर्थशास्त्र में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

भारतीय अर्थशास्त्र—भारतीय अर्थशास्त्र व्यावहारिक अर्थशास्त्र का एक अङ्ग है। इसके अन्तर्गत वर्तमान समय की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, जैसे, चकबन्दी, भूमिहीनता, मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली, इत्यादि और साथ ही उनकी उत्पत्ति कारणों का भी विवेचन किया जाता है। इस अर्थ में भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन विश्लेषणात्मक हो जाता है। इसमें यह प्रयत्न किया जाता है कि वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों का सही चित्र प्रस्तुत किया जाय, विभिन्न घटनाओं के कारणों को समझाया जाय और यह भी बताया जाय कि जिन घटनाओं के उत्पन्न होने की सम्भावना थी, वह क्यों नहीं हुई। वर्तमान समय की समस्याओं का अध्ययन करने में हमें भावी घटनाओं का कुछ आभास हो जाता है। वर्तमान समय की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने और इसकी भावी प्रवृत्तियों का पता लगाने में हम सैद्धांतिक अर्थशास्त्र की सहायता लेते हैं। यदि अर्थशास्त्र के सिद्धांत भिन्न-भिन्न हैं तो हम जिन परिणामों पर पहुँचते हैं वह भी अवश्य भिन्न होंगे। इसलिये भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन बहुत कुछ हमारे सैद्धांतिक अर्थशास्त्र के ज्ञान पर निर्भर करता है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं भारत में विभिन्न आर्थिक समस्याओं के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन 'भारत का आर्थिक इतिहास' कहा जाता है। आर्थिक इतिहास में घटनायें क्रमानुसार लिखी जाती हैं। भारतीय अर्थशास्त्र की अनेक पाठ्य पुस्तकों में "भारत का आर्थिक इतिहास" और "भारतीय अर्थशास्त्र" को साथ-साथ दिया गया है और पाठक को इन दोनों अंगों का साथ-साथ अध्ययन करना पड़ता है। इससे पाठक के लिये आवश्यक और सम्बन्धित समस्याओं को समझना और वर्तमान समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करना कठिन हो जाता है। यह बात निस्सन्देह सही है कि भारत के आर्थिक इतिहास के अध्ययन के आधार पर ही वर्तमान आर्थिक समस्याओं का सही अध्ययन किया जा सकता है, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि यदि हम भारत के आर्थिक इतिहास और भारतीय

अर्थशास्त्र को एक मे मिला दे तो वर्तमान आर्थिक समस्याएँ, जिन पर पाठक को ध्यान देना आवश्यक है, भारत के आर्थिक इतिहास के विस्तृत विवेचन में लुप्त हो जाती हैं। इसलिये इस पुस्तक मे यह प्रयत्न किया गया है कि भारतीय अर्थशास्त्र की समस्याएँ आर्थिक इतिहास के विस्तृत वर्णन मे खो न जायें। जहाँ आवश्यक प्रतीत हुआ है वहाँ तुलनात्मक अध्ययन के लिये आर्थिक इतिहास का कुछ विस्तृत वर्णन किया गया है। परन्तु विशेष जोर भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याओं के विवरणात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन पर दिया गया है।

अन्य परिभाषायें—पूर्व लिखित परिभाषा के अनुसार भारतीय अर्थशास्त्र भारत को वर्तमान आर्थिक समस्याओं का अध्ययन है। परन्तु भारतीय अर्थशास्त्र की इसके अतिरिक्त तीन और परिभाषायें दी गयी हैं :—

(१) भारत की आर्थिक विचारधारा के विकास के अध्ययन को भारतीय अर्थशास्त्र कहा गया है। प्राचीन भारत मे सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के सम्बन्ध मे बहुत कुछ लिखा गया था। भारतीय आर्थिक विचारधारा पश्चिमी आर्थिक विचारधारा के साथ-साथ विकास नही कर सकी है। आधुनिक युग मे अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के क्षेत्र में भारत ने अवश्य कुछ योगदान किया है। यदि इस पर विचार न किया जाय तो भारतीय आर्थिक विचारधारा पूर्णतया प्राचीन भारत की देन है। यदि यह मान भी लिया जाय कि भारतीय आर्थिक विचारधारा आधुनिक सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के साथ विकास कर सकी है तब भी हम उसे भारतीय अर्थशास्त्र का नाम नही दे सकते हैं क्योकि भारतीय अर्थशास्त्र व्यवहारिक अर्थशास्त्र का एक अग है जब कि आर्थिक विचारधारा का इतिहास, चाहे वह भारतीय हो या यूरोपीय, 'सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र' के अन्तर्गत आता है।

(२) यह कहा गया है कि भारत की सामाजिक और धार्मिक स्थिति एक विशेष प्रकार की है, उसकी गठन और उसमें निहित विचारधारा अन्य देशों से भिन्न है इसलिये भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल हमे बिल्कुल ही नये प्रकार के आर्थिक सिद्धान्तों का सृजन करना चाहिए और उसे 'भारतीय अर्थशास्त्र' कहना चाहिए। न्यायाधीश रानाडे ने इस बात पर जोर दिया कि भारत की स्थिति पश्चिमी देशों से नितान्त भिन्न है, प्रतियोगिता (Competition) से कहीं अधिक प्रभावशाली यहाँ के रीति-रिवाज और राज्य के नियम हैं, साथ ही किसी समझौते की अपेक्षा समाज में सम्मान अधिक प्रभाव रखता है। यहाँ न पूँजी गतिशील है और न श्रम और न इनमे इतना उत्साह (enterprising) और बुद्धि ही है कि गतिशील बनें। मजदूरी और लाभ भी निश्चित है, जनसख्या

अपने नियम के अनुसार बढ़ती जाती है परन्तु बीमारियाँ और अकाल से उसमें कमी भी होती रहती है, उत्पादन की मात्रा प्राय: स्थिर है, यदि एक वर्ष फसल अच्छी हो गयी तो वह अगले वर्ष के अनिश्चित मौसम से होने वाली हानि की पूर्ति का साधन बन जाती है। इसके आधार पर न्यायाधीश रानाडे इस परिणाम पर पहुँचे कि आधुनिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में जिन बातों को निश्चित आधार मान लिया गया है वह भारत में लागू ही नहीं होतीं बल्कि वह वास्तव में गलत दिशा की ओर ले जाती हैं। इससे कुछ लोग इस परिणाम पर पहुँचे कि भारत की आर्थिक स्थिति को समझने के लिये नये आर्थिक सिद्धान्तों की आवश्यकता है। वास्तव में स्थिति ऐसी नहीं है। कोई भी आर्थिक सिद्धान्त, चाहे वह पश्चिमी देशों में विकसित हुआ हो या पूर्वी देशों में, व्यापक रूप से सारे विश्व पर लागू होता है। आर्थिक सिद्धान्त मनुष्य के स्वभाव पर आधारित होता है और मनुष्य का स्वभाव सर्वत्र समान होता है। यदि आर्थिक सिद्धान्त का उचित निरूपण किया गया है तो वह सर्वत्र लागू होगा। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि आर्थिक सिद्धान्त स्थिर सिद्धान्त नहीं होता और न वह अपरिवर्तनशील ही होता है। यदि आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हुआ तो आर्थिक सिद्धान्त में भी परिवर्तन होगा। इंगलैंड में प्राचीन सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र का जो विकास हुआ वह इंगलैंड की उस समय की आर्थिक स्थितियों पर आधारित था। वह यदृभाव्य नीति (Laissez faire) और स्वतन्त्र व्यापार (Free trade) के सिद्धान्तों पर आधारित था। परन्तु बाद में जब विशेष रूप से यूरोपीय देशों में यह पता चला कि स्वतन्त्र व्यापार आर्थिक परिस्थिति के प्रतिकूल है तो फ्रेड्रिक लिस्ट तथा अन्य अर्थशास्त्रियों की आलोचना के आधार पर स्वतन्त्र व्यापार के सिद्धान्त में आवश्यक संशोधन किया गया और कम विकसित देशों के संरक्षण के लिये तटकरों (Tariffs) तथा अन्य उपायों का महत्व स्वीकार किया गया। सोवियत संघ की परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ समाजवाद और आर्थिक नियोजन के सिद्धान्तों में भी परिवर्तन होता गया। इधर कुछ वर्षों से पूर्व तथा दक्षिण पूर्वी एशिया के आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्रों की आर्थिक समस्याओं के कारण आर्थिक सिद्धान्तों में परिवर्तन-परिवर्द्धन हो रहा है। भारत में आध्यात्मिक विचारधारा से प्रभावित 'आवश्यकता' का एक बिल्कुल नया सिद्धान्त विकसित हो रहा है जिसे 'आवश्यकता रहित होने का सिद्धान्त' (Theory of wantlessness) कहा जाता है। यह पश्चिम के आवश्यकता के सिद्धान्तों से नितान्त भिन्न है। यह संभव है कि विभिन्न देशों की बदलती परिस्थितियों से प्रभावित होकर, जिनमें भारत भी सम्मिलित है, भविष्य में अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में और भी संशोधन हो। परन्तु

जातिवाद, सयुक्त-परिवार की प्रथा, श्रम और पूंजी में गतिशीलता का अभाव, इत्यादि इस बात को सिद्ध नही करते कि इस देश के लिये नये प्रकार के आर्थिक सिद्धान्तों की आवश्यकता है। मॉग और पूर्ति का सिद्धान्त जितना भारत में लागू होता है उतना ही अन्य देशों में भी लागू होता है। इसलिये हमारी भारत की भिन्न परिस्थितियों के कारण नये प्रकार के आर्थिक सिद्धान्तों का विकास करने की मॉंग उचित नहीं है, साथ ही इन विशेष सिद्धान्तों और नियमो को जो केवल भारत में लागू होंगे 'भारतीय अर्थशास्त्र' का नाम देना न्यायसगत नहीं है।

(३) यह भी कहा गया है कि यदि उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण के आर्थिक सिद्धान्तों का विवेचन भारतीय उदाहरणों के साथ किया गया हो तो उसे भारतीय अर्थशास्त्र कहा जाना चाहिये। किसी भी सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझाने के लिये निश्चय ही कुछ उदाहरणों का प्रयोग किया जाता है परन्तु इससे ही वह 'भारतीय अर्थशास्त्र' नहीं हो जाता। यदि कोई पाठ्य पुस्तक अंग्रेज विद्यार्थियों के लिये लिखी जाय तो यह स्वाभाविक ही है कि उसमें अंग्रेजी या इंगलैंड के उदाहरण दिये जायेंगे। इसी प्रकार यदि कोई पाठ्य पुस्तक भारतीय विद्यार्थियों के लिये लिखी जाय तो उसमें भारत के उदाहरण दिये जायेंगे। परन्तु इतने से ही वह 'अंग्रेजी अर्थशास्त्र', या 'भारतीय अर्थशास्त्र' नहीं बन जाते। इन परिस्थितियो में वह केवल सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र रहता है चाहे उसमें किसी भी देश के उदाहरण दिये गये हों।

इससे स्पष्ट है कि भारतीय अर्थशास्त्र भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याओं का ठीक वैसा ही अध्ययन है जैसा अन्य देशो में किया जाता है। वर्तमान आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिये अन्य देशों की भाँति ही भारत मे भी हम देश की समस्याओं पर उन आर्थिक सिद्धान्तों को लागू करते हैं जो सर्वत्र सत्य सिद्ध हो चुके हैं या उन्हें सभी स्वीकार करते हैं। इसलिये अर्थशास्त्र के आथिक सिद्धान्तो को भारत की आर्थिक स्थिति पर लागू कर हम जिन परिणामों पर पहुँचते हैं तथा जिन प्रवृत्तियों का पता लगाते हैं उनको 'भारतीय अर्थशास्त्र' कहते हैं तो यह नितान्त न्यायसगत है।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

(१) यदि हम अपनी आर्थिक परिस्थितियो को सही सही समझना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करे। इसके अध्ययन से हम यह जान सकते हैं कि हम प्रगति कर रहे हैं या नहीं, यदि कर रहे हैं तो किस सीमा तक और यदि प्रगति नहीं कर रहे हैं तो इसके कारण क्या हैं।

(२) भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से हम अपने देश की अन्य देशों के साथ तुलना कर सकते हैं और इस प्रकार की तुलना से यह जान सकते हैं कि हम किस प्रकार तथा किस दिशा में सक्रिय होकर अपनी कमियों को दूर कर सकते हैं और आर्थिक उन्नति के अभीष्ट स्तर को प्राप्त कर सकते हैं। (३) भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करके ही हम भविष्य के लिये अपनी नीति निर्धारित कर सकते हैं। पञ्च-वर्षीय योजना तैयार करने में और योजनाओं को प्रमुखता देने में योजना आयोग को भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन पर ही अपने निर्णयों को आधारित करना पड़ा। भारत के आर्थिक निर्माण में जो त्रुटियाँ रह गयी हैं तथा आयोग ने आर्थिक प्रगति की वाछित गति से उन्हें दूर कर देने के सुझाव भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन के आधार पर ही दिये हैं।

अध्याय २

प्राकृतिक साधन

भौगोलिक स्थिति

किसी देश के निवासियो की आर्थिक स्थिति तथा उनके व्यवसायो पर उस देश की भौगोलिक स्थिति, भूमि की उपजाऊ शक्ति, वर्षा, जलवायु और उसकी वनस्पति तथा उसके वन्य एवम् पालतू पशुओं का विशेष प्रभाव पड़ता है। इसलिये भारत की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन करना आवश्यक है।

भौतिक विशेषताऍ—भारतीय सघ का क्षेत्रफल १२६६६४० वर्ग मील है। उत्तर से दक्षिण तक इस देश की लम्बाई २००० मील और पूर्व से पश्चिम तक १७०० मील है। इसकी भौतिक सीमा ८२०० मील और सामुद्रिक सीमा ३५०० मील है। कर्क रेखा इसको बीचों-बीच से दो भागों में बॉटती है। उत्तरी भाग शीतोष्ण कटिबन्ध में और दक्षिणी उष्ण कटिबध में स्थित है। जम्मू और काश्मीर तथा अक्टूबर १९५३ मे निर्मित आँध्र राज्य सहित भारत सघ में राज्यों के पुनर्सङ्गठन के पूर्व २९ राज्य थे। १ नवम्बर १९५६ में राज्यों का पुनर्संगठन होने के पश्चात् अब भारत सघ में १४ राज्य यथा आँध्र प्रदेश, आसाम, बिहार, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, बम्बई, मैसूर, उड़ीसा, पजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बङ्गाल, जम्मू और काश्मीर, तथा केन्द्रीय प्रशासन के दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, मनीपुर, त्रिपुरा, अण्डमन-निकोबार द्वीप समूह और लेकडिव, मिनिकाय, अमिन्दिवी द्वीप समूह नामक ६ प्रदेश हैं।

भारत उत्तर में हिमालय, उत्तर-पश्चिम में पाकिस्तान, उत्तर-पूर्व में पर्वत-श्रेणियो, दक्षिण में बगाल की खाडी और हिन्द महासागर और पश्चिम में अरब सागर द्वारा घिरा हुआ है। भारत को चार विभिन्न भौगोलिक भागों में बॉटा जा सकता है (१) हिमालय, (२) गङ्गा का मैदान, (३) दक्षिणी पठार, (४) तटवर्ती प्रदेश। हिमालय की श्रेणियाँ १५०० मील की लम्बाई में और १५० मील से लगा कर २५० मील तक की चौड़ाई में फैली हुई हैं। हिमालय उत्तर की बर्फीली वायु से तथा उत्तरीय विदेशियों के आक्रमण से भारत की सदा से रक्षा करता आया है। इसके कारण उत्तरीय सीमा के मार्गों से व्यापार में भी बाधा पहुँची है। मानसून को रोक कर भारत के उत्तरीय भाग की प्रचुर वर्षा का साधन हिमालय ही रहा है। भारत की अनेकों नदियों का उद्गम इसी भाग से हुआ है। यहाँ बहु-

मूल्य वन पाये जाते हैं जिनका पूर्ण प्रयोग होना अभी बाकी है। इसका अधिकाश भाग काश्मीर और जम्मू की घाटियों तथा पूर्वीय चाय के क्षेत्रों को छोड़कर खेती के अयोग्य है।

गङ्गा का मैदान पूर्व से पश्चिम की ओर लगभग १५०० मील लम्बा और उत्तर से दक्षिण की ओर १५० से लगाकर २५० मील तक चौड़ा है। यहाँ अनेकों नदियाँ अपनी सहायक नदियों के साथ बहती हैं। यहाँ की भूमि बहुत उपजाऊ है और इसीलिए यहाँ की जनसंख्या का घनत्व भी सबसे अधिक है। देश के बहुत बड़े-बड़े नगर इसी भाग में स्थित है।

पठारी भाग जो विन्ध्याचल पर्वत श्रेणी के दक्षिण में स्थित है, दो भागों में बाँटा जा सकता है। (अ) मध्य भारतीय पठार और (ब) दक्षिणी पठार।

पठारी भाग गङ्गा के मैदान के विपरीत अनेकों पर्वत श्रेणियों से भरा हुआ है। इनकी ऊँचाई १५०० से ४४०० फीट तक है। इस भाग के दोनों ओर पूर्वीय और पश्चिमीय घाट की पर्वत श्रेणियाँ हैं। पठार स्वयं पथरीला और ऊँचा-नीचा है। इसका विस्तार पूरे दक्षिण की पहाड़ियों तक है जो कहीं-कहीं पर ४००० फीट ऊँची हैं जैसे नील घाटी और कार्डमाम की पहाड़ियाँ। इस पठार से होकर नर्मदा और ताप्ती नदियाँ बहतीं हैं जो अरब सागर में गिरती हैं और महानदी, कृष्णा तथा कावेरी जो बगाल की खाड़ी में गिरती हैं। वनों की इस प्रदेश में कमी है पर खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। समुद्री तट कटे हुए नहीं हैं। इसलिये स्वाभाविक बन्दरगाह केवल विजगापट्टम, कोचीन और कालीकट हैं। पूर्वी और पश्चिमी तटों की भूमि उपजाऊ है। वहाँ पर्याप्त वर्षा होती है तथा चावल चाय और कहवा पैदा होता है।

जलवायु और वर्षा—भारत की जलवायु मानसूनी तथा उष्ण प्रदेशीय है। यहाँ की तीन प्रमुख ऋतुयें निम्न हैं (१) मार्च के आरम्भ से जून के अन्त तक गर्मी की ऋतु, (२) जून के अंत से सितम्बर के अंत तक वर्षा ऋतु और (३) अक्टूबर से फरवरी के अंत तक शीत ऋतु। अप्रैल और मई के महीनों में सूर्य की किरणें सीधी लम्बवत पड़ती हैं और ये महीने देश में सब से अधिक गर्म होते हैं। उत्तरी-पूर्वी भारत में मई के महीने का औसत तापक्रम १००° फैरनहाइट होता है और गंगा के डेल्टा में लगभग ८५° फे०। किन्हीं स्थानों पर तापक्रम ११७° ११८° फे० भी हो जाता है। जून के मध्य में मानसूनी हवायें चलने लगती हैं और बिजली की चमक के साथ मूसलाधार वर्षा होती है। अधिकाश वर्षा दक्षिणी-पश्चिमी मानसून के कारण होती है। उत्तरी-पूर्वीय मानसून ट्रावनकोर कोचीन तथा मद्रास के कुछ भागों में वर्षा का कारण होती है। शीतकाल में

जनवरी के महीने मे उत्तर से दक्षिण के भागों में तापक्रम बदलता रहता है। दिन गरम और रातें ठंडी होती हैं।

वर्षा के दृष्टिकोण से देश को चार मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है। (१) अत्यधिक वर्षा वाला भाग जहाँ ८०" के लगभग वर्षा होती है जैसे आसाम, बंगाल, उत्तरी बिहार, प्रायद्वीप का पश्चिमी तट और कुछ पूर्वीय तट के भाग, (२) साधारण वर्षा वाले भाग जहाँ ४०" से लगाकर ८०" तक वर्षा होती है जैसे उड़ीसा, दक्षिणी बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और पश्चिमी घाट की पहाड़ियाँ; (३) बहुत कम वर्षा वाले भाग जहाँ २०" से ४०" तक वर्षा होती है जैसे मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, गुजरात, राजस्थान और पूर्वीय पंजाब और (४) सूखे रेगिस्तानी भाग जहाँ २०" से भी कम वर्षा होती है जैसे राजपूताना का रेगिस्तान, पश्चिमी काश्मीर और पंजाब के भाग। भारतवर्ष मे वर्षा की मुख्य विशेषता उसकी अनिश्चितता है। यह ठीक ही कहा गया है कि भारतीय कृषि 'वर्षा का जुआ' है। यदि वर्षा समय से पर्याप्त हो गई तब तो फसल अच्छी होगी, किसान प्रसन्न होंगे और अन्न पर्याप्त होगा। पर यदि वर्षा देर से हुई और अनियमित रूप से हुई, कहीं अत्यधिक और कहीं अतिन्यून, तो सूखा पड़ेगा बाढ़ आयेगी और लोगों की कठिनाइयों की सीमा न रहेगी।

भूमि—भारत की भूमि को निम्न भागों मे बांटा गया है (i) कॉप मिट्टी (ii) काली मिट्टी (iii) लाल मिट्टी जिसमे लाल चिकनी और पीली मिट्टी मिली होती है (iv) लेटेराइट मिट्टी (v) रेतीली मिट्टी (vi) लवणयुक्त और क्षारिल मिट्टी और (vii) जीण मिट्टी। इनमे से प्रथम चार तो मुख्य हैं और दूसरी चार गौण जो कि कहीं-कहीं पाई जाती हैं। "प्रथम तीन प्रकार की मिट्टियों में पोटाश और चूना पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है पर उनमें फास्फोरिक एसिड, नाइट्रोजन और ह्यूमस बहुत कम हैं। लेटेराइट मिट्टी में ह्यूमस की मात्रा पर्याप्त है पर अन्य रासायनिक गुण कम हैं। कॉप मिट्टी सबसे अधिक उपजाऊ और बड़ी आसानी से काम में लाई जाने योग्य है। यह मिट्टी सम्पूर्ण सिंध, गंगा के मैदान मे तथा पूर्वी और पश्चिमी तट प्रदेश मे पाई जाती है। काली मिट्टी जिसमें नमी को रोक रखने की शक्ति अपार होती है और जो बहुत चिपचिपी होती है दक्षिणी पठार के पश्चिमी भाग में पाई जाती है और लाल मिट्टी इसी भाग के पूर्वी हिस्से में पाई जाती है। लेटेराइट मिट्टी मध्यभारत, आसाम, पूर्वी-पश्चिमी घाट के किनारे पाई जाती है"।

जल और विद्युत के साधन—चूंकि भारत में अनेक नदियाँ और झरने हैं इसलिये यहाँ पानी और विद्युत के साधनों की कमी नहीं है परन्तु खेद है कि इन साधनों का अभी तक उचित रीति से उपयोग नहीं किया जा सका है।

प्रति वर्ष भारत की नदियों मे लगभग एक अरब ३५ करोड़ ६० लाख एकड़ फुट पानी बह जाता है परन्तु इसमें से केवल ७ करोड़ ६० लाख एकड़ फुट या कुल का केवल ५.६ प्रतिशत सिंचाई के काम मे लाया जाता है। अनुमान लगाया गया है कि ४५ करोड़ एकड़ फुट पानी सिंचाई के काम में लाया जा सकता है। संभव है प्रथम पंचवर्षीय योजना की नई योजनाओं को कार्यान्वित कर देने से अधिक पानी का उपयोग किया जा सके और तब बिजली का भी अधिक मात्रा में उत्पादन किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त सिंचाई की कुछ छोटी योजनायें भी है जिनसे तालाबों, कुओं और नहरों का पानी भी सिंचाई के काम में लाया जा सकेगा। वर्तमान समय मे ५ करोड़ ८५ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है, जिसमे से २ करोड़ १० लाख एकड़ भूमि नहरों द्वारा सींची जाती है, १ करोड़ ५० लाख से कुछ कम एकड़ भूमि कुओं द्वारा सींची जाती है, ६० लाख एकड़ से कुछ कम भूमि कुओं द्वारा सींची जाती है और लगभग ७० लाख एकड़ अन्य साधनों के द्वारा। कृषि की सबसे बड़ी समस्या सिंचाई के लिये उपलब्ध जल की मात्रा बढ़ाना है। भूमि की उत्पादन शक्ति, खाद्यान्न, दालें, तथा कृषि के अन्य माल की कुल मात्रा, जिनका उत्पादन किसान कर सकता है, बहुत कुछ सिंचाई की सुविधा पर निर्भर करता है। जब तक किसान के पास अपनी खेती में सिंचाई करने के पर्याप्त साधन नहीं है तब तक चाहे वह कितना ही कुशल और साहसी क्यों न हों, अपना उत्पादन नहीं बढ़ा सकता है।

भारत मे शक्ति के मुख्य साधन तेल, कोयला और पानी हैं। भारत में पेट्रोलियम की कमी अवश्य है पर कोयले की खाने बहुत हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि खानों में कुल कोयला लगभग २० अरब टन होगा। इसका एक चौथाई कोयला बहुत अच्छा कोयला है और उसका प्रयोग धातुओं के संबंध में सीमित रहना चाहिये। निम्नकोटि के कोयले का प्रयोग शक्ति उत्पादन के लिये किया जा सकता है। परन्तु भारतीय उद्योगों और कृषि के लिये विद्युत शक्ति का समुचित प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। १९२५ तक विद्युज्जनन और विकास की गति बड़ी धीमी रही है। इस वर्ष तक केवल १६२२४१ किलोवाट विद्युत शक्ति पैदा की गई थी। १९३५ में यह शक्ति पचगुनी बढ़ गई और ९००४०२ किलोवेट हो गई। प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में २३ लाख किलोवाट विद्युत शक्ति के उत्पादन का प्रबन्ध था। नई योजनाओं के फलस्वरूप यह बढ़ कर ३४ लाख किलोवाट हो गयी। इससे यह सिद्ध होता है कि देश को अधिक विद्युत शक्ति प्रदान करने वाली योजनायें सफल रही हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ३५ लाख किलोवाट शक्ति के बढ़ाने का विचार किया है। जब सब दीर्घकालीन

योजनायें तीन या चार पचवर्षीय योजनाओं के अन्त तक पूर्ण हो जायेंगी तब विद्युत शक्ति लगभग ७० लाख किलोवाट बढ जायगी। हमारे देश में समस्या केवल अधिक विद्युत शक्ति के उत्पादन की ही नहीं है वरन् यह भी है कि विद्युत शक्ति पर्याप्त मात्रा मे इतने सस्ते मूल्य पर लोगों को प्राप्त हो सके कि किसान, फैक्ट्री वाले और अन्य साधारण कारीगर उसका आसानी से प्रयोग कर सकें।

वनस्पति और जानवर

विशाल क्षेत्रफल, विभिन्न भौगोलिक स्थितियों, विभिन्न जलवायु इत्यादि के कारण भारत मे वे सब प्रकार के वन, फलों के बाग, और खेती की उपज जो प्रायः उष्ण, शीत और समशीतोष्ण जलवायु वाले भू-क्षेत्रों में पाये जाते हैं प्राप्त हैं। देश मे पालतू तथा वन्य पशु भी अनेक प्रकार के मिलते हैं।

वन—भारत में वनों का क्षेत्रफल लगभग १४ करोड़ ७७ लाख एकड़ है, जिसमें से ४ करोड़ ३५ लाख एकड़ जगल दक्षिणी भाग में, ३ करोड़ ६७ लाख एकड़ मध्यम भाग में, ३ करोड़ ६४ लाख एकड़ पूर्वी भाग में और ७ करोड़ ६८ लाख ७० हजार एकड़ उत्तरी-पश्चिमी भागों में स्थित हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय और अनेक राज्यों मे जमींदारी उन्मूलन के पूर्व बहुत बड़ी सख्या में वृक्ष काटे गए, जिसके परिणामस्वरूप देश के वन-प्रदेश का क्षेत्रफल बहुत कम हो गया है। वनों से देश को बहुत अधिक लाभ होते हैं। उनमे ईंधन और इमारती लकड़ी तो प्राप्त होती ही है, इसके अतिरिक्त (१) वे औद्योगिक उपयोग के लिए बाँस, सवाई व अन्य घासें, लाख, गोंद इत्यादि भी प्रदान करते हैं, (२) वे भूमि-क्षरण (Soil erosion) रोकते हैं, भूमि की उर्वरता को सुरक्षित रखते हैं, और (३) पशुओं के लिए चरागाह भी प्रदान करते हैं।

वन राष्ट्रीय आय के अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन हैं। उनसे उद्योगों के लिए अनेक कच्चे माल प्राप्त होते हैं। भारत के वनों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण समस्याएँ यह हैं कि : (१) वनों के क्षेत्रफल म वृद्धि की जाय, (२) देश मे जितने प्रकार के वृक्ष पाए जाते हैं उनका सरक्षण किया जाय और (३) यथासभव नई जाति के वृक्ष भी उगाने प्रारम्भ हों। भारत सरकार ने वन नीति से सम्बन्धित मई १६५२ के प्रस्ताव मे भारतीय वनों की सुरक्षा और उनके विकास की आवश्यकता पर ध्यान दिया। उस प्रस्ताव मे यह लक्ष्य रखा गया कि देश की कुछ भूमि का एक-तिहाई भाग वनों के रूप में रहे। हिमालय-प्रदेश, दक्षिण और अन्य पर्वतीय क्षेत्रों पर वनों के अन्तर्गत कुल भूमि का ८०% रहेगा, जब कि समतल क्षेत्रो मे कुल भूमि २०% पर जगल उगाए जायेंगे। प्रथम पंचवर्षीय योजना में वनों की विकास-

सम्बन्धी नीति के अन्तर्गत यह व्यवस्था रखी गई थी कि (अ) युद्ध के समय में जो भाग बिल्कुल उजड़ गए थे, उनका नवकरण (renovation) हो, (ब) जहाँ अधिक मात्रा में भूमि-क्षरण हुआ था, वहाँ जगल लगाए जायँ, (स) वनों में आवागमन के साधनों का विकास किया जाय, (द) ईंधन के अभाव को दूर करने के लिए गाँवों में अधिक बाग लगाए जायँ, और (य) कई प्रकार की ऐसी लकड़ी, जो अब तक इमारती लकड़ी के रूप में काम में नहीं आ रही थी, उसे ठीक ढग से सिफाने और मसाला लगाकर मजबूत बनाने के बाद अधिकाधिक प्रयोग मे लाया जाय। राज्य सरकारों की वन-सम्बन्धी नीति न तो मई १९५२ के वन-नीति से सम्बन्धित प्रस्ताव के बिल्कुल अनुकूल है और न वनों को केन्द्रीय समिति (Central Board of Forests) के अनुरूप है। इस वन केन्द्रीय समिति की बैठक जून १९५३ को देहरादून में हुई थी जिसने कई प्रस्ताव पास किए और जिनका उद्देश्य यह था कि राज्य सरकारें भारत-सरकार की वन-नीति को क्रियात्मक रूप दें। १९५० में भारत-सरकार ने 'वन महोत्सव आन्दोलन' प्रारभ किया, जिसका उद्देश्य यह है कि भारत से जगलों का अभाव दूर किया जाय। किंतु अभाग्यवश इस कार्य-क्रम के अतर्गत लगाए गए अधिकाश वृक्ष पानी न मिलने और लापरवाही के कारण सूख गए। अधिक वृक्ष लगवाना और जब तक वे काफी बड़े न हो जायँ इनकी देखभाल करते रहना तो आवश्यक है ही, किंतु उसके साथ-साथ यह भी आश्यक है कि ईंधन अथवा अन्य किसी उपयोग के लिए खड़े वृक्ष न कटवाए जायँ।

मछली-उद्योग—"भारत के लम्बे समुद्र-तट पर असख्य मुहाने, नमकीन पानी वाली झीलें और स्थिर जलाशय हैं, जिनमे काफी मछलियाँ प्राप्त होती हैं। नमकीन पानी वाला क्षेत्र लगभग १० करोड़ ९० लाख एकड़ है, जिसमें चिल्का झील भी शामिल है। यह चिल्का झील २,५६,००० एकड़ के विस्तार में फैली हुई है और इससे प्रतिवर्ष ३,००० टन मछली प्राप्त होती है। मछली-उद्योग से भारत की राष्ट्रीय-आय में प्रतिवर्ष १० करोड़ रुपये आते हैं। यह मछली-उद्योग मुख्यत दो प्रकार का है (१) देश के अदर का मछली उद्योग (inland fisheries), (२) समुद्री मछली-उद्योग (marine fisheries)। मछली पकड़ने के आँकड़े भारत में विश्वस्त रूप से प्राप्त नहीं हैं। भारत में प्रतिवर्ष समुद्री मछलियों का उत्पादन लगभग १०० लाख मन है और ताजे पानी की मछलियो का उत्पादन ५० लाख मन से कुछ कम होता है। आयात द्वारा प्राप्त मछलियों को मिलाकर भारत में प्रतिवर्ष २७० लाख मन की कुल पूर्ति होती है, जिसमें से ७०% मुहाने और समुद्र की मछलियाँ और शेष ३०% ताजे पानी की मछलियाँ होती हैं।

इसका अर्थ यह है कि प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति को ३४ पौंड मछली मिलती है, जो निश्चित रूप से अपर्याप्त है। उत्तरप्रदेश और पंजाब की अपेक्षाकृत ट्रावनकोर कोचीन, पश्चिमी बंगाल और बम्बई में प्रति व्यक्ति मछली का उपयोग अधिक है।" यह अनुमान किया जाता है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में मछलियों की कुल उत्पत्ति लगभग १० लाख मीट्रिक टन थी जिसका २०% घरेलू उपयोग के लिये थी और बाकी समुद्री मछली अथवा बेचने के लिये देश के अंदर से प्राप्त मछलियाँ थीं। प्रथम योजना के फलस्वरूप ऐसा अनुमान किया जाता है कि मछलियों की उत्पत्ति १०% बढ़ जायगी। १९५५—५६ में मछलियों की उत्पत्ति ११ लाख लाख मिट्रिक टन से कुछ अधिक थी। दूसरी पंचवर्षीय योजना में मछलियों का उत्पादन लगभग ३३% बढ़ जायगा अर्थात् १४ लाख मीट्रिक टन हो जायगा। वर्तमान समय में प्रति व्यक्ति मछलियों का वार्षिक उपभोग ४ पौण्ड से कम ही है। जनता का भोजन संतुलित करने के लिये यह आवश्यक है कि मछलियों का उपभोग बढ़ाया जाय।

समुद्री मछलियों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए मछली पकड़ने में वैज्ञानिक यन्त्रों के प्रयाग करने की आवश्यकता है, क्योंकि अभी तक एक सीमित क्षेत्र में ही मछलियों का शिकार किया जाता है। जहाँ तक देश के अंदर मछली पकड़ने का सम्बन्ध है, इस बात की आवश्यकता है कि मछलियों का पोषण करने और उनके शिकार करने का कार्य वैज्ञानिक रीति से किया। "भारत के वर्तमान जलाशयों में प्रमुख रूप से तालाब और झीलें आती हैं। कार्प (Carp) मछलियाँ बहुधा भारतीय समुद्रों में पोषित होती हैं। चूँकि यह बँधे हुये पानी में अंडे नहीं देतीं, इसीलिये उन्हें प्रतिवर्ष पोषित करने की आवश्कता होती है। यदि बँधे हुए पानी में कार्प मछली के कृत्रिम अण्डोत्पादन (artificial spawning) को विकसित किया जाय, तो मछली-उद्योग का भी विकास होगा। मछलियाँ या तो ताजी खाई जाती हैं या उन्हें भविष्य में खाने के लिए धूप में सुखा लिया जाता है या नमक में जमा लेते हैं। शेष ऐसी मछलियाँ जो खाने के योग्य नहीं रह जाती हैं उनकी खाद बना लेते हैं। मछली-उद्योग के द्वारा हमें मछलियाँ तो प्राप्त होती हैं, इसके अतिरिक्त सार्डीन (Sardines), शार्क लिवर तेल (shark liver oil) जैसी अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ भी प्राप्त होती हैं।

कृषि उत्पादन—भारतवर्ष में उष्ण कटिबन्ध, अर्ध उष्ण कटिबन्ध और समशीतोष्ण कटिबन्ध में उत्पन्न होने वाली विविध प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं। इन फसलों में खाद्यान्न और व्यवसायिक दोनों ही प्रकार की फसलें सम्मिलित हैं, किन्तु प्रमुख रूप से खाद्यान्न ही अधिक उगाए जाते हैं। उक्त कथन इसी बात

से स्पष्ट हो जाता है कि खेती की जाने वाली कुल भूमि के ८५% भाग पर खाद्यान्न का ही उत्पादन किया जाता है।

हमारे यहाँ रबी और खरीफ दो मुख्य फसलें[1] होती हैं। खरीफ फसलों के अन्तर्गत मुख्यतः चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का, कपास, गन्ना और मूँगफली बोई जाती है और रबी फसलों में गेहूँ, जौ, चना, मटर, अलसी और मरसों आदि की खेती की जाती है। "चावल की खेती गंगा की घाटी, पंजाब के पहाड़ी जिलों, उत्तर-प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, आसाम, पश्चिमी घाट और उड़ीसा व मद्रास के समुद्रतटीय भागों में होती है। पंजाब, पेप्सू, उत्तर-प्रदेश व मध्य प्रदेश के अधिकांश भाग पर गेहूँ की खेती की जाती है। गन्ना गंगा के मैदान, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, हैदराबाद और पंजाब में उगाया जाता है। मूँगफली, अलसी, अंडी, तिल्ली, तिलहन आदि मद्रास के उत्तरी भागों में और कपास दक्षिण प्लेटो के उत्तरी-दक्षिणी भागों व पंजाब में उगाई जाती है। चाय की खेती विशेष कर दार्जिलिंग, आसाम और नीलगिरि की पहाड़ियों पर होती है। जूट प्रमुख रूप से बंगाल में पैदा होता है। कहवा, चाय, रबड़, काली मिर्च और इलायची के पेड़ अन्नामलाई और कार्डमम (cardamom) की पहाड़ियों पर पाए जाते हैं। मालाबार तट पर उगे नारियल के घने-घने वृक्षों से गरी के गोले और रस्सियाँ बनाने के लिए जटाएँ प्राप्त होती हैं। इन्हीं क्षेत्रों से देश भर के लिए काजू की माँग पूरी की जाती है।"

१९५१ की गणना के अनुसार इस देश का भौगोलिक क्षेत्रफल लगभग ८१ करोड़ २५ लाख एकड़ है, किंतु इसमें से केवल ६२ करोड़ ३५ लाख एकड़ भूमि ही गाँव के पुराने लेखों (record) में दर्ज मिलती है। इस क्षेत्रफल में से लगभग २६ करोड़ ८५ लाख एकड़ भूमि पर खेती की जाती है। यदि हम इस क्षेत्रफल में उन क्षेत्रों के भी अनुमानित आँकड़े जोड़ लें जहाँ से कोई सूचना प्राप्त नहीं होती तो खेती की जाने वाली कुल भूमि लगभग ३४ करोड़ एकड़ हो

---

१ जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ हैं वहाँ खरीफ फसल जून में, नहीं तो फिर बरसात शुरू हो जाने पर जुलाई में बोई जाती है और जाड़े में काटी जाती है। रबी फसल बरसात समाप्त हो जाने पर अक्तूबर-नवम्बर में बोई जाती है और अप्रैल मई में काटी जाती है। गन्ना जनवरी-फरवरी में बोया जाता है और अगले जाड़े में शक्कर के कारखाने में पिराई होने के समय तक तैयार हो जाता। यह पिराई नवम्बर-दिसम्बर से प्रारम्भ होता है। यद्यपि गन्ना रबी फसल समाप्त हो जाने पर बोया जाता है, फिर भी इसे खरीफ की फसलों के अन्तर्गत इसलिए शामिल किया जाता है कि इसकी कटाई खरीफ की फसलों के साथ ही होती है।

जायगी। १९५६-५७ मे कुल अन्न की उपज ५७३ लाख टन हुई थी, जिसमें से चावल की उपज २८१ लाख टन, गेहूँ ९१ लाख टन, ज्वार और बाजार १०३ लाख टन और अन्य अन्न ९८ लाख टन थी। इसके अतिरिक्त ११४ लाख टन दालें, चना आदि की उत्पत्ति हुई थी। इस प्रकार १९५६-५७ मे कुल अन्न की उपज ६८७ लाख टन हुई थी। इतना अन्न भारत की जनता को खिलाने के लिये पर्याप्त नहीं था और इसलिये विदेश के अन्न पर निर्भर रहना पडा। पर उचित व्यवस्था से खाद्यान्न के सम्बध में देश के आत्म निर्भर हो सकने की सम्भावना है। अन्न के अतिरिक्त खेती से अनेक प्रकार के कच्चे माल की भी उपज होती है। १९५६-५७ मे गन्ने की उपज ६५ लाख टन, जूट की ४२.५ लाख गाँठ, रूई ४७.५ लाख गाँठ और तिलहन ६० लाख टन हुई थी। देश मे जितना इन कच्चे मालों का उत्पादन होता है वह हमारी आवश्यकता के दृष्टिकोण से कम है। इसलिये इस कमी को पूरा करने के लिये काफी समय तक हमे आयात पर निर्भर रहना पडेगा।

पशु पालन—भारत में पशुओं की बहुत अधिकता है। इनकी सख्या संसार के पशुओं की सख्या (रूस के पशुओं को छोड़कर) का ⅙ है। १९५१ की पशु-गणना के अनुसार भारत मे कुल २९ करोड़ २२ लाख ५० हजार पशु हैं जिनमे से १५ करोड़ ५० लाख गाय-बैल, ४ करोड़ ३३⅓ लाख भैंस-भैंसे, ३ करोड़ ९० लाख भेड़ें, ४ करोड़ ७० लाख बकरे-बकरियाँ, ४५ लाख से कुछ कम सुअर, १५ लाख घोडे, १२ लाख ५० हजार गधे, ६,२९,००० ऊँट और ६०,००० खच्चर हैं। इसके अतिरिक्त ६ करोड़ ७१ लाख ३० हजार मुर्गे-मुर्गियाँ और ६२ लाख ६० हजार बतखें हैं। किन्तु भारत के पशुओं की नस्ल बहुत खराब है। यहाँ एक गाय औसत से प्रतिवर्ष ४१३ पौंड दूध देती है, जब कि दूसरे देशों की गाएँ प्रतिवर्ष २००० से ७००० पौंड तक दूध देती हैं। भारत में कुछ अच्छी नस्ल के भी पशु हैं, जैसे गुजरात की काँकरेज और सौराष्ट्र की गिरि गाएँ दूध देने और अच्छे बछड़े उत्पन्न करने के लिए ससार की सर्वोत्तम नस्लों में गिनी जाती हैं। किन्तु बेकार व निकम्मे पशुओं की सख्या अपेक्षाकृत बहुत अधिक है जो किसानो के लिए तनिक भी सहायक सिद्ध नहीं होते हैं और उनके लिए भार-स्वरूप बनकर रहते हैं। भारत में विविध प्रकार के जगली जीव और पक्षी भी पाये जाते हैं, किन्तु अभाग्यवश "हमारे यहाँ के शेर, गैंडा, चीता आदि प्रमुख जगली जीवों की नस्ल समाप्त हो रही है। भारतीय जीवों को सरक्षण देने, उनकी नस्ल को सुरक्षित रखने और उन्हें प्राकृतिक व मानवीय वातावरण में सन्तुलित रखने के लिए भारत-सरकार ने अप्रैल, १९५२ मे जगली जीवों के लिए एक

केन्द्रीय बोर्ड की स्थापना की"। पक्षियों व संरक्षण के लिए एक राष्ट्रीय समिति (National Committee for Bird Protection) भी बनाई गई है। यह आशा की जाती है कि इन संस्थाओं से भारतीय पक्षियों और जंगली जीवों का संरक्षण और विकास होगा।

खनिज-पदार्थ

किसी देश के औद्योगिक विकास के लिए उसकी खनिज सम्पत्ति का विशेष महत्व होता है। खनिज सम्पत्ति को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा गया है :—(१) अधातु खनिज (non-metallic minerals), (२) धातु खनिज (metallic minerals) और (३) ईंधन (fuels)। अधातु खनिज के अन्तर्गत अग्निमृत्तिका, सीलीमेनाइट, मेगनेसाइट, बालू, चूना और नमक आदि आते हैं। धातु खनिज के अन्तर्गत सोना, चाँदी, जस्ता, राँगा, टिन, ताँबा, आदि आते हैं और ईंधनों के अन्तर्गत कोयला तथा पेट्रोलियम आते हैं।

भारत में कोयले, कच्चे लोहे, मैंगनीज, बौक्साइट और अबरक जैसे खनिज पदार्थों की बहुतायत है, रिफ्रैक्टरीज (refractories), एब्रेसिव (abrasives), चूना और जिप्सम भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं और अबरक, टिटानियम और कच्चा थोरियम भी काफी बड़ी मात्रा में पाया जाता है। परन्तु दुर्भाग्य से ताँबा, टिन, सीसा, जस्ता, गिलट, कोबाल्ट, गन्धक और पेट्रोल जैसे महत्त्वपूर्ण खनिजों की बहुत कमी है और इनके अभाव को पूरा करने के लिए हमें अधिकतर आयात पर निर्भर करना पड़ता है।

"खानों की दृष्टि से सबसे अधिक महत्वशाली भाग छोटा नागपुर का पठार है, जिसे गोंडवाना भी कहते हैं, जिसमें दक्षिण बिहार, दक्षिण पश्चिमी बंगाल उत्तरी उड़ीसा आते हैं। कोयला, लोहा, अबरक और ताँबा आदि अधिकांश इसी भाग से प्राप्त होते हैं। कोयला विशेषकर झरिया, रानीगंज के क्षेत्रों से निकाला जाता है पर वभ्रुअंगार (Ligmit) के रूप में दक्षिणी पूर्वी हैदराबाद, दक्षिणी मध्य प्रदेश और दक्षिणी पूर्वी मद्रास के समुद्री तट पर भी पाया जाता है। लोहा मैसूर में और अबरक उत्तरी मद्रास और राजस्थान में पाया जाता है। इल्मेनाइट और मोनेजाइट (Ilmenite and Monazite) जो युद्ध कालीन महत्ता रखने वाली धातुयें हैं, ट्रावन्कोर के तटीय प्रदेश की बालू में पायी जाती हैं। मेगनेसाइट मद्रास की खड़िया मिट्टी वाली पहाड़ियों पर और सोना मैसूर के कोलार क्षेत्र में पाया जाता है। बौक्साइट स्टीटाइटजिप्सम इमारतों के बनाने में काम आने वाले पत्थर नमक, अग्निमृत्तिका, कोरन्डम फलर्स अर्थ आदि भी पर्याप्त

मात्रा में यहाँ पाये जाते हैं। ससार भर की अबरक की उत्पत्ति का ६०% भारत में उत्पन्न होता है। मेंगनीज, इल्मेनाइट, मोनेजाइट, लोहा आदि ससार भर में सबसे अधिक भारत में ही मिलते हैं। भारत की धातुओ को पूर्णरूप से काम मे नहीं लाया गया है। देश में पेट्रोलियम की कमी है केवल आसाम मे ही इसके कुएँ हैं। इन कुओ से प्राप्त उत्पत्ति बहुत ही नगण्य है। इसी प्रकार अन्य धातुओ की जैसे राँगा, गन्धक, चाँदी, जस्ता, टिन, पारा आदि की उत्पत्ति देश की आवश्यकता से बहुत कम है।

अध्याय ३

जन संख्या

किसी देश के आर्थिक विकास का वहाँ की जनसख्या से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। मनुष्यों की सख्या, उनका स्वास्थ्य, अवस्था स्त्री और पुरुष की सख्या का अनुपात, जन्म और मृत्यु दर और देश में प्राप्त खनिज पदार्थों के सम्बन्ध में उनके उद्योग आदि सब उनकी स्थिति आर्थिक निश्चित करते हैं। यह एक बडे विचार की बात है कि भारतवर्ष जो कि ससार का सबसे अधिक घना बसा देश है सबसे गरीब भी है। इसलिये यहाँ की समस्या जन सख्या के वृद्धि की दर में कमी और प्राकृतिक साधनों के उपयोग मे वृद्धि करने की है।

भारत की जनसख्या १८९१ में २३ ५६ करोड थी, १९२१ में बढकर २४·८१ करोड हुई जो १९३१ मे २७ ५५ करोड़, १९४१ में ३१ २८ करोड़ और १९५१ मे ३५·६६ करोड हो गई। १९२१ तक तो जनसख्या की वृद्धि में अकाल और बीमारियो द्वारा कमी होती रही और अन्न की उपज बढती हुई जनसख्या के लिये पूरी पडती रही। परन्तु १९२१ के पश्चात जनसख्या में अन्न की उपज की तुलना तीव्रतर गति से वृद्धि हुई है जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि देश को अन्न की कमी की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। १९५१ की जनगणना रिपोर्ट, १९२१ को महान विभाजक (The Great Divide) के नाम से व्यक्त करती है, क्योंकि (१) इसके पहिले जनसख्या न्यूनाधिक घटती हुई सी थी परन्तु इस वर्ग के बाद से निरन्तर बढती रही है, और (२) इस वर्ष के पहिले तक भूमि का प्रयोग भी जनसख्या की वृद्धि के अनुकूल ही बढता रहा पर इसके बाद से अन्न की कमी होती गई।

वृद्धि की दर—१९५१ तक के पिछले १० वर्षों में भारत की जनसख्या लगभग ४ १४ करोड़ के बढ गई है जो १२½% की वृद्धि कही जा सकती है अथवा जिसे १¼%प्रतिवर्ष की वृद्धि कह सकते हैं। यह वृद्धि विभिन्न भागो में विभिन्न गति से हुई है। पजाब, अण्डमान और नीकोबार टापुओं में ० ५ प्रतिशत और ८ ६ प्रतिशत क्रमश कमी हुई है। अन्य राज्यों में से दिल्ली (६२·१%), कुर्ग (३० ५%), त्रिपुरा (२१.६%), मैसूर (२१ २%), त्रिवकुर कोचीन (२१·२%) और बम्बई

* इस सख्या मे जम्मू काश्मीर और आसाम के आदिवासियों की सख्या सम्मिलित नहीं है।

२० ८%) में सबसे अधिक वृद्धि हुई, हिमाचल प्रदेश (३'७%), पेप्सू (२ ६%), विन्ध्य प्रदेश (६%), उड़ीसा (६'२%), भोपाल (७ २%), मध्य प्रदेश (७'६%) और बिहार (६ ६%) में वृद्धि को गति अपेक्षाकृत कम रही।

जन्म और मृत्यु दर—जन सख्या में वृद्धि और कमी जन्म और मृत्यु दर के अन्तर पर निभर होती है। इधर पिछले वर्षो में भारत की जन्म दर और मृत्यु दर दोनों में कमी हुई है। जन्म दर जो कि १६३१ मे ३५ प्रति हजार थी घट कर १६४१ में ३२ १ प्रति हजार, और १६५० में २४.८ प्रति हजार हो गई। मृत्यु दर जो कि १६३१ में २५ प्रति हजार थी, घट कर १६४१ मे २१ ६ प्रति हजार और १६५० में १६ प्रति हजार हो गई। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जन्म दर में मृत्यु दर की अपेक्षा अधिक कमी हुई। चूँकि जन्म और मृत्यु के आँकडे विश्वस्त नहीं हैं इसलिए १६५१ की जनगणना रिपोर्ट ने यह अनुमान लगाय है कि १६४१-५० के बीच के दस वर्षो में जन्म दर का औसत ४० प्रति हजार और मृत्यु दर का औसत करीब २७ प्रति हजार रहा है। इसलिये १३ प्रति हजार प्रति-वर्ष जनसख्या में वृद्धि हुई है। यह बडे दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश में विश्वस्त आँकडे अप्राप्य हे पर हम यह तो कह सकते हैं कि जनसख्या की वृद्धि की दर बढती गई है।

जन्म दर मे कमी विवाह की अवस्था बढाने, आत्म सयम और गर्भ निरोध के कृत्रिम उपायों के अनुसार सम्भव हो सकती है। परन्तु जल्दी तारुण्य अवस्था को प्राप्त करने तथा आर्थिक अथवा अन्य कारणों से विवाह की अवस्था बढाना सम्भव नहीं है। देर में विवाह करने की प्रथा पढे लिखे लोगों में बढ रही है इतने पर भी उन लोगों में अभी भी विवाह की अवस्था कम हो है। आत्म-सयम बहुत ही कठिन है। उसके लिये प्रायः हममें आत्मबल की कमी है जिसके कारण उसकी सफलता में सन्देह है। गर्भ निरोधक कृत्रिम उपकरणों का प्रयोग निम्न कारणों में विशेष प्रचलित नहीं हो सका है . (१) उनके विरुद्ध धार्मिक भावना, (२) उनका अधिक मूल्य, (३) जनता में उनके प्रयोग करने के ढगों के प्रति अनभिज्ञता, (४) इस सम्बन्ध मे परामर्श और शिक्षा देने वाले अस्पतालों की कमी। यदि कृत्रिम उपायो का प्रयोग प्रचलित करना है तो इन कठिनाइयों को दूर करने के उपाय करना अत्यन्त आवश्यक होगा।

डा० स्टोन का सुरक्षित काल प्रणाली ('Safe Period method') का प्रयोग भी सस्ता और सफाई की दृष्टि से उपयुक्त होते हुये भी अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया है क्योंकि अधिकाश जनता इस प्रणाली का सफलतापूर्वक उपयोग करना नहीं जानती।

यह दुर्भाग्य की बात है कि जन साधारण (बहुत से उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों को सम्मिलित करते हुये) परिवार नियोजन की आवश्यकता तथा उसके उपायों से अनभिज्ञ हैं। वे सब बात भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं। इसके कारण परिवार नियोजन का कार्य अपने देश में एक कठिन समस्या के रूप में उपस्थित है। "प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत परिवार नियोजन कार्य के प्रति जनता मे सक्रिय सहानुभूति की भावना जगाना और वर्तमान ज्ञान के आधार पर तत्सम्बन्धी परामर्श और सेवा के साधनो के विकास की ओर रहा है। साथ ही साथ इस सम्बन्ध मे भैपाजक जैवकीय और सांख्य के अध्ययन का कार्य भी किया गया। राज्यों, स्थानीय संस्थाओ, वैज्ञानिक संस्थाओं को ११५ परिवार नियोजक औषधालयों और १६ सांख्यकीय तथा जैवकीय समस्याओं के प्रति खोज करने वाली योजनाओ को अनुदानो द्वारा सहायता दी गई। दूसरी पचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम मे वृद्धि करने का विचार किया गया है"।

"यह प्रस्ताव किया गया है कि प्रति ५०,००० व्यक्तियों के लिए प्रत्येक नगर और कस्बों में एक औषधालय खोला जाय। छोटे कस्बों और गाँवों में धीरे-धीरे प्रारम्भिक स्वास्थ्य संस्थाओं के सहयोग में औषधालय खोले जायँ। इन औषधालयों का कार्य जनता में इस समस्या के प्रति जागरुकता उत्पन्न करना होगा और उन्हें इस सम्बन्ध मे परामर्श और सेवा प्रदान करनी होगी। बंगलौर में एक केन्द्रीय प्रशिक्षण चिकित्सालय (clinic) का खोला जाना विचाराधीन है। बम्बई मे कृत्रिम उपायों का परीक्षालय स्थापित हो रहा है। प्रत्येक भैपजिक विद्यार्थियो और उपचारिकाओं को परिवार नियोजन की शिक्षा देना आवश्यक है प्रत्येक औषधालय में परिवार नियोजन सेवा विभाग स्थापित होना चाहिये। यह भी प्रस्ताव किया गया है कि भैपाजक जैवकीय तथा आँकड़ों से सम्बन्धित अन्वेषण संस्था स्थापित की जाय। ५ करोड़ रु० का प्रबन्ध परिवार नियोजन के कार्यक्रम के लिये निश्चित कर दिया गया है। यह आशा की जाती है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्त तक लगभग ३०० चिकित्सालय नगरों मे और २००० चिकित्सालय गाँवो में स्थापित कर दिये जायँगे"।

मृत्युसंख्या की दर—मृत्युसंख्या की दर शारीरीक कारणों और वातावरण पर निर्भर करती है। शारीरिक दशा पौष्टिक तत्वों, स्वच्छता, चिकित्सा की सुविधा इत्यादि पर निर्भर करती है। वातावरण की दशा बाढ़ अकाल, युद्ध इत्यादि पर निर्भर करती है। मृत्युसंख्या की दर प्रत्येक वर्ष भिन्न-भिन्न रही है परन्तु प्राप्त आँकड़ों के अनुसार मृत्युसंख्या की दर घटती जा रही है। इसका कारण यह है कि चिकित्सा की सुविधा बढ़ी है और सफाई की ओर अधिक ध्यान

दिया जाने लगा है। यह आशा की जाती है कि भविष्य में चिकित्सा की सुविधा में वृद्धि होने के साथ-साथ मृत्युसंख्या की दर भी घटती जायगी। बहुमुखी योजनाओं के पूरा हो जाने के बाद अकाल और बाढ़ का जोर कम हो जायगा। भारत में बच्चों की मृत्युसंख्या अधिक होने से मृत्युसंख्या की दर अधिक है। यह अनुमान लगाया गया है कि कुल जितने बच्चे पैदा होते हैं उनमें से १५ प्रतिशत एक वर्ष की आयु होने से पहले ही मर जाते हैं। सरकारी तौर पर की गई गणना के अनुसार यह पता चला है कि इन बच्चों में से ५० प्रतिशत पैदा होने में एक महीने के अन्दर मर जाते हैं और ६० प्रतिशत पहले सप्ताह में ही मर जाते हैं।

भारत में प्रतिवर्ष अनेक बीमारियों जैसे हैजा, चेचक, प्लेग, ज्वर और डिसेन्ट्री इत्यादि से लाखों व्यक्ति मर जाते हैं। हैजा, चेचक और प्लेग महामारियाँ हैं। सभी बीमारियों से कुल जितने लोगों की मृत्यु होती है उसका ५·१ प्रतिशत इन महामारियों के शिकार होते हैं। इससे प्रकट है कि महामारियों के कारण बहुत अधिक मृत्यु नहीं होती है। विभिन्न बीमारियों से होने वाली मृत्युओं के ५७ ५ प्रतिशत का कारण अनेक प्रकार के ज्वर होते हैं। अस्पतालों की सुविधा बढ़ा कर, स्वास्थ्य-सुधार की योजना लागू कर, लोगों की बीमारियों के आक्रमण से बचने की शक्ति बढ़ाकर साथ ही लोगों को आत्मविश्वासी और भाग्य पर कम निर्भर बनाकर मृत्युसंख्या की ऊँची दर के कारणों को दूर किया जा सकता है।

स्त्री-पुरुषों का अनुपात—भारत में पुरुषों की संख्या स्त्रियों से अधिक है परन्तु मद्रास, उड़ीसा, त्रिवाकुर कोचीन और कच्छ में यह स्थिति विपरीत है। इन राज्यों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। १९५१ की जन-गणना के अनुसार कच्छ में सबसे अधिक स्त्रियाँ हैं। यहाँ प्रति हजार पुरुषों के पीछे १०७९ स्त्रियाँ हैं। कुर्ग में स्त्रियों की संख्या अन्य सब राज्यों से कम है। यहाँ प्रति हजार पुरुषों के पीछे ८३० स्त्रियाँ हैं। इस स्थिति के अनेक सामाजिक, धार्मिक और (Biolgical) कारण हैं। प्रायः सभी वर्ग की जनता और विशेषकर हिन्दू समुदाय लड़की की अपेक्षा लड़के को अधिक चाहते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि लड़कियों की उचित देख-रेख नहीं की जाती है और उनकी प्रायः मृत्यु हो जाती है। धार्मिक भावना के अतिरिक्त इसका एक कारण यह है कि समाज में शिक्षा का प्रसार कम है और लोग समाज में स्त्री के महत्व को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते हैं। इससे प्रायः लड़कियों की विशेष देख भाल नहीं की जाती है। प्रसव के समय अनेक स्त्रियों की मृत्यु हो जाने से भी स्त्रियों की संख्या कम है।

अवस्था—भारत में बच्चे और नवयुवकों की जनसंख्या में प्रधानता है। १९५१ में १४ वर्ष तक के लोग ३८.३%, १५ से ३४ वर्ष तक के लोग ३३%, ३५ से ५४ वर्ष तक के लोग २०.४% और ५५ वर्ष के ऊपर के लोग केवल ८.२% थे। अन्य देशों में, जैसे फ्रान्स, इङ्गलैण्ड, जर्मनी, उत्तरी अमरीका आदि में, स्थिति इसके विपरीत है। इन देशों में ५५ वर्ष और इसके ऊपर की अवस्था वाले व्यक्ति कुल जनसंख्या के क्रमशः २१.४%, २१.१%, १६.१% और १६.६% हैं।

घनत्व और वितरण—भारत में औसत जनसंख्या का घनत्व ३१२ प्रति वर्ग मील है। घनत्व की मात्रा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में बदलती हुई है। एक ओर दिल्ली में ३०१७, ट्रावन्कोर कोचीन में १०१५ प्रति वर्ग मील है तो दूसरी ओर अण्डमान निकोबार में १०, और कच्छ में ३४ प्रति वर्ग मील है। इस बदलते हुये घनत्व का कारण प्राकृतिक बनावट, भूमि तथा वर्षा है। इन कारणों पर ही भूमि के उचित प्रयोग की मात्रा निर्भर है। इसलिये घनत्व की समस्या का अध्ययन प्राकृतिक भागों के आधार पर अधिक युक्तिसगत होगा। इस दृष्टिकोण सिन्धगगा के मैदान के निचले भाग में घनत्व ८३२ और ऊपर के भाग में घनत्व ६८१, मालाबार कोकन में ६३८, दक्षिणी मद्रास में ५५४, उत्तरी मद्रास और उड़ीसा के समुद्री तट पर ४६१ है। ये भाग बहुत अधिक घनत्व वाले कहे जा सकते हैं। दक्षिणी भाग में, उत्तरी भाग में, गुजरात काठियावाड़ में, जहाँ पर जनसंख्या का घनत्व साधारण कोटि का है, प्रतिवर्ग मील में क्रमशः ३३२, २४७, २४६ और २२६ व्यक्ति निवास करते हैं। दक्षिणी पठार के उत्तरी पूर्वी भाग में, उत्तरी केन्द्रीय पहाड़ियों में, पूर्वी पठार में, उत्तरी पश्चिमी पहाड़ियों में, हिमालय, पश्चिमी हिमालय और रेगिस्तानी भागों में जनसंख्या का घनत्व क्रमशः १६२, १६४, १६३, ११८, ६८ और ६१ व्यक्ति प्रतिवर्ग मील है। जनसंख्या के इस असमान वितरण के कारण प्रत्येक स्थान पर प्राप्त प्राकृतिक सुविधाओं का समुचित प्रयोग नहीं हो पाया है।

भूमि के प्रयोग सम्बन्धी आँकड़ो पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि (अ) योरुप जहाँ ससार भर में जनसंख्या का घनत्व सबसे अधिक है भारत की तुलना में अधिक आगे नहीं है। औसत भारतीय अपनी भूमि का ४३% खेती के काम लाता है जब कि औसत योरुपीय केवल ६० प्रतिशत ही काम में लाता है। (ब) सयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस के व्यक्तियों के पास योरुप निवासियों और भारतीयो की अपेक्षा अधिक भूमि है। भारत में भूमि पर जनसंख्या के भार का कुछ अनुमान इस बात से लगता है कि बोये हुये खेतों में जनसंख्या के प्रति व्यक्ति का औसत ०.८२ एकड़ है।

यदि कटिबन्धों के दृष्टिकोण से जनसख्या के वितरण पर विचार किया जाय तो हम कह सकते हैं कि उत्तरी भारत में केवल उत्तर प्रदेश की जनसख्या ६ ३२ करोड़ अथवा कुल जनसख्या का १८% है। पूर्वी भारत की (जिसमें बिहार, उड़ीसा, पश्चिमी बगाल, आसाम, मनीपुर, त्रिपुरा और सिकिम आते हैं) जनसख्या ६ करोड़ या कुल जनसंख्या का २५% है। दक्षिणी भारत (जिससे मद्रास, मैसूर, ट्रावनकोर कोचीन और कुर्ग आते हैं) की जनसख्या ७.५६ करोड़ या कुल जनसख्या की २१% है। पश्चिमी भारत की जनसख्या जिसमे बम्बई, सौराष्ट्र और कच्छ आते हैं ४.०७ करोड़ या ११% है। मध्यभारत की जनसंख्या जिसके अन्तर्गत मध्यभारत, हैदराबाद, भोपाल और विन्ध्य प्रदेश आते हैं ५.२३ करोड़ या १५% है। उत्तरी पश्चिमी भारत की जनसंख्या जिसके अन्तर्गत राजस्थान, पंजाब, पेप्सू, जम्मू और काश्मीर (आकडे सम्मिलित नही हैं), अजमेर' दिल्ली, बिलासपुर, और हिमालय प्रदेश आते हैं, ३ ५ करोड़ या १०% है। यदि भूभागों के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो हम कह सकते हैं कि उत्तरी मैदान की जनसख्या३६ १%, प्रायद्वीप पहाड़ियों और दक्षिणी पठार की जनसख्या ३०.४%, पूर्वी घाट और समुद्री तट की जनसख्या १४.५%, पश्चिमी घाट और समुद्री तट की जनसंख्या ११ २%, हिमालय के 'भूभाग की जनसख्या ४ ८% है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि देश के उपजाऊ मैदानों में अधिकाश जनसख्या बसी हुई है।

मध्यप्रदेश का क्षेत्रफल सबसे अधिक है, अर्थात् १३०२७२ वर्ग मील, तथा इसके पश्चात् राजस्थान है जिसका क्षेत्रफल १३०२०७ वर्ग मील है, जबकि जनसख्या उत्तर प्रदेश की सबसे अधिक अर्थात् ६.३ करोड़ है और इसके पश्चात् मद्रास, बिहार, और बम्बई हैं जिनकी जनसख्या क्रमशः ५ ७, ४ तथा ३ ५६ करोड़ है। विंध्य प्रदेश तथा दिल्ली के अतिरिक्त जिनकी जनसख्या क्रमशः ३५ ७ लाख तथा १७.४ लाख है—किसी भी स और द राज्य की जनसख्या १० लाख से अधिक नहीं है। सबसे कम जनसंख्या वाला प्रदेश अण्डमन और निकोबार द्वीप है जिसकी जनसख्या केवल ३०६७१ है। भारत की अधिकतर जनता गावों मे निवास करती है। ३५ ७ करोड़ की कुल जनसख्या मे से केवल ६ २ करोड़ अथवा १७ ३% नगरो और कस्बों में (जिनकी सख्या ३०१८ है) रहती है और शेष २६ ५ करोड़ या ८२ ७% जनसख्या गाँवों में रहती है जिनकी सख्या ५५८०८६ है। देश के औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप गाँवो की जनसख्या निरन्तर नगरों की ओर बढती जा रही है। १६२१ मे ८८.७% जनसख्या गाँवो में निवास करती थी और ११ २% नगरो में। १६४१ मे ८६ १% गाँवो मे और १३ ६% नगरों में निवास करने लगी और १६५१ मे, जैसा कि ऊपर बताया जा

चुका है, ८२·७% गाँवों मे और १७·३% नगरों में रहने लगी। दिल्ली और अजमेर के छोटे राज्यों को छोड़कर जहाँ कि शहर की आबादी क्रमश ८३% और ४३% है, बड़े राज्यों मे बम्बई और सौराष्ट्र के राज्य सबसे आधुनिक हैं जहाँ ३४% और ३१% जनसख्या नगरो में रहती है।

भारत के ७३ शहरों की आबादी एक लाख के ऊपर है। आसाम और पेप्सू मे ऐसा कोइ नगर नहीं है। 'स' राज्यों के सात भागों केवल नई दिल्ली अजमेर और भूपाल ऐसे नगर हैं। देश के सबसे बड़े नगरों में बम्बई की जनसख्या २८·३५ लाख, है, कलकत्ता की २५·४६ लाख, मद्रास की १४·१६ लाख, हैदराबाद की १०·८६ लाख, दिल्ली की ६·१५ लाख, अहमदाबाद की ७·८८ लाख, और बगलौर की ७·७६ लाख है।

धर्म और विवाह—भारत में अनेक धर्मों के मानने वाले रहते हैं पर हिन्दुओं की सख्या प्रधान है। १६५१ में ३५·७ करोड़ की आबादी में से ३०·३ करोड़ हिन्दू थे, ३·५ करोड मुसलमान, ८२ लाख ईसाई, ६२ लाख सिक्ख, १६ लाख जैन २ लाख बौद्ध १ लाख जोराष्ट्रियन (पारसी), १७ लाख अधिवासियों के धर्मावलम्बी तथा १ लाख अन्य धर्मों के पालन करने वाले थे।

भारत में प्रति १०, ००० व्यक्तियों (शरणार्थियों को छोड़ कर) में ५,१३३ पुरुष तथा ४८६७ स्त्री हैं। इनमें २५२१ पुरुष व १८८६ स्त्रियाँ अविवाहित हैं अर्थात् स्त्रियो और पुरुषों को मिलाकर कुल जनसख्या ४४·१% अविवाहित है। बाल विवाह रोक कानून के होते हुए भी देश में अत्यधिक बाल-विवाह होते हैं। १६५१ की जन गणना के अनुसार लगभग २८३३००० पुरुष' ६११८००० विवाहित स्त्रियाँ, ६६००० विधुर और १३४००० विधवायें ५ और १४ वर्ष की अवस्था के बीच की थीं। इसी रिपोर्ट के अनुसार लगभग ६२००००० विवाह बाल विवाह निरोधक नियम के प्रतिकूल हुये थे।

१८ **व्यवसाय**—देश भर के ७०% व्यक्ति कृषि पर और ३०% अन्य व्यवसायों पर निर्भर रहते हैं। सौराष्ट्र, कच्छ, अजमेर दिल्ली अन्डमान, नीकोबार में खेती करने वालों की सख्या की तुलना में अन्यप्रकार के व्यवसायियों की सख्या अधिक है। पश्चिमी बगाल और बम्बई प्रदेशों में जो सबसे अधिक औद्योगिक प्रदेश हैं वहाँभी खेती करने वालों की सख्या व्यवसायियों से बढी हुई है। हिमाञ्चल प्रदेश और सिकिम में कृषि करने वालों की सख्या कुल आबादी की ६०% है। प्रत्येक १०० भारतवासियो में ४७ तो ऐसे किसान हैं जिनके पास अपने खेत हैं, ६ आसामी हैं, १३ बिना भूमि के श्रमिक हैं, १जमीन्दार है अथवा लगान पर/आश्रित है और १० उद्योगों में लगे हुए हैं अथवा कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्य करते हैं,

६ व्यापार करते हैं, २ यातायात में लगे हैं और १२ विभिन्न प्रकार की नौकरियों में लगे हैं। १९५१ की जनगणना के अनुसार ३५.७ व्यक्तियों में से २४.९ करोड़ किसान और १०.८ करोड़ खेती के अतिरिक्त अन्य कार्य करने वाले लोग थे। २४.९% करोड़ किसानों में से १६.७३ करोड़ अपने निजी खेतों पर खेती करने वाले थे। ३.१६ करोड़ ऐसे किसान थे जो दूसरों के खेत करने वाले थे, ४.८४ करोड़ कृषि कार्य करने वाले मजदूर थे और ०.५३ करोड़ खेती करने वाले जमींदार या लगान पर आश्रित व्यक्ति थे। १०.८ करोड़ अन्य कार्यों में लगे व्यक्तियों में से ३.७ करोड़ कृषि के अतिरिक्त अन्य उत्पत्ति के कार्य में लगे थे, २.१३ करोड़ व्यापार में लगे थे, ०.५६ करोड़ यातायात में लगे थे और ४.३ करोड़ विभिन्न नौकरियों में लगे थे। ११

अध्याय ४

सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाएँ

सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाओं का जनता के आर्थिक जीवन पर भारी प्रभाव पड़ता है। यह भौतिक सुख समृद्धि और सम्पत्ति के संग्रह के प्रति जनता के दृष्टिकोण को, साथ ही इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए जनता के प्रयत्नों को निर्धारित करती हैं। यह व्यवस्थाएँ औद्योगिक और वाणिज्य संगठनों को प्रभावित करती हैं साथ ही व्यापार और उद्योग का किस प्रकार संगठन किया जाना चाहिये इस पर भी इन व्यवस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। भारत में जाति प्रणाली और संयुक्त परिवार की प्रथाओं का भी देश के आर्थिक संगठन पर काफी प्रभाव पड़ा है, पर्दा-प्रथा, अहिंसा पर विश्वास और धर्म के प्रति सामान्य जनता के दृष्टिकोण ने उनकी आर्थिक-गतिविधि को निर्धारित एवम् संचालित किया है। पर्दा-प्रथा के कारण उच्च-जाति की महिलाएँ देश के आर्थिक-कार्य में भाग नहीं लेती हैं और इस प्रकार जनता को निर्धन रखने में यह प्रथा सहायक सिद्ध होती है। अहिंसा के दृष्टिकोण और इस धार्मिक भावना से कि बन्दर और नील-गाय (जो वास्तव में गाय नहीं है) पवित्र हैं इनको नष्ट नहीं किया जा सकता। इससे फसल तथा अन्य मूल्यवान सम्पत्ति की भारी क्षति होती है। धार्मिक संस्थाओं को जैसे मन्दिरों, मठों और अखाड़ों को जनता जो दान देती है उससे इन संस्थाओं ने बहुत अधिक मात्रा में सम्पत्ति का संग्रह कर लिया है जिसका परिणाम यह होता कि (१) इन संस्थाओं को चलाने वाले पुजारी' पाण्डे तथा अन्य लोग आलसी हो जाते हैं और बेकार पड़े रहते हैं और इस प्रकार देश उनके श्रम का लाभ उठाने से वंचित रह जाता है, (२) इस प्रकार जो धन इकट्ठा होता है वह तिजोरियों में बन्द रखा जाता है और देश के आर्थिक विकास के कार्य में इसका उपयोग नहीं होता है। विश्व के अन्य उन्नत देशों में जनता द्वारा की गई बचत काफी पहिले देश के औद्योगिक तथा कृषि विकास के लिए उपलब्ध हो गई और पूंजी निर्माण की प्रतिक्रिया को प्रोत्साहन मिला। परन्तु भारत में धार्मिक संगठनों के प्रभुत्व और शास्त्रों के इस आदेश से कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी कमाई का कुछ अंश इन संस्थाओं को दान देना चाहिए और साथ ही मन्दिरों और मठों के प्रति जनता की गहरी श्रद्धा होने से देश में पूंजी निर्माण का कार्य बहुत शिथिल पड़ गया। देश के उत्तराधिकार कानूनों से भूमि तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति का अनुचित रूप में छोटे-छोटे हिस्सों में विभाजन होता गया है। यदि भारत में सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाएँ भिन्न प्रकार होतीं तो देश की आर्थिक प्रगति भी भिन्न प्रकार की होती।

जातिप्रथा—जाति प्रथा हमारे देश की प्राचीनतम प्रथाओ मे से है। एक परिभाषा के अनुसार जाति परिवारों या परिवारों के समूहों का एक ऐसा सग्रह है जिसका एक नाम है, जो उसके अन्तर्गत आनेवाले लोगो के व्यवसाय सम्बन्धित होता है और इस नाम से ही उसके अन्तर्गत आनेवाले लोगों का व्यवसाय से मालूम हो जाता है। इसके साथ ही यह दावा किया जाता है कि किसी पौराणिक मानव या देवता से इसका वश चला है, इसके अन्तर्गत आनेवाले लोगों का एक पेशा है, और राय प्रकट करने के अधिकारी व्यक्ति इसे एक ही समुदाय समझते हैं जिसमे समानता है। हमें यह मालूम नही है कि जाति प्रणाली का विकास कैसे हुआ। जाति प्रथा सभवत: श्रम-विभाजन और विशेषज्ञता के सिद्धात पर आधारित रही होगी। प्राचीनकाल मे हिन्दू समाज चार भागों मे विभक्त था, अर्थात ब्राह्मण जो आध्यामिक नेता, विद्वान और पुजारी होते थे, क्षत्रिय जो योद्धा और प्रशासक थे, वैश्य जो व्यापारी और सौदागर थे, और शुद्र जो निम्नकोटि के कार्य करते थे, अन्य लोगो की सेवा करते थे—इन अन्य लोगों मे अधिकार प्रथम तीनो वर्ग के लोग ही होते थे। इस चार जातियो की प्रणाली मे हमें कार्य का विभाजन स्पष्ट मालूम होता है। साथ ही यह प्रयत्न भी प्रकट होता है कि विभिन्न लोग विभिन्न कार्यो मे दक्षता प्राप्त करें। आरभ मे जाति प्रणाली वशगत या पुश्तैनी नहीं थी और एक जाति का व्यक्ति अपने प्रयत्नों के बल पर अपनी जाति से उच्च जाति मे प्रवेश पा सकता था। परन्तु बाद में जाति प्रथा अत्यन्त कट्टर रूप धारण कर गई और निश्चित रूप वशगत हो गई। इसके अतिरिक्त अनेक उपजातियाँ और इन उपजातियो के भी अनेक निम्न रूपों को जन्म दिया गया जिसस यह सारी व्यवस्था अत्यन्त जटिल हो गई।

आरम्भ में जाति-प्रणाली से कुछ लाभ थे : (१) इस व्यवस्था से किसी कार्य मे और ज्ञान में विशेष योग्यता प्राप्त की जा सकती थी जिससे जो कुछ कार्य किया जाता था उसके गुण मे बहुत सुधार होता जाता था। प्राय' बेटा वही व्यवसाय अपनाता था जो उसका बाप करता था और इस व्यवसाय के लिए बाप उसे उचित शिक्षा दे देता था। इस प्रकार एक विशेष प्रकार का कार्य और तत्सम्बन्धी ज्ञान एक परिवार में वशगत रूप से चला आता था और बेटा बाप से उस व्यवसाय की योग्यता प्राप्त कर कार्य आगे बढाता था। पण्डितों की सुप्रसिद्ध विद्वत्ता, भारतीय योद्धाओं की अपूर्व सफलताएँ और उच्चकोटि की भारतीय दस्तकारी सभी आशिक रूप से इस विशेष योग्यता के ही फल थे जो स्वय इसी जाति-प्रणाली का परिणाम था, (२) जाति-प्रणाली मे उन कष्टमय तथा परेशानियां के दिनो में जब कि भारत पर विजातियों ने हमले किये थे हिन्दू-जाति की शुद्धता को

बनाये रखने मे बहुत सहायता मिली। जाति-प्रणाली की कट्टरता के फलस्वरूप ही विजेताओ और विजितो के बीच आवश्यकता से अधिक रक्त-सम्बन्ध नही हो पाया इसमें काफी रूकावट पड़ी, और (३) जाति प्रणाली ने आरम्भ से ही हिन्दुओं को अन्य लोगों के विश्वासों और धर्मों के प्रति सहिष्णु बने रहने का पाठ सिखाया है। इसी कारण विभिन्न जातियों और धर्मों के लोग भारत मे शाति और भाई चारे के साथ रहते आये हैं इसमें तनिक भी असत्य नहीं है कि आरम्भ में भारत मे जाति प्रणाली ने प्राय. उसी उद्देश्य की पूर्ति की जिसकी यूरोप में गिल्ड-प्रणाली (Guild System) ने की जिसके अन्तर्गत गिल्ड के सदस्यो को टैक्निकल शिक्षा दी जाती थी और उनके अन्य हितो की देखभाल की जाती थी।

परन्तु आधुनिक काल में जाति प्रणाली अत्यन्त जटिल और अपरिवर्तन-शील हो गई है, उसमे एक प्रकार की कट्टरता आ गई है और फलस्वरूप इससे देश की आर्थिक प्रगति में सहायता मिलने की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है। जाति प्रणाली के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि : (१) यह आवश्यक नहीं है कि वैश्य का पुत्र अच्छा व्यापारी हो और ब्राह्मण का पुत्र अच्छा पुजारी हो। यह बिल्कुल सभव है कि ब्राह्मण या वैश्य के पुत्र मे ऐसी योग्यता है कि वह अत्यन्त कुशल मोची बन सके। परन्तु जाति प्रथा उच्च जाति के लोगों को ऐसे कार्य करने से रोकती है जो कार्य छोटी जातियो को सौंपे गये हैं। इसी प्रकार यदि कोई शूद्र बहुत शिक्षित और विद्वान भले हो परन्तु वह किसी मन्दिर का पुजारी नहीं बन सकता। यह जाति प्रथा ही उसके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बन जाती है। इस प्रकार जाति प्रथा किसी व्यक्ति को ऐसे उत्तम कार्य करने से रोकती है जिसकी उसमे पर्याप्त क्षमता और योग्यता हो। (२) अस्पृश्यता और इससे उद्भुत अन्य कठिनाइयों के कारण जाति-प्रथा जनता के सरल-स्वाभाविक प्रवाह में बाधक बन जाती है। किसी देश के आर्थिक विकास के लिए पूजी और श्रम की निर्बाध गति-शीलता अत्यन्त आवश्यक होती है। जाति प्रथा ने इसको रोक रखा है और इस सीमा तक हमारे देश में औद्योगिक तथा कृषि क्रांतियों का अभाव रहा है। (३) कट्टर जाति प्रथा के कारण हम श्रम-सम्मान (dignity of labour) को भूल गये हैं और इससे अन्य लोगो के विश्वासो, धर्मों और दृष्टिकोणों के प्रति हमारी सहिष्णुता की भावना भी कम हो गई है। इसीलिए इससे गतिरोध उत्पन्न हो गया है, हमारा समाज अस्थिर हो गया है और हममें स्वय आगे बढ़कर पथ प्रदर्शन करने तथा साहस की भावना लुप्त हो गई है।

सौभाग्य से गत कुछ वर्षों से जाति-प्रथा टूट रही है। भारत में रेलों के निर्माण, इसके प्रसार, यात्रा की सुविधाओं में वृद्धि, रेल, बस या हवाई जहाज की

यात्रा में विभिन्न जाति के लोगो से होने वाले अनिवार्य जन-सम्पर्क के फलस्वरूप जाति-प्रणाली की कट्टरता कम हो गई। अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली और अंग्रेजी कानून के अन्तर्गत सभी जातियों के साथ समानता का व्यवहार किया गया और सभी जातियों के लोगो को कोई भी व्यवसाय अपनाने की छूट दे दी गई। पेशा अपनाने मे जाति-प्रथा की बाधा नही रही। शूद्र जाति के व्यक्ति अध्यापक, मजिस्ट्रेट और उच्च सैन्याधिकारी बने और उच्च जाति के लोग जिन्हें अपना कार्य सिद्ध करना होता था इन अधिकारियों के सम्पर्क मे आये और जाति प्रथा की कट्टरता का पालन नहीं कर सके। जाति-प्रथा के कारण ही अनेक हिन्दुओं ने अन्य धर्मों का स्वीकार कर लिया। इसकी स्वय हिन्दू-समुदाय में प्रतिक्रिया हुई और आर्य-समाज जैसे सुधारवादी आन्दोलन हुए जिन्होंने जाति-प्रथा को तोड़ने में बहुत बड़ा कार्य किया है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इसके विरुद्ध संघर्ष करती रही है और भारतीय सविधान मे अस्पृश्यता को भारी अपराध माना गया है और उनको बराबर अवसर प्रदान किया गया है। केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारें अब परिगणित जाति के विद्यार्थियो को विशेष छात्रवृत्ति देने की नीति अपना रही है। इन सब प्रयत्नों से जाति-प्रथा की कट्टरता कम हो गई है और भारत के आधुनिक नौजवान इसकी अधिक परवाह नहीं करते हैं। कुछ लोग या वह लोग जो अभी अपने गाँवो या कस्बों की सीमा से अपने को मुक्त नहीं कर सके हैं और जिनका दृष्टिकोण अभी भी सकुचित बना हुआ है, अब भी इस जाति-प्रथा की कट्टरता की भावना से ग्रस्त हैं परन्तु इनकी सख्या धीरे-धीरे घटती जा रही है। इसमें सन्देह नहीं कि जाति-प्रथा समाप्त होती जा रही है परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि अब भी जाति-प्रथा का जोर है और भारतीय आर्थिक प्रणाली को उससे बराबर क्षति हो रही है।

संयुक्त परिवार की प्रथा (Joint Family System)—संयुक्त परिवार प्रथा भारत की प्राचीनतम प्रथाओं में से एक है। देश में सामान्यत: आर्थिक इकाई एक व्यक्ति नहीं बल्कि सयुक्त परिवार है। बहुत से व्यक्तियों ने सयुक्त परिवार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है और वह अलग रहने लगे है परन्तु फिर भी परिवार सगठन में सयुक्त-परिवार प्रथा की पूर्ण प्रधानता है। सयुक्त परिवार मे सामान्यतया पिता परिवार का प्रधान होता है और परिवार के अन्य पुरुष तथा स्त्रियाँ उसके आधीन होते हैं। वह साथ रहते हैं साथ खाते-पीते हैं और पूजा-पाठ करते हैं, साथ ही समाज मे उनके समान सम्बन्ध होते हैं। यह ठीक कहा गया है कि छोटे पैमाने मे सयुक्त-परिवार साम्यवाद का उदाहरण है। यदि सयुक्त परिवार का उचित सगठन किया जाय

तो वहाँ यह सिद्धान्त लागू होता है कि "प्रत्येक सदस्य सब के लिए और सारा परिवार प्रत्येक के लिए" (each for all and all for each) अर्थात प्रत्येक व्यक्ति पूरे समूह के लिए उत्तरदायी है और पूरा समूह प्रत्येक व्यक्ति के लिए उत्तरदायी है। सयुक्त परिवार प्रथा के कुछ आर्थिक लाभ हैं—(१) इससे रहन-सहन का व्यय घट जाता है क्योंकि खाना साथ पकाया जाता है, नौकर चाकर समान होते हैं और अन्य सभी सुविधाओं का सयुक्त रूप से उपभोग किया जाता है। बड़े पैमाने पर किये जाने वाले कार्य की सभी सुविधाएँ इसमें निहित हैं। यदि लोग अलग-अलग रहते हैं तो रहन सहन का कुल व्यय परिवार के व्यय से बहुत अधिक होगा, (२) इससे सम्पत्ति और भूमि का छोटे-छोटे भागों में विभाजन नहीं होता, भूमि पर मिलकर खेती की जाती है जिससे आर्थिक क्षेत्र में अनेक लाभ होते हैं और अन्य रूपों में भी काफी लाभ होता है। सयुक्त परिवार की पूँजी बिखरी हुई नही होती बल्कि एक साथ जमा रहती है और उसको अन्य उत्पादन कार्यों मे या आगामी उत्पादन कार्य का प्रसार करने में प्रयुक्त किया जा सकता है। परन्तु यदि सयुक्त परिवार टूट जाय और लोग अलग-अलग रहने लगे तो यह सभव है कि उनके पास पर्याप्त पूँजी न हो, और (३) सयुक्त परिवार प्रथा बीमारी, मृत्यु या अन्य दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के अवसर पर एक प्रकार से बीमा का कार्य करती है। विधवाओं, अनाथो और वृद्धों का सयुक्त परिवार में अन्य सदस्यों की तरह ही पालन-पोषण होता है। गत कुछ वर्षों से पश्चिमी देशों मे वृद्ध व्यक्तियों को, जो कार्य नहीं कर सकते और निर्धन हैं, उनकी सन्तानों ने उन्हें बिना किसी सहारे के छोड़ देने की प्रकृति हो गई है। सयुक्त परिवार प्रथा के अन्तर्गत ऐसा संभव नहीं है।

परन्तु सयुक्त परिवार-प्रणाली की अनेक हानियाँ भी हैं : (१) चूंकि प्रत्येक व्यक्ति को भोजन, कपड़े, रहने आदि की पूरी सुविधा उपलब्ध है इसलिए उन लोगो में जो चरित्र की दृष्टि से अच्छे नहीं कहे जा सकते हैं और जिनमें दूर दृष्टि का अभाव होता है आलस्य पेदा हो जाता है। इन प्रथा से उनके आलसी स्वभाव को बल प्राप्त होता है। साम्यवाद के अन्तर्गत चूंकि भुगतान कार्य के आधार पर नहीं बल्कि आवश्यकता के आधार पर किया जायगा अतएव तब यह कठिनाई उत्पन्न हो जायगी कि प्रत्येक व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुकूल उत्तम कार्य कैसे कराया जाय। इसी प्रकार सयुक्त-परिवार-प्रणाली में व्यक्ति की सभी आवश्यकताओ की उसके द्वारा किये गये कार्य की गणना किये बिना ही पूर्ति हो जाती है इससे कुछ लोगों में निठल्ले बैठे रहने और आलसी बन जाने की प्रकृति पैदा हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि रुपये का मूल्य वही व्यक्ति अच्छी प्रकार सम-

झता है जो रुपया कमाता है। इसलिए संयुक्त परिवार में आलसी और निठल्ले लोगों के फिजूल-खर्च बनने की पूरी संभावना रहती है, (२) संयुक्त परिवार प्रणाली के अन्तर्गत लोगों की गतिशीलता का ह्रास हो जाता है और परिणाम स्वरूप उनमें आगे बढ़कर कोई कार्य करने की प्रवृत्ति का भी ह्रास हो जाता है। लोगों को घर में बैठे रहने की आदत पड़ जाती है और फलस्वरूप साहसपूर्ण कार्य करने की प्रवृत्ति से हाथ धो बैठते हैं, उनमे वह स्फूर्ति, सक्रियता और साहस नही रहता जो देश की आर्थिक उन्नति के लिये आवश्यक होता है, और (३) संयुक्त परिवार में छोटे-छोटे झगड़े पैदा होते रहते हैं, ईर्ष्या-द्वेष बढता है और इसके फलस्वरूप मुकदमेबाजी भी हो जाती है जो कि अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होती है।

इधर कुछ वर्षों से संयुक्त परिवार प्रथा विशृंखलित हो रही है। यद्यपि अभी भी यह परिवार-संगठन का प्रधान रूप है फिर भी संयुक्त परिवार त्याग कर अलग रहने वालो की संख्या बढ रही है। (१) शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात युवक शहरी जीवन का अभ्यस्त हो जाता है और किसी कारखाने में नौकरी कर लेता है या है शहर मे व्यापार कार्य में लग जाता है और उसे संयुक्त परिवार से पृथक होकर रहना पड़ता है, (२) जीवन-संघर्ष में वृद्धि होने से और जीवन-निर्वाह के साधनो को जुटाने की कठिनाइयों से व्यक्ति संयुक्त परिवार के बन्धन से मुक्त होना चाहता है। अपनी पत्नी और बच्चा का पालन पोषण करने के लिए पर्याप्त रुपया कमा लेना संयुक्त-परिवार के पालन पोषण के लिए पर्याप्त रुपया कमा लेने से कहीं अधिक सरल होता है, (३) जहाँ तक धनवान व्यक्तियो का प्रश्न है आय कर कानून और हाल ही मे सम्पत्ति कर (estate duty) कानून बन जाने से संयुक्त-परिवार प्रथा टूटने लगी है। यदि संयुक्त-परिवार के कमाने वाले सदस्यों की आय आयकर के लिये निर्धारित न्यूनतम आय से कम है तो वह संयुक्त-परिवार से अलग होकर आयकर के बोझ से बच सकते हैं परन्तु यदि साथ रहें तो सभी की आय जोड़ कर इतनी हो सकती है कि आयकर से मुक्ति न मिल सके। उदाहरण के लिये यदि एक परिवार मे चार पुरुष है और वह कुल ६ हजार रुपया प्रति वर्ष कमाते हैं तो उनको आय-कर देना पड़ेगा क्योंकि कानून के अनुसार हिन्दू-संयुक्त परिवार की ८४०० रुपया वार्षिक आय से अधिक आय पर आय-कर देना पड़ता है। परन्तु यदि चारो व्यक्ति संयुक्त-परिवार से सम्बन्ध विच्छेदकर ले और अलग-अलग रहने लगें तो प्रत्येक चार हजार रुपया वार्षिक कमा सकता है और उसे आय-कर भी नहीं देना पड़ेगा क्योंकि कानून के अनुसार व्यक्तिगत आय ४२०० रुपया वार्षिक होने पर ही आय-कर लगेगा। इसी प्रकार सम्पत्ति-कर कानून के अन्तर्गत व्यक्ति गत रूप से एक लाख की सम्पत्ति

पर आय-कर की छूट प्राप्त है परन्तु संयुक्त-परिवार में प्रत्येक पुरुष सदस्य को केवल ५० हजार रुपये की सम्पत्ति पर ही सम्पत्ति-कर से छूट प्राप्त है, इससे अधिक की सम्पत्ति होने पर कर चुकाना पड़ेगा परन्तु यदि वह संयुक्त-परिवार से अलग हो जायँ तो एक लाख रुपये की सम्पत्ति पर उसे कोई कर नहीं देना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त किसी की मृत्यु हो जाने पर यह सम्भव है कि संयुक्त-परिवार को सम्पत्ति कर चुकाना पड़े जब कि पृथक रहने पर ऐसा होना इतना अधिक सम्भव नहीं है। कर-सम्बन्धी यह कानून धनवान वर्ग की संयुक्त-परिवार प्रथा को तोड़ रहे हैं।

पंचायत (Panchayat)—प्राचीन भारत में पंचायत अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था थी जिसे प्रशासन, न्याय और राजस्व सभी अधिकार प्राप्त थे। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने से तथा प्रशासन और न्याय के केन्द्रीकरण से पंचायतों का महत्व घट गया और क्रमश: वह नगण्य हो गयीं। देश के कुछ भागों में पंचायतें स्थापित रहीं परन्तु केवल एक सामाजिक संस्था के रूप में जहाँ लोग आपस में मिल सकते, गप्प कर सकते और हुक्का पी सकते थे और कभी कभी छोटे-मोटे झगड़े भी तय कर लिये जाते थे। परन्तु पंचायत ने प्रशासन और न्याय के क्षेत्र में अपना प्रभावशाली रूप खो दिया।

परन्तु इधर कुछ वर्षों से महात्मा गांधी और राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा इस व्यवस्था के प्रति विशेष रुचि दिखायी जाने के कारण पंचायत-प्रणाली को पुन: जीवन प्रदान किया गया है और पंचायतों को कानूनी मान्यता और कुछ प्रशासन तथा न्याय अधिकार प्रदान करने के लिए कुछ राज्यों ने आवश्यक कानून भी बनाये हैं। परन्तु अब तक पंचायतें सन्तोषजनक कार्य नहीं कर पायी हैं क्योंकि जिन लोगों को पंचायतों का कार्य सौंपा गया है वह निरक्षर हैं और प्रशासन तथा अदालत की कार्य-प्रणाली की उनको आवश्यक जानकारी नहीं है, साथ ही उनके पास धन का भी अभाव है।

पंचायतों का कार्यक्षेत्र बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है और उन्हें आर्थिक नियोजन का प्रभावशाली साधन बनाने का प्रयत्न हो रहा है। संविधान के ४० वें अनुच्छेद में कहा गया है कि राज्य ग्राम पञ्चायतों की स्थापना करने और उन्हें स्वशासन की इकाई बनाने के लिए आवश्यक अधिकार दिलाने के सम्बन्ध में कार्रवाई करेगा। राज्य सरकारों द्वारा पञ्चायतों को कुछ अधिकार प्रदान किये गये हैं परन्तु यह उतने नहीं हैं जितने की संविधान में व्यवस्था की गई है।

जून १९५४ में शिमला में स्वायत्त-शासन मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ था जिसमें यह सिफारिश की गई कि पंचायतों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए अधिक व्यापक आर्थिक, प्रशासकीय और न्याय अधिकार दिये जाने चाहियें।

यह सुझाव दिया गया कि द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में 'नीचे से ऊपर की ओर' योजना बनायी जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए और ग्राम को ही नियोजन की इकाई बनाना चाहिए। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने जुलाई १९५४ मे अपने अजमेर अधिवेशन में इस बात पर विचार किया और अनुमान है कि उसने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। योजना में यह व्यवस्था की गई है कि पञ्चायतों को स्वशासन की प्रभावशाली आधारभूत इकाई और नीचे से योजना बनाये जाने के लिए आधारभूत एजेन्सी बनाया जायगा। एक गॉव सभा का निर्माण सारा गॉव करेगा और निर्वाचन के आधार पर ग्राम पचायत बनायेगा जो गॉव सभा की कार्यकारिणी होगी। पचायत को जो कार्य सौपे जायँगे उनमे लगान वसूली, भूमि सम्बन्धी कागजात रखने (इन्दराज), समान उप-योगिता की सरकारी जमीन का प्रबन्ध, काश्त के लिए लगान पर जमीन देना, बहुधन्धी ग्राम सहकारी समितियो का विकास करना और अपने अधिकार क्षेत्र के अन्दर सार्व-जनिक उपयोग के कार्यों के लिए सब से अनिवार्यत. कार्य करना आदि काय सम्मिलित हैं। ग्राम के विकास की नीति पचायत निर्धारित करेगी, और भूमिक्ष-रण, वनो के विकास, इधन के सुरक्षित स्टाक जमा करने, बॉध और जलाशय बनाने, वयस्क शिक्षा, अच्छे बीजों की पूर्ति, और काश्त के नये और सुधरे हुए उपायों को लागू करने की समस्याओं पर भी पचायत विचार करेगी और इस दिशा में आवश्यक कार्रवाई करेगी।

द्वितीय पचवर्षीय योजना नीचे से ऊपर की ओर बनाई गई है। राज्य सरकारों ने एक-एक गॉव के अथवा गॉवों के समूहों के लिये जैसे तहसील, तालुका, विकास-पीली की इकाइयो के आधार पर योजना बनवाई है। इस कार्य में पचायतो ने बहुत महत्वशाली सहयोग दिया है पर यह कहना कठिन है कि स्थानीय योजनाओ के बनाने में वे यथार्थ में कार्यशील रही हैं और ये स्थानीय योजनायें इस योग्य रही हैं कि उनको राज्य द्वारा बनाई योजना में सम्मिलित कर लिया जाता। जो कुछ भी हो पचायत के सदस्या को यह ज्ञान हो गया है कि द्वितीय योजना की सफलता के लिये उनके सहयोग की आवश्यकता है। इससे स्थानीय लोगो का उत्साह अवश्य बढ़ा है और वे योजना के प्रति जागरूक हो गये हैं।

सरकार की नीति यह है कि "प्रत्येक गॉव में और विशेषकर उन क्षेत्रो मे जो राष्ट्रीय विस्तार सेवाओ और सामुदायिक विकास योजनाओ के लिए चुने गये हैं एक कानून के आधार पर पचायत की स्थापना की जाय। प्रथम पचवर्षीय योजना काल में पंचायतो की सख्या ८३०८७ से बढ कर ११७५९३ हो गई। द्वितीय योजना के कार्यक्रम के अनुसार १९६०–६१ तक ग्राम पचायतों की सख्या

बढ़ कर २४४५६४ हो जायगी"। यह सोचना युक्तिसंगत है कि भविष्य में पंचायतों को अधिकाधिक महत्ता दी जायगी और वे योजना को कार्य रूप में परिणित करने का एक प्रभावशाली साधन हो जायँगी। परन्तु अभी तक तो ग्राम पंचायतों का कार्य बहुत ही असंतोषजनक रहा है। इसके अनेक कारण हैं जैसे (१) "ग्राम पंचायतों के प्रभावशाली न हो सकने का सबसे बड़ा कारण उनके पास साधन का अभाव रहा है। बहुत सी पंचायतों की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय २ आ० या ३ आ० रही है"। टैक्सेशन इन्क्वायरी कमीशन (१९५३-५४) ने अपनी रिपोर्ट में इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया था कि प्रादेशिक सरकारें "पंचायतों को कुछ करों के लगाने का अधिकार दे कर उन्हें अपने आप अपनी सहायता करने के लिये छोड़ देती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्राय पंचायतें आरम्भ होते ही करों के आरम्भ करने के कारण जनता को कोपभाजन बन जाती हैं और यदि करों का आरम्भ न करें तो निष्क्रिय हो कर जनता की दृष्टि में नीचे गिर जाती हैं"। इसलिये पंचायतों के कार्य को सफल बनाने के लिये सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि उन्हें पर्याप्त वित्त प्रदान किया जाय। (२) दूसरी कठिनाई यह है कि पंचायतों के ऊपर उनके साधनों और शक्ति की अपेक्षा अत्यधिक कार्य भार डाल दिया गया है। प्रादेशिक सरकारें जिन्होंने पंचायतों को अनेक उत्तरदायित्व सौंप रक्खे हैं पंचायतों से आवश्यकता से अधिक आशा करती हैं। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और पंचायतों के हित भी आपस में टकराते हैं क्योंकि दोनों के कार्य क्षेत्र एक दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करते हैं। इस सम्बन्ध में टैक्सेशन इन्क्वायरी कमीशन ने यह सिफारिश की है कि आर्थिक क्षेत्र और उत्पादन सम्बन्धी कार्य जो सहकारी समितियों द्वारा अधिक अच्छी तरह किये जा सकते हैं। उन्हें नियमित रूप से पंचायतों के अन्तर्गत आये हुए कार्यों से अलग कर देना चाहिये। हम इसे भी आवश्यक समझते हैं कि पंचायतों के लिये नियमावली में दिये गये असंख्य कार्यों के स्थान पर थोड़े से चुने हुये कार्य ही दिये जावें ताकि उनका जिला बोर्ड तथा अन्य स्थानीय ग्राम बोर्ड के कार्यों से सामंजस्य सम्भव हो सके। (३) पंचायतों के मेम्बरों को उन कार्यों की कोई शिक्षा नहीं मिली है जो उनको दिये गये हैं। उनके विचार प्राचीन हैं, उधर उनके मन में स्थानीय कारणों से उत्पन्न द्वेष भावना भरी है, इसलिये जो समस्यायें उनके सामने अज्ञान आशंका और जाति द्वेष के कारण उपस्थित हैं उनको दूर करने के लिये उनके विचार में वे ही पुराने ढंग आते हैं जिससे वे अपना कर्त्तव्य संतोषजनक ढंग से पूरा नहीं कर पाते।

अध्याय ५

कृषि उत्पादन और नीति

भारत कृषि प्रधान देश है। भारत का कुल क्षेत्रफल अन्तिम गणना के अनुसार लगभग ८१ करोड़ २० लाख ५० हजार एकड़ है, परन्तु आधे से बहुत कम भूमि कृषि के काम आ रही है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा बनाने के पहिले ही योजना आयोग ने कुछ प्रदेशों मे पिछले ४० वर्षों में विभिन्न फसलो के उगाने में लगी हुई भूमि की जॉच की। इससे यह पता लगा कि (१) खेती की जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल उत्तर-प्रदेश को छोड़कर कहीं भी विशेष मात्रा मे नही बढा। एक से अधिक फसलें उगाने वाले क्षेत्र मे २०% की वृद्धि हुई, परन्तु यह वृद्धि बढती हुई जनसख्या की तुलना मे नगण्य थी, (२) सिंचाई का क्षेत्रफल १०% बढा जो कि मुख्यत. नहरों के विस्तार का परिणाम था, (३) परती छोड़ी हुई भूमि का क्षेत्रफल १६२०-४० तक के ही स्तर पर रहा। उसके बाद कुछ वृद्धि रुई का उत्पादन करने वाले क्षेत्रों में हुई क्योंकि यकायक रुई उत्पादन क्षेत्र मे कमी आ गई और खेत परती छोड़ दिये गये। किस प्रकार की फसलें उगाने की प्रवृति प्राय. लोगो की रही, इसका योजना आयोग ने अध्ययन किया और इस परिणाम पर पहुँचे कि (१) पिछले १० वर्षों मे यद्यपि दुहरी फसल उत्पन्न करने के कारण फसलों के अन्तर्गत कुल क्षेत्र में वृद्धि हुई पर कोई भी नया भूमि का भाग खेती के कार्य मे नहीं लाया गया, (२) मूल्यो में परिवर्तन के कारण फसलो की किस्म में परिवर्तन आ गया यद्यपि अधिकाश ये फसलें छोटे-छोटे खेतो मे उत्पन्न की जाती थीं (३) खाद्यान्न तथा व्यवसायिक फसलों के बीच अदला-बदला किसी विशेष ढग पर नहीं हुई वरन् मौसम फसलो के हेर-फेर, मूल्य परिवर्तन और किसान की आर्थिक शक्ति पर निर्भर रही।

खाद्यान और कच्चे माल मे कमी—यह आश्चर्य की बात है कि कृषि-प्रधान देश होते हुए भी भारत मे खाद्यान्न की कमी है और उद्योगों के लिए कच्चे माल का अभाव है। इन अभावा के मुख्यत तीन कारण हैं: (१) १६३६ में बर्मा को भारत से अलग कर देने के कारण देश के अन्दर ही प्राप्त हो जाने वाली खाद्यान्न की मात्रा में १३ लाख टन की कमी हो गई, (२) १६४७ में देश-विभाजन हो जाने के कारण उस मात्रा में ७५ लाख टन की और कमी हो गई, (३) देश

की जनसख्या प्रतिवर्ष १½ प्रतिशत की दर से बढ रही है, परन्तु खाद्यान्न की मात्रा में इसी दर से वृद्धि नहीं हुई है जिसके परिणाम स्वरूप खाद्यान्न का अभाव हो गया। सन् १९४९-५० में देश को ४६० लाख टन अन्न की उत्पत्ति और सरकारी गोदाम तथा विदेशों से मँगाये अन्न को मिलाकर प्रति वयस्क १३ ७१ ओंस अन्न प्रतिदिन पडता था। यदि जनसख्या अधिक होती तो प्रति व्यक्ति अन्न का भाग और भी कम होता। पौष्टिक पदार्थ सलाहकार समिति के विचारानुसार प्रति स्वस्थ व्यक्ति (वयस्क) १४ औंस अन्न प्रतिदिन आवश्यक है। इसलिए प्रथम पञ्चवर्षीय योजना ने ७६ लाख टन अन्न की उपज बढाने का निश्चय किया था।

पौष्टिक पदार्थ सलाहकार समिति के सुझाव के अनुसार सन्तुलित भोजन के लिये प्रत्येक व्यक्ति का ३ औंस दाल प्रतिदिन खानी चाहिये। १९५०-५१ में ८३ लाख टन दाल पैदा हुई, जिसमें से सरकारी स्टाक, बीज इत्यादि के लिए २० प्रतिशत निकाल देने के पश्चात् प्रति वयस्क को प्रतिदिन २ १ औंस दाल मिली। इस प्रकार प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के अन्तगत बढी हुई जनसख्या के अतिरिक्त आवश्यकता ५ लाख टन की और ३ औंस प्रति व्यक्ति के हिसाब से ४० लाख टन की अनुमानित की गई थी।

१९५०-५१ म ५१ लाख टन तिलहन की उपज हुई जिसमें से लगभग १९ लाख ६० हजार टन तेल प्राप्त हुआ। साबुन, रग तथा वार्निश बनाने के काम में प्रयुक्त तेल को अलग करने के पश्चात् शेष १६ लाख टन तेल घरेलू कार्यों के लिए बचा। इसके अनुसार प्रति वयस्क को प्रतिदिन ० ५ औंस तेल मिला, जो आवश्यकता से बहुत कम था और इसलिए उसकी मात्रा बढानी आवश्यक समझी गई। जहाँ तक कपास का प्रश्न है, १९५० ५१ में २९ लाख ७० हजार गाँठो का उत्पादन हुआ (प्रत्येक गाठ का वजन ३९२ पौंड) जब कि खपत ४० लाख ७० हजार गाँठों की थी। उत्पादन और खपत के इस अन्तर को प्रतिवर्ष लगभग ८३० हजार गाँठों का आयात करके पूरा किया गया। अनुमान लगाया गया है कि १९५६ में ५४ लाख गाठों की आवश्यकता होगी। जूट के उत्पादन के विषय में सरकारी तार पर यह अनुमान लगाया गया है कि १९५१-५२ में ३३ लाख कच्चे जूट की गाँठों का उत्पादन किया गया। और मेस्टा (Mesta) की ६ लाख गाँठें पैदा की गई, जो जूट से घटिया किस्म की उपज है और जिसका उपयोग जूट न मिलने पर किया जाता है। अनुमान है कि १९५६ में ७२ लाख गाँठों की आवश्यकता होगी। इस प्रकार माँग और पूर्ति में ३३ लाख गाँठों का अन्तर रह गया।

इस अध्ययन से यह प्रकट होता है कि प्रथम पचवर्षीय योजना के आरभ

में खाद्यान्न और उद्योगो के लिए कच्चे माल दोनों का ही अभाव था। भारत को स्वावलम्बी बनाने और विदेशी मुद्रा की बचत करने के लिए यह निश्चित किया गया कि देश के अन्दर ही इनका उत्पादन बढाया जायगा। यदि समस्या केवल खाद्यान्न या व्यवसायी फसलो की पूर्ति की मात्रा बढ़ाने की होती, तो इसके लिये धीरे-धीरे एक फसल की जमीन को दूसरी फसल के उत्पादन के लिये व्यवहार मे लाया जा सकता था। परन्तु समस्या दोनो फसलों के उत्पादन मे वृद्धि करने की थी, जिससे माँग और पूर्ति के बीच का भारी अन्तर दूर किया जाय।

खाद्यान्न जॉच कमेटी की रिपोर्ट—कमेटी, जिसके अध्यक्ष श्री अशोक मेहता थे तथा जिसने नवम्बर १९५७ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, इस निष्कर्ष पर पहुँची कि खाद्यान्न की कुल उत्पत्ति १९५३-५४ के ६८८·७ लाख टन से घट कर १९५४-५५ में ६७१·१ लाख टन तथा १९५६-५७ मे ६५२·९ लाख टन हो गयी। इसके अनन्तर प्रवृत्ति मे परिवर्तन हुआ और १९५६-५७ में खाद्योत्पादन बढकर ६८६·९ लाख टन हो गया। खाद्यान्न के मूल्यों एवम् खाद्य सामग्री के अभाव की वृद्धि निम्न कारणों से हुई। (1) कृषकों ने अपनी उत्पत्ति का अधिक भाग स्वय रख लिया। अतएव मूल्यों की वृद्धि मे जितना विक्रीत-अतिरिक्त (marketed surplus) की कमी का हाथ था उतना उत्पादन की कमी का नहीं था। १९५५-५६ में मोटे अनाज (millets) की उत्पत्ति मे ३० लाख टन की कमी हुई जिसने मूल्य वृद्धि का क्रम प्रारभ किया और १९५५-५६ में चावल तथा गेहूँ की माँग बढने के कारण खाद्यान्न के मूल्य बढने लगे। यद्यपि बाद मे उत्पादन बढ गया किन्तु मूल्यों मे फिर भी वृद्धि होती रही। (11) द्वितीय योजना के अन्तर्गत होने वाले व्यय तथा बैंक उदार की वृद्धि ने भी मूल्य-स्तर के बढाने में मदद की, तथा (111) "खाद्य स्थिति के बारे मे अत्यधिक आशावादिता ने अनेक राज्यो में खाद्योत्पादन की वृद्धि के प्रयत्नों को या तो शिथिल कर दिया या उनमें तीव्रता नहीं आने दी"।

भारत की जन सख्या की प्रतिवर्ष १½ – २ प्रतिशत वृद्धि के आधार पर कमेटी ने अनुमान लगाया कि खाद्यान्नों की माँग मे बढ़ती हुई जनसख्या के कारण १०% तथा आय की वृद्धि से ४.७ प्रतिशत वृद्धि होगी। इस प्रकार द्वितीय योजना में खाद्यान्नो की माँग १४½ से १५ प्रतिशत तक बढ जायगी अर्थात् १९५५ ५६ में ६९० लाख टन से बढकर १९६०-६१ मे ७९० लाख टन हो जायगी जबकि उत्पत्ति मे केवल १०३ लाख टन की वृद्धि की आशा की जाती है जिसके फलस्वरूप १९६०-६१ तक उत्पत्ति बढकर ७७५ लाख टन हो जायगी। कमेटी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि कुछ आगामीवर्षों मे प्रतिवर्ष २०-३० लाख टन खाद्यान्न का आयात करना आवश्यक होगा।

कमेटी ने खाद्यान्नों के सम्बन्ध में मूल्य-स्थायित्व (price stabilisation) की नीति की सिफारिश की। (i) इस हेतु उन्होंने उच्चाधिकारों से युक्त 'मूल्य-स्थायित्व परिषद' (Price Stabilisation Board) की नियुक्ति प्रस्तावित की जिसके कार्य मूल्यनीति का निर्धारण तथा उसे लागू करने के उपायों का निर्णय करता था। (ii) नीति को कार्यान्वित करने के लिए खाद्यान्न स्थायित्व संगठन (Foodgrains stabilisation Organisation) के निर्माण की भी सिफारिश की गई। यह संगठन खाद्य और कृषि मन्त्रालय का एक विभाग हो सकता है या एक परिनियत निगम (Statutory corporation) अथवा सीमित दायित्व वाली कम्पनी का रूप भी ले सकता है। यह संगठन खाद्यान्न बाजार में एक व्यापारी की भाँति काम करेगा और अन्त स्थ-स्कन्ध (bufferstock) का काम करेगा अर्थात् मूल्य गिरने पर खरीदेगा जो और बढ़ने पर बेचेगा। (iii) खाद्य मन्त्रालय तथा मूल्य स्थायित्व परिषद की सहायता के लिए केन्द्रीय खाद्य परामर्श समिति (Central-food Advisory Council) के निर्माण की भी सिफारिश की गई। (vi) प्रसंगानुकूल एवम् विश्वासनीय आँकड़े एकत्र करने के लिए मूल्य-जानकारी-संभाग (price Intelligence Division) की स्थापना की भी सिफारिश हुई। परामर्श समिति तथा जानकारी संभाग की सहायता से मूल्य-स्थायित्व परिषद का उद्देश्य मूल्य सम्बन्धी स्थिति पर सतर्कता बरतने तथा समय समय पर न केवल सामान्य मूल्य स्तर के स्थिर बनाये रखने वरन् विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों में अनुचित अन्तर को रोकने के लिये आवश्यक कार्यवाही की सिफारिश करना था।

इस बात को ध्यान में रखते हुये कि वर्तमान परिस्थितियों में स्वतन्त्र व्यापार अवाञ्छनीय है तथा पूर्ण-नियन्त्रण (Full fledged Control) आर्थिक एवम् प्रशासकीय कठिनाइयों से भरा है, कमेटी ने एक मध्य-मार्ग की सिफारिश की जिसके अंतर्गत नियन्त्रण का कंट्रोल खुले बाजार में खाद्यान्न के क्रय विक्रय तक सीमित रहेगा, थोक व्यापार का अंशत. समाजीकरण होगा, अनुज्ञा (License) द्वारा शेष बाजार में कार्यशील व्यापारियों पर नियन्त्रण होगा, गेहूँ और चावल का पर्याप्त स्टॉक रखा जायगा तथा अन्य पूरक खाद्य सामग्री के उपभोग और उत्पादन की वृद्धि के लिये प्रचार का संगठन किया जायगा।

उत्पादन प्रवृत्ति—स्वतन्त्रता प्राप्त होने के उपरांत भारत में खाद्यान्न और अन्य कृषि-सम्बन्धी कच्चे माल के उत्पादन में कमी आ गई है। १९५०-५१ में खाद्यान्न का उत्पादन ५०० लाख टन हुआ, जबकि १९४९-५० में इसका उत्पादन ५४० लाख टन हुआ था। कृषि-सम्बन्धी कच्चे मालों की उत्पादन प्रवृत्ति

थोड़ी भिन्न थी। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के तुरन्त बाद उत्पादन में कमी आ गई, किन्तु तत्पश्चात् उसमें फिर वृद्धि हो गई। १६४८-४६ में तिलहन का उत्पान ४५ लाख टन, कपास का १७ लाख ७० हजार गाँठों और कच्चे जूट का २० लाख ७० हजार गाँठो तक ही घटकर रह गया। गन्ने का उत्पादन भी कम होकर ४८ लाख ७० हजार टन ही रह गया। किन्तु अगले वर्षों में इन कच्चे मालो के उत्पादन में वृद्धि हुई और १६५०-५१ में, जब कि खाद्यान्न का उत्पादन गिरता जा रहा था, उनकी उपज बढ़नी प्रारम्भ हुई।

'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन के बावजूद खाद्यान्न के उत्पादन में कमी आई। बहुत सम्भव है कि खाद्यान्न उत्पादन के सरकारी आँकड़े बिल्कुल सही न हों। परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि सही आँकड़े चाहे कुछ भी हों, अनेक कारणों से खाद्यान्न का उत्पादन पिछले कुछ वर्षों में काफी गिर गया :

(१) देश के कुछ भागों में सूखा पड़ने और कहीं-कहीं बाढ़ आ जाने से खाद्यान्न के उत्पादन में आंशिक कमी अवश्य हुई है, परन्तु केवल प्रकृति का कोप ही उत्पादन की गिरावट के लिए उत्तरदायी नहीं है।

(२) यह भी सुझाव दिया गया है कि कृषि-सामग्री की ऊँची कीमतें भी कुछ अंश तक कृषि-उत्पादन घटने का कारण हैं। साधारण रूप से अधिक कीमत का अर्थ है अधिक उत्पादन, परन्तु जहाँ तक किसान का सम्बन्ध है आय की लोच (Elasticity) ऋणात्मक (negative) है। इसका तात्पर्य यह है कि किसान कुछ आय चाहता है और जब कीमतें अधिक होती हैं तो वह थोड़ा सा उत्पादन करके उसे प्राप्त कर लेता है, किन्तु जब कीमतें कम होती हैं तो उसे अधिक उत्पादन करना पड़ता है। इसलिये जैसे ही खाद्यान्न की कीमतें बढ़ीं, उसने अपना उत्पादन कम कर दिया। चूँकि कीमतों और उत्पादन के पारस्परिक सम्बन्ध का विस्तारपूर्वक अध्ययन नहीं किया गया है, इसलिए यह कहना सम्भव नहीं है कि यह सिद्धान्त भारत में कहाँ तक लागू होता है।

(३) खाद्यान्न के उत्पादन मे कमी आने का एक कारण यह भी है कि गन्ने, रुई और जूट की अधिक आवश्यकता होने के कारण खाद्यान्न के उत्पादन में प्रयुक्त भूमि के कुछ भाग में अन्न व्यवसाई फसलें बोई जाती हे।

भारत-सरकार के 'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन से खाद्यान्न की कमी पूर्ति करने की जो आशा की गई थी, उसमे अधिक सफलता नहीं हुई क्योंकि (अ) इस आन्दोलन में पहले से ही काश्त की जाने वाली जमीन में उत्पादन बढ़ाने की अपेक्षा नयी भूमि को खेती के योग्य बनाने पर अधिक जोर दिया गया। यह एक दीर्घकालीन प्रक्रिया थी और इससे निकट भविष्य में उत्पादन बढ़ाने की

आशा नहीं की जा सकती थी। 'अधिक-अन्न उपजाओ' आन्दोलन की नीति में परिवर्तन कर अब अल्पकालीन योजनाओं पर जोर दिया गया है, जिसके अन्तर्गत खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने के लिए बीज और खाद दी जाती है और साथ ही साथ सिंचाई की भी व्यवस्था की जाती है। प्रारम्भ में यह आन्दोलन देश के उन भागों में चलाया गया था जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ नहीं थीं और इसलिए सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकले। बाद में नीति बदल दी गई और योजनाओं को उन्हीं स्थलों पर चलाया गया है जहाँ सिंचाई की सुविधा पहले ही से थी या सरलता से आवश्यकतानुसार व्यवस्था की जा सकती थी। इसका परिणाम यह निकला कि 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन में सन्तोषजनक प्रगति हुई, (च) यह अत्यन्त खेद का विषय है कि 'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन का कार्य भार जिन अधिकारियों को सौंपा गया है वह सदैव ईमानदारी और लगन से कार्य नहीं करते हैं। बहुत सी बातों में काम कुछ नहीं किया जाता, केवल कागजी खाना पूरी कर दी जाती है और बहुत बार ऐसा भी होता है कि जो बीज या खाद आदि किसानों को मिलनी चाहिए था, उसे या तो बेच दिया गया या उसका रुपया स्वयं रख लिया गया। इस आन्दोलन में या किसी भी नियोजन के अन्तर्गत योजना को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए एक ऐसे संगठन की आवश्यकता है जो कि सुसंगठित हो और जिसके कर्मचारी पूर्णरूप से ईमानदार हों, (छ) किसानों ने भी 'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन को उतना सहयोग नहीं दिया जितना उनसे आशा की जाती थी।

१९५४-५५ और १९५५-५६ में हुई उत्पादन की थोड़ी सी कमी को छोड़ कर १९५१ के उपरान्त खाद्यान्न के उत्पादन में सन्तोषजनक वृद्धि हुई है। १९५०-५१ में भारत में खाद्यान्न का उत्पादन ५०० लाख टन था जो १९५३-५४ में ६८७ लाख टन हो गया। सबसे अधिक वृद्धि चावल के उत्पादन में हुई और इसके बाद क्रमशः गेहूँ, बाजरा, ज्वार और जौ की उपज बढ़ी। खाद्यान्न के उत्पादन में यह वृद्धि इन कारणों से हुई, (१) मौसम की अनुकूल परिस्थितियाँ, (२) १९५०-५१ में प्रारम्भ किए गए सघठित उत्पादन कार्यक्रम (Integrated Production Programme) की सफलता, (३) चावल उत्पन्न करने की जापानी पद्धति का प्रयोग, सिंचाई की अधिक सुविधाएँ और किसानों को आर्थिक सहायता के रूप में रासायनिक खादें (Fertilisers) आदि देना।

१९५४-५५ तथा १९५५-५६ में उत्पादन घटकर क्रमशः ६७१.१ लाख टन तथा ६५२.९ लाख टन होने के कारण (i) देश के कुछ भागों में सूखा, (ii) उर्वरक तथा अच्छे बीजों का अभाव तथा (iii) राज्य सरकारों द्वारा प्रयत्नों

में ढिलाई देना था जो अशतः उनकी लापरवाही तथा अशतः द्वितीय योजना के खाद्यान्न की उत्पत्ति और कृषि पर अपर्याप्त ध्यान देने के फलस्वरूप हुई। १९५६-५७ में उत्पादन के ६८६.९ लाख टन तक बढ़ जाने के बावजूद भी पिछले दो वर्षों में उत्पादन के गिरने से मूल्य बढ़ गये जिसके फलस्वरूप सामान्य व्यक्ति को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। खाद्यान्न का आयात, जो १९५१ के ४७ लाख टन के ऊँचे स्तर से घटकर १९५४ में ८ लाख टन तथा १९५५ में ७ लाख टन हो गया था, पुनः १९५६ में बढ़कर १४½ लाख टन तथा १९५७ में ३७ लाख टन हो गया।

कच्चे माल के उत्पादन की स्थिति कुछ भिन्न ही रही है। १९५२-५३ में रुई और जूट का उत्पादन पिछले वर्ष के ही स्तर पर (३२० लाख और ४६० लाख गाँठ क्रमशः) रही पर तिलहन और गन्ने की उपज क्रमशः ४७ लाख टन और ५० लाख टन हो गई। अगले वर्षों में जूट को छोड़कर इन सभी १९५६-५७ में अनुमान किया जाता है कि तिलहन ६० लाख टन, रुई ४७५ लाख गाँठ जूट ४२५ लाख गाँठ और गन्ना ६५ लाख टन होगा।

प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—प्रथम पचवर्षीय योजना का ध्येय खाद्यान्न तथा उद्योगों में काम आने वाले कच्चे माल की उत्पत्ति इस दृष्टिकोण से बढ़ाने का था कि (१) देश आत्म निर्भरता प्राप्त कर ले, (२) भारतीय उद्योगों की माँग पूरी हो सके और (३) प्रति व्यक्ति अन्न का उपभोग बढ़ाया जा सके।

प्रथम पचवर्षीय योजना के लक्ष्य

वस्तुये	आधार माने हुये साल में उत्पत्ति	प्रस्तावित अतिरिक्त उत्पत्ति	१९५५-५६ तक प्राप्त कर लेने का ध्येय	आधार माने हुये वर्ष की तुलना में प्रतिशत वृद्धि
खाद्यान्न	५४० लाख टन	७६ लाख टन	६१६ लाख टन	१४
तिलहन	५१ लाख टन	४ लाख टन	५५ लाख टन	८
गन्ना (गुड़)	५६ लाख टन	७ लाख टन	६३ लाख टन	१२
रुई	२९ लाख गाँठें	१३ लाख गाँठें	४२ लाख गाठें	४५
जूट	३३ लाख गाँठें	२१ लाख गाँठे	५५ लाख गाँठें	६४

*खाद्यान्नों के लिए आधार वर्ष १९४९-५० है और अन्य के लिये १९५०-५१ है।

खाद्यान्न मे प्रस्तावित ७६ लाख टन की वृद्धि में से ४० लाख टन चावल, २० लाख टन गेहूँ, १० लाख टन चना और अन्य दालें और ५ लाख टन में अन्य अन्न हैं। जैसा कि ऊपर सकेत किया जा चुका है। उपज ६५० लाख टन हुई। (बजाय ६१६ लाख टन के जो कि लक्ष्य था) गेहूँ, चना और दालों के उपज की मात्रा प्रस्तावित लक्ष्य से अधिक बढ गई है परन्तु चावल की उपज पिछले वर्ष में बढने के पश्चात् १९५४ ५५ में बाढ आदि प्राकृतिक विपत्तियों के कारण घट गई। यह कमी ससार के सभी चावल उत्पन्न करने वाले देशों में हुई थी। पर १९५५ ५६ में फिर उत्पत्ति कुछ बढी। व्यवसायिक फसलों में से तिलहन और रुई की उत्पत्ति योजना के अनुकूल बढ़ी पर जूट और गन्ने की उपज में कमी हुई।

प्रथम योजना के काल मे अन्न की उत्पत्ति में वृद्धि सिंचाई की सुविधाओं के बढने, खाद के प्रयोग म आधिक्य और बेकार भूमि को खेती के काम में लाने के लिये फिर से अधिकृत करने के कारण हुई, परन्तु यह बता सकना कठिन होगा कि किस कारण से कितनी वृद्धि हुई है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—यद्यपि द्वितीय योजना में उद्योगो को विशेष महत्व दिया गया है पर कृषि के प्रति उदासीनता नहीं दिखाई गई है। द्वितीय योजना मे इस बात पर ध्यान रक्खा गया है कि प्रथम योजना के कार्य में विकास हो और कृषि उत्पत्ति तथा कच्चे माल की उत्पत्ति में हमारा देश यथासम्भव आत्मनिर्भर हो जाय। दूसरे, यह अब अच्छी तरह समझ में आ गया है कि खेती का क्षेत्रफल बढा लेने मात्र से ही उत्पत्ति में आवश्यक वृद्धि न हो सकेगी। अन्त मे यद्यपि खाद्यान्न की वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया है पर दूसरी योजना में उन वस्तुओं की सख्या काफी बढ़ी है जिनकी उत्पत्ति बढाने का ध्येय है। ऐसी वस्तुओं मे चाय, काली मिर्च, लाख, नारियल, वृक्षफल, सुपाड़ी भी सम्मिलित हैं। इससे भारतीय किसानों की उन्नति मे स्थिरता और विदेशी विनिमय से अधिक आय प्राप्त होगी।

यदि वर्तमान दर से ही अन्न का उपभोग चलता रहे तो योजना आयोग के अनुसार बढी हुई जनसंख्या को ७०५ लाख टन अन्न की आवश्यकता होगी परन्तु प्रति व्यक्ति अन्न का उपयोग १८ ३ आँस प्रतिदिन कर देने का विचार है, इसलिये कुल अन्न की आवश्यकता ७५० लाख टन होगी। इसी आधार पर द्वितीय पचवर्षीय योजना में १९६०-६१ तक १०० लाख टन की उपज बढाने का निश्चय किया गया। अन्न की इस वृद्धि में चावल की ३० से ४० लाख टन, गेहूँ की २० से ३० लाख टन, और अन्य अन्नों की २० से ३० लाख टन और दालों की १५ से २० लाख टन वृद्धि सोची गई है। बाद मे ऐसा प्रतीत हुआ कि खाद्यान्न के

जाय न कि केवल उत्पत्ति की मात्रा की। यदि सभी मिलें भरपूर काम करें तो उन्हें लगभग ७२ लाख जूट की गाँठों की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त १५०,००० गाँठें अन्य कामों के लिये चाहिए। (iii) गन्ने तथा गुड़ का उत्पादन बढ़ा देने पर यह सम्भव हो सकेगा कि प्रति व्यक्ति प्रतिदिन १·०२ औंस का उपयोग कर सकेगा। (iv) पिछले वर्षों की मन्दी के कारण तम्बाकू की उपज गत वर्षों से ऊपर की निम्नकोटि की हुई है जिसके कारण उसकी बिक्री में कमी आ पड़ी। इससे गोदामों में तम्बाकू के स्टाक के पड़े रह जाने के कारण उसका मूल्य गिर गया। इसलिये द्वितीय योजना में उत्पादन नीति का तम्बाकू के उत्पादन पर जोर दिया गया है, न कि उत्पादन के मात्रा की वृद्धि पर।

खाद्यान्न नीति

मूल्य नीति—खाद्यान्न के सम्बन्ध में सरकार की नीति है कि (१) भारत को खाद्यान्न के सम्बन्ध में स्वावलम्बी बनाया जाय, (२) जब तक अभाव की स्थिति रहती है तब तक खाद्यान्न के मूल्यों और वितरण पर नियंत्रण रखा जाय, जिसमें उपभोक्ताओं की कठिनाई दूर हो और जहाँ तक सम्भव हो देश के सभी भागों में समान आधार पर सभी को खाद्यान्न मिल सके, और (३) किसान को उसके उत्पादन का उचित मूल्य प्राप्त हो सके।

पंचवर्षीय योजना में यह ठीक ही कहा गया है कि "मूल्य के बढ़ने-घटने में खाद्यान्न पर प्रमुख रूप से प्रभाव पड़ता है। यदि मूल्य पर नियंत्रण रखना है तो यह आवश्यक है कि खाद्यान्न का भाव इस स्तर पर रखा जाय जो देश की गरीब जनता की पहुँच के बाहर न हो। भारत की वर्तमान स्थिति में यदि खाद्यान्न की पूर्ति में थोड़ी भी कमी आई, तो भाव अपेक्षाकृत अधिक चढ़ जायेंगे। खाद्यान्न का भाव बढ़ जाने से रहन-सहन का खर्च बढ़ जाता है और उत्पादन व्यय में भी वृद्धि हो जाती है। इसलिए ऐसी नीति जिसमें सभी और भाव बढ़ जायें और रुपया लगाने का कार्यक्रम ही ठप हो जाय, उत्पादक के लिए किसी भी रूप में लाभदायक नहीं है। इस कारण खाद्यान्न नीति निर्धारित करते समय इन सभी बातों पर विचार करना आवश्यक है।" आश्चर्य की बात है कि योजना आयोग द्वारा इस सही सिद्धान्त का प्रतिपादन किए जाने के बाद भी भारत सरकार की नीति इसके बिल्कुल विपरीत है। खाद्यान्न के भाव ऊँचे रखे गए हैं, जिससे उपभोक्ताओं को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और उद्योगों के उत्पादन-व्यय में भी वृद्धि हुई। खाद्यान्न ऊँचे भावों के समर्थन में यह कहा गया है कि (१) यदि खाद्यान्न के भाव गिराए जायें तो किसान खाद्यान्न के स्थान पर गन्ना, कपास और जूट बोयेगा, जिनके भाव अपेक्षाकृत अधिक ऊँचे हैं। किसान स्वभा-

वतः ही इन ऊँची कीमतों की ओर आकृष्ट होगा, और (२) खाद्यान्न के भाव केवल भारत में ही ऊँचे नहीं हैं, बल्कि यह स्थिति सारे विश्व में है। जब तक विश्व के अन्य देशों में खाद्यान्न के भाव नहीं गिरते हैं, तब तक देश में खाद्यान्न का अभाव होने के कारण भाव कम नहीं किए जा सकते हैं।

इन तर्कों में सत्य का अंश बहुत अधिक नहीं है। प्रथम तर्क के सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि गन्ने, कपास और जूट की कीमत अधिक इसलिये है क्योंकि सरकार ने इनकी कीमत ऊँची दर पर निश्चित कर रखी है। यदि आरम्भ से ही व्यवसायी फसलों और खाद्यान्न के मूल्यों में कुछ सम्बन्ध निश्चित किया गया होता तो इस प्रकार की गड़बड़ी कभी नहीं होती। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कृषिसामग्री के सम्बन्ध में मूल्य और उत्पादन में उल्टा सम्बन्ध होता है। यदि व्यवसायी-फसल और खाद्यान्न दोनों के मूल्य कम रखे जाते तो दोनों के उत्पादन में वृद्धि होती। परन्तु सरकार द्वारा व्यवसायी-फसल का भाव ऊँचा कर दिए जाने से सारी स्थिति ही बदल गई और काफी क्षति पहुँची। इसका अब एक यह उपाय है कि कपास, जूट, गन्ने इत्यादि के मूल्य कम किए जायें। इससे दो लाभ होंगे, (१) उद्योगों का उत्पादन व्यय कम होगा और (२) खाद्यान्न के भाव घट जायेंगे। जहाँ तक दूसरे तर्क का सम्बन्ध है, भारत में खाद्यान का भाव इसलिए ऊँचा नहीं है कि विश्व के बाजारों के भाव भी ऊँचे हैं। उसका कारण तो यह है कि भारत का उत्पादन बहुत कम है। कुछ समय पूर्व भारत में खाद्यान का भाव विश्व-बाजार के भाव की अपेक्षाकृत कहीं अधिक था। यदि यह तर्क सही है तो उस समय भारतीय कीमतों को इतना ऊँचा नहीं होना चाहिए था। भारत में ऊँची कीमतों की समस्या केवल दो उपायों से हल की जा सकती है—या तो उत्पादन बढ़ाया जाय अथवा आयात में वृद्धि की जाय। क्योंकि अधिक व्यय होने के कारण खाद्यान्न का अधिक आयात कर सकना सम्भव नहीं है, इसलिए सबसे उपयुक्त विधि यही है कि देश में उत्पादन की वृद्धि की जाय। यदि खाद्यान्न और व्यवसायी फसलों के लिए प्रयुक्त भूमि में प्रति एकड़ का उत्पादन बढ़ाया जाय, तो दोनों फसलों का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि एक फसल बोई जाने वाली जमीन पर दूसरी फसल बोई जाय। सिंचाई की व्यवस्था, अच्छे बीज और अधिक खाद के द्वारा प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ा सकना सम्भव है।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त सबसे पहले १९५४ के मध्य में सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया कि वह ऐसी नीति कार्यान्वित करे जिससे 'किसानों को उनके उत्पादन का उचित मूल्य प्राप्त हो सके'। पिछले वर्षों में खाद्यान्न के मूल्य अधिक थे और सरकार उन्हें नियन्त्रित करने में प्रयत्नशील थी।

किन्तु जब जुलाई १९५४ में नई फसल तैयार होकर बाजार मे आई, तो पंजाब मे गेहूँ का भाव १० रुपए प्रति मन से भी कम हो गया। हापुड़ आदि उत्तर-प्रदेश की भी कुछ मंडियों में गेहूँ लगभग १० रुपया प्रति मन के हिसाब से बिकने लगा। मूल्यों में यह गिरावट इसलिए आई कि (१) गेहूँ उत्पन्न करने वाले अधिकांश क्षेत्रों में पिछले वर्षों की अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन हुआ, (२) क्रय-शक्ति कम हो जाने के कारण बहुत से लोगों ने गेहूँ का उपयोग करना बन्द कर दिया, जिसके फलस्वरूप उसकी माँग मे कमी आ गई, (३) यातायात के साधनों की अधिक सुविधाएँ प्राप्त न होने के कारण यह सम्भव न था कि जिन क्षेत्रों मे गेहूँ का उत्पादन होता है वहाँ से वह उन केन्द्रों को शीघ्रतापूर्वक भेजा जा सके जहाँ उसकी खपत होती है। फलतः मंडियों में उसका भाव गिर गया, और (४) जिन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने गेहूँ के भाव को गिराने मे सहायता दी, उनके पीछे एक मनोवैज्ञानिक कारण भी था और वह यह कि विश्व भर में गेहूँ की पूर्ति बढ़ गई थी और उसके मूल्य मे कमी आ गई थी। इस संकट को दूर करने के लिए पंजाब सरकार ने स्वयं १० रुपया प्रति मन के हिसाब से कुछ गेहूँ खरीदा। उत्तर-प्रदेश सरकार भी ऐसा ही करने के लिए तैयार थी, किन्तु कालान्तर में मूल्यों मे वृद्धि हो जाने पर सरकार ने गेहूँ खरीदना अनावश्यक समझा। जब कि गेहूँ और चने के मूल्य मे अत्यधिक नीचे गिरने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ने लगी तब चुनी हुई वस्तुओं के मूल्यों की सहायता देने की नीति (Selective price support policy) का अनुसरण किया गया और अप्रैल १९५५ मे गेहूँ, जून में चना और अगस्त मे चावल इसके अन्तर्गत सम्मिलित कर लिये गये। जुलाई १९५५ से खाद्यान्नों के मूल्य अधिकार के बाहर जाने लगे क्योंकि बाढ़ आदि प्राकृतिक प्रकोपों के कारण खरीफ की फसल बिलकुल नष्ट हो गयी थी। सरकार की मूल्य स्थिर रखने की नीति के कारण थोड़े समय के लिये अन्न की पूर्ति में कमी आ गयी और जनता की धारणा कुछ ऐसी हो गई कि मूल्य बढ गया।

यदि खाद्यान्न या उद्योगों में प्रयुक्त होने वाले कच्चे मालों के मूल्यों के एक निश्चित सीमा से अधिक कमी हो जाय, तो उनका सरकार द्वारा खरीदना उसी सीमा तक उचित होगा जहाँ तक उससे किसानों का भला होता है, क्योंकि उनके हितों को सुरक्षित रखना उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना श्रमिकों या उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करना। किन्तु इस नीति से कई हानियाँ हैं (१) यदि मूल्य बराबर गिरते गए तो सरकार को भारी क्षति उठानी पड़ जायगी, (२) सम्भव है कि सरकार जमा किए हुए गल्ले को बेंच न सके और उसे पर्याप्त समय तक स्टाक मे ही रखना पड़ेगा, और (३) यदि सरकार किसी अनाज को एक ही भाव पर

बेंचने के लिए जोर देती है तो सामान्य मूल्य स्तर मे कृत्रिमता उत्पन्न हो जायगी। यदि कृषि सम्बन्धी उत्पादन का मूल्य गिर जाता है तो इसके फलस्वरूप अन्य कीमतों में भी कमी आ जायगी। इस प्रकार क्रय-शक्ति मे वृद्धि हो जाने के कारण किसानों को तो लाभ होगा ही, उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था भी लाभान्वित होगी क्योंकि खाद्यान्न की कीमतों के गिर जाने से सामान्य मूल्य-स्तर निश्चित रूप से कम हो जायगा।

नियन्त्रण (Controls)—सरकार की खाद्यान्न तथा अन्य सामग्रियों पर नियन्त्रण लगाने की नीति की उपयोगिता पर बहुत विवाद चला था। नियन्त्रण लगाने का समर्थन करते हुए कहा गया है कि (१) गरीब जनता की कठिनाइयों को दूर करने के लिए और अभाव ग्रस्त क्षेत्रों को खाद्यान्न भेजते रहने के लिए सरकार द्वारा नियन्त्रण लगाना आवश्यक है। नियन्त्रण न लगाने से खाद्यान्न की कीमतें बढ़ेंगी और इससे निर्धन जनता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, (२) योजना की सफलता के लिए नियन्त्रण आवश्यक है, क्योंकि नियोजन और विनियन्त्रण (De-control) साथ-साथ नहीं चल सकते हैं। किन्तु इन तर्कों मे इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि स्वय नियन्त्रण लगाने से ही अभाव की स्थिति पेदा हो जाती है। यदि नियन्त्रण हटा दिया जाय तो बहुत सभव है कि गल्ले इत्यादि के छिपाकर रखे गए स्टाक खुले बाजार में आने लगें और उनके वितरण में सुधार हो जाय जिसके फलस्वरूप अभाव की स्थिति भी दूर हो जाय। चूँकि खाद्यान्न के सही आँकड़े प्राप्त नहीं है, इसलिए की कमी की मात्रा का ठीक पता चला सकता कठिन है। यह कहा गया है कि जिन अधिकारियों पर खाद्यान्न-नियन्त्रण लागू करने का उत्तरदायित्व है वह अभाव को आवश्यकता से अधिक आँकते हैं जिससे वह काफी समय तक उस पद पर कार्य कर सकें। यदि नियन्त्रण हटा दिया जायगा तो यह कृत्रिम स्थिति स्वय दूर हो जायगी। जहा तक नियोजन का प्रश्न है, यह सच है कि विदेशी व्यापार और विदेशी पूँजी पर कुछ सीमा तक नियन्त्रण रखना आवश्यक है, परन्तु यही तर्क खाद्यान्न-नियन्त्रण पर लागू नहीं किया जा सकता है, क्योंकि योजना को कार्यान्वित करने के लिए यह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस तर्क का कोई महत्व नहीं है कि योजना की सफलता के लिए नियन्त्रण का होना आवश्यक है।

यदि नियन्त्रण कुशलता पूर्वक लागू किए जाते और उनको प्रभावशाली बनाने के लिए कड़े उपायों को अपनाया जाता तो स्थिति मे सुधार होना संभव था, परन्तु भारत में नियन्त्रण जितनी अधिक कठिनाइयाँ हल नहीं कर पाते उससे कहीं अधिक कठिनाइयाँ पेदा कर देते हैं। उपभोक्ताओं, व्यापारियों और दुकान-

दारों सभी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि नियन्त्रण लागू न हो तो विशेष हानि नहीं होती है, परन्तु यदि लागू करके भी उनका कुशलता पूर्वक सचालन न किया जाय तो सुविधा की अपेक्षा कष्ट अधिक बढ़ जाता है और हानि भी होती है। यदि इस प्रकार के नियन्त्रण को हटा दिया जाय तो निश्चय ही स्थिति में सुधार होगा। फिर जब तक नियन्त्रण लागू रहेगा, देश की आर्थिक व्यवस्था अपने सामान्य स्तर पर नहीं आ सकती है। सामग्री नियन्त्रण समिति[1] (Commodity Controls Committee) ने इस बात की ओर ध्यान दिया और यह बताया कि "खाद्यान्न में अब भी कमी बनी हुई है। इसलिए जब तक यातायात सम्बन्धी कठिनाइयाँ हैं और प्राकृतिक विपत्तियों के फलस्वरूप दुर्भिक्ष पड़ने की सम्भावना बनी हुई है तब तक खाद्यान्न की अनुभूति व उपलब्धि में सम्बन्धित आदेश (Foodgrains Licensing and Procurement Order, 1952) व अन्य पूरक आदेशों का पालन किया जाना अनिवार्य है"। जैसा कि बाद की स्थिति से ज्ञात होता है, नियन्त्रण ने स्वयं ही खाद्यान्न का अभाव उत्पन्न कर दिया था। यद्यपि सामग्री नियन्त्रण समिति व अन्य लोगों का विचार था कि वर्तमान परिस्थिति में नियन्त्रण हटाना सम्भव नहीं होगा, किन्तु उसे हटा देने से खाद्यान्न की स्थिति निश्चित रूप से सुधर गई है।

भारत के उस समय खाद्य-मन्त्री स्वर्गीय श्री रफी अहमद किदवई की यह धारणा थी कि खाद्यान्न का नियन्त्रण हटा देने से स्थिति सुधर जायगी। उन्होंने मई १९५२ को अपने एक सार्वजनिक भाषण में कहा कि जिन राज्यों में खाद्यान्न का उत्पादन उनकी आवश्यकता से अधिक हो रहा है वहाँ से नियन्त्रण हट जाना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा कि जिन दो तीन राज्यों के अन्तर्गत देहातों में भी राशनिङ्ग (Rationing) है, वह भी हटा लेना चाहिये। किदवई साहब की इस धारणा का सरकारी और गैर सरकारी दोनों ही क्षेत्रों में विरोध किया गया। किन्तु इस सम्बन्ध में श्री सी० राजगोपालाचारी ने श्रीगणेश किया और २६ जून १९५२ को मद्रास से खाद्यान्न नियन्त्रण हटा लिया। यह विनियन्त्रण की दिशा में पहला कदम था। कुछ प्रारम्भिक कठिनाइयाँ अवश्य हुई किन्तु खाद्यान्न विनियन्त्रण में पर्याप्त सफलता मिली। उत्तर प्रदेश, बिहार आदि कई राज्यों ने मद्रास का

---

[1] सामग्री नियन्त्रण समिति की नियुक्ति २४ अक्टूबर १९५२ को काउन्सिल ऑव स्टेट्स के उपसभापति श्री एस० वी० कृष्णमूर्ति राव की अध्यक्षता में की गई थी। इस समिति ने खाद्यान्न का विनियन्त्रण प्रारम्भ होने के थोड़ा पहिले ही २० जुलाई १९५२ को अपनी रिपोर्ट सरकार को दी थी।

अनुसरण किया और सितम्बर १९५२ तक यह विनियन्त्रण ६ राज्यों में लागू हो गया। धीरे-धीरे यह जोर पकड़ता गया और १९५३ तक केन्द्र व राज्य सरकारों ने खाद्यान्न के वितरण और उसके मूल्य पर से नियन्त्रण हटाने का काम बिल्कुल पूरा कर लिया ज्वार, बाजरा, मक्का, जौ जैसे मोटे अनाजों पर से १ जनवरी १९५४ को नियन्त्रण हटा लिया गया, इसके साथ ही इन मोटे अनाजों का एक राज्य से दूसरे राज्य मे ले जाने पर जो प्रतिबन्ध था वह सौराष्ट्र, मध्यभारत और उत्तर-प्रदेश के ११ जिलों को छोड़कर सभी जगहों से हट गया। बाद को यह प्रतिबन्ध भी हटा लिया गया। चावल का विनियन्त्रण १० जुलाई १९५४ से लागू किया गया। उसे एक राज्य से दूसरे राज्य में ले जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा है और अब देश के सभी भागों मे उसका व्यापार स्वतन्त्रतापूर्वक किया जा सकता है। अभी तक चावल अनिवार्य रूप से प्राप्त करना पड़ता था, किन्तु विनियन्त्रण लागू होने से यह प्रक्रिया समाप्त हो गई है। इसके अतिरिक्त चावल के मूल्य पर सरकारी नियन्त्रण भी बन्द हो गया है।

"जिस क्रमिक विनियन्त्रण (Gradual de control) को राज्यों ने १९५२ में प्रारम्भ किया था, वह चावल का पूर्ण विनियन्त्रण हो जाने के उपरान्त अपनी चरमावस्था पर पहुँच गया"। अंतर-प्रदेशीय प्रतिबन्ध जो गेहूँ के एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के सम्बन्ध में लागू किया गया था वह नियंत्रण का अंतिम रूप था और १८ मार्च १९५५ मे वह भी उठा लिया गया। इसमे १० वर्ष तक लागू नियन्त्रण का अंत हो गया।

विनियन्त्रण के समर्थकों ने यह आशा दिला रखी थी कि खाद्यान्न-नियन्त्रण के फलस्वरूप अकाल, खाद्यान्न के सम्बन्ध में स्थानीय अभाव (Local scarcity) और अन्य आपत्तियाँ उत्पन्न हो जायेंगी, किन्तु भाग्यवश ऐसा कुछ भी घटित नहीं हुआ। सच बात तो यह है कि खाद्यान्न नियन्त्रण के कारण अन्न के अभाव की कृत्रिम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई थीं और जिन अधिकारियों को खाद्यान्न-नियन्त्रण का कार्य-भार सौंपा गया था, स्वार्थरत होकर अपना हित साध रहे थे। नियन्त्रण हट जाने से (१) खाद्यान्न का अभाव होने की जो मनःस्थिति बन गई थी वह दूर हो गई। इसके अतिरिक्त मुनाफा खोरी और चोरबाजारी का भी अन्त हुआ, (२) देश में खाद्यान्न के वितरण की स्थिति सुधर गई, (३) खाद्यान्न का भाव कम हो गया जिसके फलस्वरूप लोगों के रहन-सहन की लागत घटी और किसानों को भी अधिक उत्पादन करने में प्रवृत्त होना पड़ा, जिससे वे उतनी आय का उपार्जन कर सकें जो उन्हें पहले प्राप्त हो रही थी, (४) केन्द्र व राज्य सरकारों के द्वारा खाद्यान्न नियन्त्रण व राशनिङ्ग पर जो व्यय होता था उसमें

कमी आ गई। विनियन्त्रण से यदि कोई हानि हुई है तो यही कि खाद्यान्न नियन्त्रण और राशनिङ्ग विभाग के कर्मचारी बहुत बड़ी संख्या में बेरोजगार हो गये और मुनाफाखोरों व चोरबाजारी करने वालों की आय का एक बहुत बड़ा साधन छिन गया।

खाद्य स्थिति बिगड़ते जाने के फलस्वरूप १६५६ में चावल तथा गेहूँ के मण्डल (zone) निश्चित करके, उचित मूल्य पर बेचने वाली दूकानों द्वारा बिक्री करके तथा खाद्यान्न के व्यापार एवम् लाने-ले जाने पर प्रतिबन्ध लगा कर सीमित नियन्त्रण फिर से लागू किया गया। सरकारी अधिकारियों का एक वर्ग पूर्ण नियन्त्रण के पक्ष में है तथा योजना आयोग के अर्थशास्त्रियों ने भी इस विचार का समर्थन किया। किन्तु, जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, खाद्यान्न जाँच कमेटी के नियन्त्रण के विरुद्ध सिफारिश की।

अध्याय ६

जमींदारी उन्मूलन

आर्थिक दृष्टि से जमींदारी उन्मूलन का विशेष महत्व है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की आर्थिक नीति का यह सदैव महत्वपूर्ण आधार रहा है। विशेषज्ञों की अनेक समितियों ने भी समय-समय पर जमींदारी का उन्मूलन करने की सिफारिश की। १६४७ मे भारत को स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् कांग्रेस सरकार ने जमींदारी उन्मूलन को अपने आर्थिक कार्य-क्रम का महत्वपूर्ण अंग बना लिया और धीरे-धीरे सभी राज्यों में इस नीति को लागू किया है। बहुत से राज्यों ने, जहाँ जमींदारी या इसी के अनुरूप कोई अन्य प्रथा प्रचलित थी, इन विशेषाधिकारों का उन्मूलन करने के लिए कानून बनाए हैं और उत्तर प्रदेश तथा बिहार ने तो जमींदारी का उन्मूलन कर उन पर अपना कब्जा भी कर लिया है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन सरकारों ने मुआवजा देकर जमींदारी-उन्मूलन करने की नीति अपनाई है अर्थात् सरकार ने जमींदार को उसकी जमीन के बदले उपयुक्त मुआवजा (Compensation) दिया है। ३१ मार्च १६५६ तक जमींदारी प्रथा उन्मूलन हो गया तथा ४.३६ करोड़ एकड़ अथवा राज्य की ६६.८ प्रतिशत कृषि जोतों पर भूमि सुधार के उपाय लागू किये गये।

उन्मूलन के पक्ष में तर्क—जमींदारी उन्मूलन करने के समर्थन में अनेक तर्क दिए गए हैं। यह कहा गया है कि जमींदार किसानों का शोषक (Parasite) है और उसने अपने कब्जे की जमीन में कुछ सुधार नहीं किया, भूमि की चकबन्दी (Consolidation of holding) करने में सदैव रुकावट डाली है और किसान को जो जमीन जोतता बोता है भूमि सुधार के लिये अपनी अनुमति नहीं दी है। यदि जमींदार को हटा दिया जाय तो भूमि में सुधार किया जा सकेगा, खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि होगी और भूमि सुधार योजना को कार्यान्वित किया जा सकेगा जिसकी बहुत समय से आवश्यकता अनुभव की जा रही है। यह तर्क बहुत अंशों में सही है, फिर भी इस तथ्य को टाला नहीं जा सकता है कि कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिन पर जमींदार का वश नहीं है और यदि वह वश में रखना भी चाहे तो सफल नहीं हो सकता।

जमींदारी उन्मूलन का समर्थन करते हुए यह भी कहा गया है कि इससे राज्य की भू-राजस्व (Land revenue) आय बढ़ेगी। यह तर्क बिलकुल सही है

क्योंकि १९५१-५२ में राज्यों की भू-राजस्व से प्राय ४७·९६ करोड़ रुपये थी जो बढ़कर १९५७-५८ में (बजट के अनुसार) ९२·५४ करोड़ रुपये हो जायगी। इससे राज्य सरकारें मुआवजे की किश्त चुकाने के बाद अपनी भूमि सुधार तथा ग्राम-पुनर्निर्माण (Rural reconstruction) योजनाओं को लागू कर सकेंगी। परिणामस्वरूप देश के प्रति व्यक्ति की आय में वृद्धि होगी और किसान की स्थिति में सुधार हो सकेगा।

जमींदारी उन्मूलन का प्रश्न आर्थिक होने के साथ ही राजनैतिक भी बताया गया है। देश के मतदाताओं में किसानों की सख्या बहुत अधिक है। किसान वर्तमान स्थिति से बहुत असन्तुष्ट हैं और उनका विचार है कि उनको इस दयनीय स्थिति तक पहुँचाने के लिए केवल जमींदार ही उत्तरदायी हैं। यह सर्वविदित है कि जनतंत्र प्रणाली में बहुमत का निर्णय ही मान्य होता है चाहे उनका दृष्टिकोण कुछ भी हो। इसलिए किसानों के असन्तोष को कम करके उनका मत अनुकूल करने के लिए जमींदारी उन्मूलन को एक साधन बनाया गया है। पिछले वैर-भाव की प्रतिक्रिया के रूप में किसान भविष्य में लागू की जाने वाली किसी भी भूमि सुधार योजना में जमींदारों के साथ सहयोग नहीं करेंगे इसलिए भूमि सुधार योजनाएँ तभी सफल हो सकती हैं जब किसानों तथा राज्य सरकार के मध्यस्थों का उन्मूलन कर दिया जाय।

जमींदारी उन्मूलन के विरुद्ध तर्क—जमींदारी उन्मूलन के विरोध में भी अनेक तर्क दिये गये हैं परन्तु उनमें जान नहीं है। यह कहा गया है कि जमींदार के उन्मूलन से बहुत बड़ी सख्या में लोग बेरोजगार हो जायेंगे, जैसे, जमींदार, उनके जिलेदार, कारिन्दे इत्यादि। इससे केवल जमींदारी की आय पर निर्भर करने वाला वर्ग बहुत कठिनाइयों में पड़ जायगा। परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि किसी भी परिवर्तन के साथ कुछ कठिनाई और अव्यवस्था का होना जरूरी है और इस कठिनाई तथा अव्यवस्था से डरकर परिवर्तन को रोका नहीं जा सकता है। वास्तव में महत्व तो इस बात का होता है कि परिवर्तन से क्या लाभ होगा अथवा उसका क्या परिणाम होगा। यह सही है कि जमींदारी का उन्मूलन कर देने से जमींदारों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा परन्तु इससे किसानों की दशा में सुधार भी होगा और दीर्घकालिक दृष्टिकोण से यह लाभदायक सिद्ध होगा। जमींदारों के कारिन्दे इत्यादि कर्मचारी आरम्भ में बेरोजगार हो जायेंगे परन्तु बाद में उन्हें रोजगार मिल सकता है क्योंकि सरकार को लगान वसूल करने के लिए तथा अन्य कार्यों के लिये कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ेगी। जहाँ तक जमींदारों की कठिनाइयों का प्रश्न है

सरकार जमींदारी के बदले उन्हें मुआवजा देगी और उन्हें अपने जीवन निर्वाह के लिये स्वय अन्य साधनों की खोज करनी चाहिए।

यह भी कहा गया है जमींदारी का उन्मूलन हो जाने से किसान को कई प्रकार से हानि पहुँचेगी। इस समय सामाजिक तथा अन्य कार्यों के लिए जमींदार किसानों को ऋण देता है, लगान वसूली में वह किसान की परिस्थितियों का ध्यान रखता है और उसे अदायगी के लिये समय देता है परन्तु सरकार के कर्मचारी किसान को यह सुविधा नहीं देंगे। केवल जमींदारी का उन्मूलन कर देने से ही भूमि सुधार सम्भव नहीं है, यदि सारी घटनाओं को इसी प्रकार घटित होने दिया जायगा तो देश को लाभ होने की अपेक्षा अधिक हानि होगी। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि किसान की स्थिति मे कुछ परिवर्तन अवश्य होगा परन्तु यदि कार्य का सुचारु-रूप से सचालन किया गया तो किसान की दशा और अधिक बिगड़ जाने की कोई सम्भावना नहीं। आवश्यकता पड़ने पर किसान को कम सूद पर ऋण देने के लिये विशेष सस्थाएँ स्थापित की जा सकती हैं। यदि जमींदारी का उन्मूलन न किया गया तो जिस भूमि सुधार की बहुत समय से आवश्यकता अनुभव की जाती रही है वह कभी लागू न हो सकेगा। जमींदारी उन्मूलन से जो अव्यवस्था पैदा होगी उसका सामना करना पड़ेगा और जितना शीघ्र यह हो सके उतना ही अच्छा है। इससे सुधार करने के लिये मार्ग खुल जायगा और कुछ समय तक अस्थायी अव्यवस्था के पश्चात् भूमि का उत्पादन बढ़ेगा, किसान की दशा सुधरेगी और देश की आर्थिक समृद्धि बढ़ेगी।

उन्मूलन योजना—जमींदारी उन्मूलन कार्य "अस्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्र में अपेक्षाकृत सरल था, जैसे उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश, क्योंकि यहाँ आवश्यक लेखा तथा इस कार्य को करने वाले अधिकारी उपलब्ध थे। स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में जैसे बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बगाल तथा जागीरदारी क्षेत्रों जैसे राजस्थान और सौराष्ट्र में सब लेखा तैयार करना और नये सिरे से अधिकारियों की नियुक्ति आवश्यक थी। जो कुछ भी हो मध्यस्थो को हटा देने के कानून अधिकाँश प्रदेशो में लागू कर दिये गये हैं"।

जमींदारी उन्मूलन में साधारणतया निम्न उपायो का प्रयोग किया गया है : (१) वे भूमि के भाग जो परती पड़े थे, जगल, आबादी के क्षेत्र, आदि जो मध्यस्थों के अधिकार मे थे, प्रबन्ध और सुधार के लिये सरकार के अधिकार में दे दिये गये। (२) खुदकाश्त की भूमि तथा निजी फार्म के क्षेत्र, जिनकी देख-रेख स्वय जमींदार ही करते थे उन्ही के अधिकार में रहने दिये गये और वे काश्तकार जिन्होंने ऐसी भूमि पट्टे पर जमींदारों से ले रक्खी थी काश्तकार (tenant) की

हैसियत से उन्हीं के अधिकार में छोड़ दी गई। (३) बहुत से राज्यों में प्रधान आसामी जिन्हें मध्यस्थों से सीधे भूमि प्राप्त थी सीधे राज्य की सरकारों से सम्बन्धित कर दिये गये। बम्बई, हैदराबाद और मैसूर में इनामों से प्राप्त भूमि के सम्बन्ध में यह बात नहीं लागू की गई थी। इन प्रदेशों में मध्यस्थों को आसामियों से लेकर कुछ भूमि दी गई। कुछ प्रदेशों में आसामियों को स्थायी तथा हस्तांतरण का अधिकार प्राप्त था, इसलिये अब यह आवश्यक नहीं था कि उन्हें और अधिक अधिकार प्रदान किये जायें। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, मैसूर और दिल्ली राज्यों में आसामियों को भूमिधारी अधिकार प्राप्त करने के लिये उसका मूल्य चुकाने का अवसर दिया गया। आन्ध्र, मद्रास, राजस्थान, सौराष्ट्र (खाली क्षेत्र) व मध्य भारत, हैदराबाद (जागीर क्षेत्र) और अजमेर में या तो आसामियों के अधिकार बढ़ा दिये गये अथवा उनका लगान घटा दिया गया और उनसे कोई मूल्य नहीं वसूला गया"।

"मध्यस्थों को दिये जाने वाले मुआवजे और पुनर्वास में सहायता के रूप में दी जाने वाली रकम का अनुमान लगभग ४५० करोड़ रुपया लगाया गया है। इस रकम का ७०% केवल उत्तर प्रदेश और बिहार में दिया जाने वाला मुआवजा है।

मुआवजे का अधिकार—विभिन्न जमींदारी उन्मूलन कानूनों में मुआवजे के विभिन्न आधार दिये गये हैं। आसाम, बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश में मुआवजे का आधार भूमि से प्राप्त होने वाली 'वास्तविक आय' (net income) है। उत्तर प्रदेश में यह आधार 'वास्तविक सम्पत्ति' (net assets) और मद्रास में मूलभूत वार्षिक आय' (Basic annual sum) है। वास्तविक आय और वास्तविक सम्पत्ति के आधार लगभग समान ही हैं। जमींदारी की कुल आय में से भूराजस्व उपकर (cess), प्रबन्ध का व्यय, रैय्यत के लाभ के लिये किये गये कार्यों में व्यय और कृषि आयकर इत्यादि घटाकर ही वास्तविक आय (net income) निकाली जाती है। प्रबन्ध और रैय्यत (ryot) के लाभ के लिये किये गए कार्य में जो रकम व्यय की जाती है वह सभी राज्यों में समान नहीं है। वास्तविक आय निश्चित करने के पश्चात् इसी आधार पर मुआवजा निर्धारित किया गया है। मद्रास में 'मूलभूत वार्षिक आय' निकालने के लिए रैय्यतवाड़ी से प्राप्त वार्षिक आय के एक तिहाई भाग में से पाँच प्रतिशत कर्मचारियों पर व्यय करने और वसूली न हो सकने के लिए अलग कर दिया जाता है और ३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत सिंचाई व्यवस्था को चलाने के लिये काट लिया जाता है। इससे जो आय शेष रहती है वही 'मूलभूत वार्षिक आय' कहलाती है। यह ढंग अन्य राज्यों से भिन्न है क्योंकि

मुआवजा जमींदार से प्राप्त होने वाली वर्तमान वास्तविक आय पर आधारित न होकर रय्यतवाड़ी प्रथा लागू होने के बाद भू-राजस्व के २५ प्रतिशत पर आधारित होगा।

उत्तर प्रदेश में मुआवजे की दर वास्तविक सम्पत्ति का आठ गुना है। इसके साथ ही जो जमींदार १०,००० रुपये से अधिक भू-राजस्व नहीं देते उनको जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् वास्तविक सम्पत्ति के २० गुने से लेकर एक गुना तक पुनर्वास अनुदान दिए जायेंगे। यह अनुदान कम आय वाले जमींदारों के लिये सबसे अधिक गुने होंगे और अधिक आय वालों के लिये क्रमशः कम होते जायेंगे मध्यस्थों को दिया जाने वाला मुआवजा तथा पुनर्वास अनुदान का अनुमान क्रमशः ७५ करोड़ रुपया तथा ७० करोड़ रुपया है।

मुआवजे के चुकाने में सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि मुआवजा नकद दिया जाय या बेचे न जा सकने वाले बाण्डों के रूप में। जमींदारों के दृष्टिकोण से यदि मुआवजा नकद दिया जाता तो सर्वोत्तम होता क्योंकि इससे वह कोई नया कारोबार खोलते या उद्योगों में रुपया लगाते जिससे उन्हे बराबर आय होती रहती। परन्तु मुआवजे की रकम को नकद अदा करना सम्भव नहीं है क्योंकि राज्य सरकारें इतना अधिक धन नकद देने की व्यवस्था नहीं कर सकती है। उनके पास इसके भुगतान के लिए रुपया नहीं है। उत्तर प्रदेश में जहा जमींदार उन्मूलन कोष का निर्माण किया गया है, किसानों को अपने लगान का १० गुना जमा कर भूमिधारी अधिकार लेने को प्रोत्साहित किया जा रहा है फिर भी अभी तक बहुत कम रुपया इकट्ठा हो सका है। मुआवजा बेचे न जा सकने वाले बाण्डों के रूप मे दिया गया। परन्तु इस विधि से जमींदार के प्रति पूरा-पूरा न्याय नहीं होता है क्योंकि जमींदारो को उनके मुआवजे की रकम और उस पर ब्याज का भुगतान काफी लम्बे समय में किया जायगा और इस बीच अपना वर्तमान खर्च चलाने में तथा कोई नया कारोबार स्थापित करने में जमींदारों को बहुत कठिनाई होगी।

अन्य प्रणाली—जमींदारी उन्मूलन कर देने से ही सारी समस्या का हल होना सम्भव नहीं है। यदि इसके बाद भूमि सुधार लागू नहीं किए तो जमींदारी उन्मूलन का लाभ नहीं उठाया जा सकता है। इस विषय में मुख्य समस्याएँ यह हैं · (१) जमींदारी उन्मूलन के बाद भूमि पर अधिकार की व्यवस्था, (२) कृषि के रूप (form of cultivation), और (३) भू-राजस्व वसूल करने के लिए और चरागाह, बंजर जैसी जमीन की देख रेख करने के लिए सरकार की ओर से निर्धारित उपयुक्त संस्था।

अब तक भूमि सुधार का मुख्य उद्देश्य कृषक को स्वामित्व के अधिकार प्रदान करना था। भूमि के हस्तातरण के सम्बन्ध मे भूस्वामी के अधिकारों पर कुछ प्रतिबन्ध इसलिये रखे गये हैं ताकि जोते बहुत बडी या बहुत छोटी न हो जॉय और भूमि गैर-कृषकों के हाथ न चली जाय। "भूमि सुधार के उपायों के लागू होने के बाद जमींदारी और जागीरदारी क्षेत्रों से अधिकाश कृषकों के भूमि सम्बन्धी स्वामित्व के, अधिकार प्राप्त कर लिये हैं। इस प्रकार मौरुसी रैय्यत (occupancy raiyat), नियत लगान वाले रैय्यत आदि भू-स्वामी बन गये। गैर मौरुसी रैय्यत और रैय्यत के नीचे वाले किसान, सामान्यत मूल्य चुकाकर ही भूस्वामी बन सकते हैं। यह सब तथा पूर्ववर्ती मध्यस्थ जो अपनी सीर और खुदकाश्त के मालिक बने हुये है। अधिकतर राज्य के काश्तकार कहलाते हैं किन्तु वास्तव मे वे अपनी भूमि के स्वामी है और उनके अधिकार रैय्यतवारी क्षेत्रो के भू-स्वामियो की तरह ही हैं।"

अधिकाश राज्यों में भूस्वामियो को अपनी भूमि बेचने का अधिकार है यद्यपि इस पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य हैं। उत्तर प्रदेश मे भूमि धर, मध्यप्रदेश में भूमि स्वामी और भूमिधारी, बिहार मे भू-स्वामी और मौरुसी काश्तकार, पश्चिमी बगाल में रैय्यत, आसाम मे भू-स्वामी, विशेष अधिकार प्राप्त रैय्यत, मौरुसी रैय्यत, लगान या सदैव के लिये निश्चित लगान देने वाले काश्तकार, हैदराबाद और बम्बई में भूमि वाले किसान, पजाब में भू स्वामी और मौरुसी काश्तकार, उड़ीसा में भू-स्वामी और मौरुसी काश्तकार, पेप्सू मे भू-स्वामी, राजस्थान में खातेदार काश्तकार, मध्यभारत में पक्के काश्तकार इत्यादि सभी को अपनी भूमि बेचने के अधिकार प्राप्त हैं। भूमि बेचने पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध अवश्य हैं जैसे (अ) किस प्रकार के व्यक्तियों को भूमि बेची जा सकती है (ब) किस सीमा तक भूमि बेची जा सकती है, खरीदी भूमि के लिये अधिकतम सीमा होती है तथा बेचने वाले के पास शेष भूमि के लिये निम्नतम सीमा होती है।"

"अनेक राज्यों में गैर-कृषको को भूमि बेचने की मनाही है। बम्बई हैदराबाद, मध्यभारत और सौराष्ट्र में कानूनन गैर कृषकों को भूमि बेचने की आज्ञा नहीं है। बम्बई और पश्चिमी बगाल मे अनुमति प्राप्त खरीदारों की प्राथमिकता का क्रम निश्चित है। प्राथमिकता में पहला नम्बर उन काश्तकारों का है जो भूमि पर वास्तव में काबिज हैं। इसके बाद पड़ोसी कृषको का नम्बर हैं तथा इसी तरह लोगों का क्रम निश्चित है।"

"उत्तरप्रदेश में यद्यपि भूमिधार को अपनी जोतो को बेचने का अधिकार है किन्तु इस पर यह प्रतिबन्ध है कि धार्मिक सस्था के अलावा किसी अन्य

व्यक्ति को बेचने पर खरीदने वाले की जोत ३० एकड़ से अधिक न हो जाय। बम्बई में यह सीमा १२ एकड़ से ४८ एकड़ (जो भूमि की किस्म पर निर्भर है) है। हैदराबाद में यह सीमा पारिवारिक जोत की तीन गुनी है। मध्यभारत में यह ५० एकड़, पश्चिमी बंगाल में २५ एकड़ (जिसमे घर से सलग्न खेत नहीं शामिल हैं) दिल्ली में ३० स्टेन्डर्ड एकड़, राजस्थान मे ६० असिंचित एकड़ या ३० सिंचित एकड़, आसाम मे एक परिवार के लिये १५० बीघा (४६$\frac{2}{3}$ एकड़) तथा सौराष्ट्र मे तीन आर्थिक जोत है।"

बम्बई, हैदराबाद और मध्यभारत मे ऐसी कोई भूमि नहीं बेची जा सकती जो बेचने वाले की जोत को निर्धारित सीमा से कम कर दे। उदाहरण के लिये बम्बई में कोई भी जोत बेचकर या किसी अन्य प्रकार इस तरह विभाजित नहीं की जा सकती कि उसके (एक गुंठा या चार एकड़ सीमा भूमि पर निर्भर है) टुकड़े हो जॉय। हैदराबाद में एक (स्टेन्डर्ड) निश्चित क्षेत्रफल निर्धारित करने की व्यवस्था किसी भी हालत मे भूमि इससे कम क्षेत्रो में नहीं विभाजित की जा सकती। इसी प्रकार मध्य प्रदेश में पक्का काश्तकार अपनी भूमि तभी बेच सकता है जब कि वह अपनी कुल भूमि बेचने से तैयार हो अथवा बेचने के बाद उसके पास ५ सिंचित एकड़ या १५ असिंचित एकड़ भूमि बच रही हो।"

इन सब प्रतिबन्धो के बावजूद भी, अधिकाश राज्यों मे जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् कृषकों का भू-स्वामित्व हो जायगा तथा प्रत्येक किसान अपनी जमीने जोतेगा। यदि ऐसा हुआ तो बहुत बड़ी सीमा तक जमींदारी उन्मूलन के लाभ व्यर्थ हो जॉयगे। कृषक के पास अपनी भूमि मे सुधार करने तथा कृषि के सुधारे हुये ढगों का प्रयोग करने के लिये साधन नहीं है।

भूमि से उत्पादन की मात्रा तभी बढाई जा सकती है जब बड़े क्षेत्रो मे खेती की जाय और आवश्यकता पड़ने पर मशीनो का उपयोग किया जाय। उत्पादन में वृद्धि होने से किसान की आय में भी वृद्धि होना स्वाभाविक है। उत्तर प्रदेश कानून मे दो तरह की सहकारी-कृषि प्रणालियों की व्यवस्था की गई है—(१) ५० एकड़ या अधिक के ऐसे छोटे फार्म जो १० या अधिक किसानो ने स्वेच्छा से समझौता करके बनाए हों और (२) आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त जमीनों को मिलाकर सगठित सहकारी फार्म। यदि दूसरे प्रकार के फार्म के कुल सदस्यो के दो तिहाई यह मॉग करते हैं कि इन छोटे फार्मो को मिलाकर एक बड़ा फार्म बनाया जाय तो शेष एक तिहाई को अनिवार्य रूप से यह मॉग माननी पड़ेगी। परन्तु इससे समस्या नहीं सुलझ सकती। सहकारी फार्म की प्रणाली लागू करने के लिए काफी परिश्रम करना पडेगा।

अध्याय ७

भूमि की चकबन्दी

भारत मे भूमि को छोटे-छोटे हिस्सों में विभक्त कर देने से गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई है। भारत के किसान भूमि के छोटे छोटे अलग-अलग बिखरे हुए टुकड़ों में खेती करते हैं जिससे खाद्यान्न तथा अन्य सामग्री का उत्पादन कम होता है और किसान की गरीबी बढ़ती जाती है। इसके अनेक कारण हैं जिनमें से मुख्य इस प्रकार हैं, (१) भूमि पर जनसंख्या का दबाव और मौरुसी हक सम्बन्धी कानून। परिवार के प्रधान के मरने पर जमीन उसके पुत्रों तथा अन्य सम्बन्धियों में बॉट दी जाती है। बॉटते समय इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता है कि इन भूमि के छोटे-छोटे हिस्सों से हिस्सेदारों का जीवन-निर्वाह नहीं हो सकेगा, इनमे जो कुछ उत्पादन होगा उससे वह अपना भरण-पोषण नहीं कर सकेंगे। (२) किसान के ऋणी होने तथा अन्य कारणों से भूमि का बिक जाना। भारत के किसान ऋण के बोझ से दब जाने के कारण अपनी जमीन रेहन रख देते हैं और ऋण न चुका सकने पर उस जमीन को ऋणदाता बेच देता है या स्वय ले लेता है, इससे जो जमीन पहले से ही छोटे छोटे टुकड़ों मे थी अब और अधिक विभक्त हो जाती है। यदि किसान के सयुक्त परिवार के एक सदस्य का हिस्सा ऋण न चुका सकने अथवा अन्य किसी कारण मे बेच दिया जाता है तो शेष भूमि कम हो जाती है और जब उसका विभाजन किया जाता है तो वह और छोटे छोटे टुकड़ो मे बॅटती जाती है। (३) किसान इस बात से अनभिज्ञ है कि भूमि का छोटे-छोटे हिस्सों मे बँट जाना बुरा है। यह अनुभव किया गया है कि किसान भूमि की चकबन्दी के लिये शीघ्र तैयार नहीं होता। इसके लिये उसे काफी समझाना पड़ता है और दबाव डालना पड़ता है। भूमि की चकबन्दी से उत्पादन बढ़ता है तथा कृषक की चिंता भी कम हो जाती है इससे हम छोटे-छोटे हिस्सों मे विभक्त होने की गम्भीर समस्या को ही हल नहीं कर लेते बल्कि ग्राम योजना मे, खेल के मैदान, स्कूल, गढ्ढे आदि बनाने में भी सहायता मिलती है।

हानियॉ—भूमि का विभाजन और उसका छोटे-छोटे टुकड़ो में बट जाना एक गम्भीर दोष है। इससे अनेक हानियॉ होती हैं (१) इससे भूमि में सुधार नहीं किया जा सकता। भूमि छोटे टुकड़ों में बॅटी होने के कारण किसान अपनी खेती के लिये न कुआँ खोद पाता है, न मशीनों का उपयोग कर पाता है और न

अन्य प्रकार के सुधारों को ही लागू कर पाता है। इससे भूमि की उत्पादन शक्ति नहीं बढने पाती और उत्पादन गिरता जाता है। (२) भूमि के छो-छोटे टुकड़ों मे बँटे रहने के कारण बहुत सी जमीन एक हिस्से को दूसरे हिस्से से अलग करने के लिये मेढ़ बाँधने में व्यर्थ नष्ट हो जाती है और भूमि के टुकडे बिखरे होने के कारण किसान अपनी खेती की अच्छी तरह देख-भाल भी नहीं कर पाता है। इसस फसल में गहरी हानि होने की हमेशा आशंका बनी रहती है। और (३) किसान को एक भाग से दूसरे भाग में आने-जाने मे ही बहुत सा समय नष्ट करना पड़ता है।

यह कहा गया है कि भूमि को छोटे-छोटे हिस्सों में बँटे रहने से किसान को लाभ है क्योंकि इससे गाँव के अनेक भागों में प्रत्येक किसान की कुछ न कुछ भूमि रहती है। यदि बाढ तथा टिड्डी इत्यादि का सकट आ जाय तो उसकी सारी भूमि नष्ट होने से बच जाती है। यदि एक भाग इस संकट से नष्ट भी हो जाय तो अन्य भाग दूर होने के कारण बचाये जा सकते हैं। दूसरा लाभ यह बताया जाता है कि भूमि के इस प्रकार के बँटवारे से गाँव की अधिकाश जनता के पास भूमि हो जाती है। यदि यह बँटवारा न किया जाय तो बहुत से ग्रामीण बिना भूमि के रह जायँगे। परन्तु ध्यान पूर्वक अध्ययन करने से पता चलेगा कि यह दोनो लाभ काल्पनिक हैं। ऐसा बहुत कम समव है कि प्रकृति के कोप से गाँव का एक ही भाग नष्ट हो और शेप भाग बच जाय। यदि कभी ऐसा हुआ भी तो इससे किसान को बहुत कम लाभ होगा, वर्षों से छोटे-छोटे टुकड़ों में खेती करने से किसानो को जो हानि होती है वह इस सभावित लाभ की अपेक्षा कहीं अधिक है। और जहा तक भूमि-विहीन मजदूरों का प्रश्न है यह भूमि के बँटवारे या उसे छोटे छोटे हिस्सों में विभक्त करने से हल नहीं किया जा सकता है। वास्तव में मुख्य समस्या यह है कि किसान को इस योग्य बनाया जाय कि वह रहन-सहन का एक उचित स्तर बनाये रख सके। कुल परिवार के पास सयुक्त रूप से जितनी भूमि है यदि उसका उसके सदस्यो मे विभाजन कर दिया जाय और प्रत्येक सदस्य को कुछ न कुछ भूमि दे दी जाय तो इसमे रहन सहन का उचित स्तर नहीं रखा जा सकता। इन छोटे-छोटे भागों से किसान अच्छी तरह जीवन-निर्वाह कर सकने में असमर्थ होता है। यदि भूमि का इस प्रकार बँटवारा न किया जाता तो शायद वह असमर्थ न होता। भूमि-विहीन मजदूरों की समस्या को हल करने के लिए सरकार को अन्य उपायों से काम लेना पडेगा।

यह खेद की बात है कि भूमि के बँटवारे और उसके छोटे-छोटे भागों मे विभक्त हो जाने की गम्भीर समस्या के सम्बन्ध मे कोई निश्चित सूचना उपलब्ध

नहीं है। कृषि सम्बन्धी रायल कमीशन (Royal Commission on Agriculture) की रिपोर्ट से केवल यह सूचना मिलती है कि विभिन्न राज्यों में प्रत्येक व्यक्ति के पास औसतन कितनी जमीन है। इस सूचना से समस्या की पूर्ण जानकारी नहीं होती। किसानों के पास औसत भूमि उत्तर प्रदेश, मद्रास, त्रिवांकुरकोचीन और हिमाचल प्रदेश में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कम है। उत्तर प्रदेश में भूमि प्राप्त कुल व्यक्तियों में से ८१.२ प्रतिशत के पास ५ एकड़ से कम भूमि है और यह कुल काश्त की जाने वाली भूमि का ३८.८ प्रतिशत है।

मद्रास में ८२.२ प्रतिशत के पास १० रुपया या इससे कम वार्षिक लगान की भूमि है जो काश्त की जाने वाली भूमि का ४१.२ प्रतिशत है। त्रिवांकुर-कोचीन में ६४.१ प्रतिशत के पास ५ एकड़ से कम भूमि है जो कुल काश्त की जाने वाली भूमि ४४ प्रतिशत है। अन्य राज्यों में भी यह समस्या गम्भीर है। और इससे किसानों को आय में हानि सहनी पड़ी है।

रीति (Methods)—भूमि की चकबन्दी करने की दो मुख्य रीतियाँ हैं : (१) स्वयं किसानों में परस्पर स्वेच्छापूर्वक सहयोग की भावना के द्वारा और (२) सरकार द्वारा चकबन्दी अनिवार्य कर देने से। जहाँ तक स्वेच्छापूर्वक सहयोग करने का प्रश्न है इसमें काफी देर लगती है और चकबन्दी का कार्य शीघ्रता में नहीं हो पाता। कहीं कहीं जमींदार या महाजन चकबन्दी के कार्य में रुकावट पैदा कर देते हैं। इसके साथ ही किसानों का यह समझाना बहुत कठिन है कि चकबन्दी से उनका लाभ होगा। किसान न तो अपनी भूमि छोड़ने के लिए तैयार होता है और न इस काम में छोटा-मोटा व्यय करने को राजी होता है। परन्तु यदि भूमि की चकबन्दी अनिवार्य कर दी जाय तो किसान इसका विरोध करता है। वह समझता है कि भूमि की चकबन्दी से उसके हितों को चोट पहुँचेगी। यदि चकबन्दी योजना को लागू करने वाले कर्मचारी कमजोर और अकुशल हुए हुए तो अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो जाने की सम्भावना रहती है। परन्तु स्वेच्छा-पूर्वक सहयोग करके भूमि की चकबन्दी कराने का परिणाम निराशाजनक ही रहा है इसलिए इस योजना को अनिवार्य कर देने में ही अधिक लाभ हो सकने की सम्भावना है।

इस दिशा में भूमि की चकबन्दी प्रथम प्रयास है। वास्तव में प्रयत्न इस बात का करना है कि भूमि का और बटवारा न हो अन्यथा चकबन्दी से कुछ लाभ सम्भव नहीं। यदि भूमि छोटे टुकड़ों में बँटती गई तो चकबन्दी का उद्देश्य ही विफल हो जायगा। भूमि की चकबन्दी के प्रश्न का इस बात से गहरा सम्बन्ध है कि प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक कितनी एकड़ भूमि रख सकता है।

"उत्तर प्रदेश मे कम से कम सीमा ६$\frac{1}{4}$ एकड़ भूमि प्रति व्यक्ति रक्खी गई है, मध्य भारत में यह सीमा सिंचाई की सुविधा प्राप्त भूमि के लिये ५ एकड़ और जहाँ सिंचाई की सुविधा नही प्राप्त है वहाँ १५ एकड़ निश्चित की गई है। आसाम मे पंचायत एक्ट के अनुसार पंचायत को अधिकार है कि यदि उन लोगों मे से जिनके लिये यह निर्माण किया जा रहा है $\frac{2}{3}$ इस बात पर राजी हो जायँ तो प्रत्येक किसान के लिये कम से कम भूमि की सीमा १२ बीघा निश्चित कर सकते हैं। बम्बई, पंजाब और पेप्सू में चकबन्दी एक्ट ने राज्यों को यह अधिकार दिया है कि वे जितना भी उपयुक्त समझें प्रति किसान भूमि की सीमा निश्चित कर दे। बम्बई की सरकार ने इसलिये भूमि की विभिन्न न्यूनतम सीमाये १० गुन्ठे से लगा कर ६ एकड़ तक अपने विभिन्न जिलों मे नियत कर दी हैं। इन सब राज्यों मे ऐसे बटवारो पर रोक लगा दी गई है जिनके परिणाम स्वरूप बँट कर न्यूनतम सीमा मे कम हो जायगी"। यदि ये प्रतिबन्ध न लगाये जायँ तो चकबन्दी के लाभ भविष्य में होने वाले बँटवारे के कारण न मिल सकेंगे।

कानून—बम्बई, मध्य प्रदेश, पंजाब, उत्तर प्रदेश, पेप्सू, जम्मू और काश्मीर में चकबन्दी के सम्बन्ध मे विशेष कानून पास किये गये हैं। देहली ने पंजाब एक्ट को अपना लिया है और उड़ीसा ने १६५१ के एग्रीकल्चर एक्ट मे कुछ चकबन्दी सम्बन्धी नियम जोड़ दिये हैं। हैदराबाद, सौराष्ट्र, बिलासपुर और राजस्थान मे इस सम्बन्ध में कानून विचाराधीन है। आरम्भ में कानून अनुमति प्रदान करने वाले (Permissive) थे और विशेष पदाधिकारियों के द्वारा अदला बदली में सहायता तथा छूट आदि का प्रबन्ध करते थे। बड़ौदा एक्ट इसी ढंग का था। सहकारी समितियाँ किसानों के लिये स्वेच्छा से चकबन्दी कराने में विशेष सहायक हो सकतीं थीं। जो कानून पास किये गये हैं उन्हें हम दो वर्गों में रख सकते हैं (१) वे कानून जो किसानों को यदि उस गाँव में निश्चित प्रतिशत किसान राजी हों तो चकबन्दी के लिये बाध्य कर सकते थे और (२) वे कानून जो राज्यो को यह अधिकार प्रदान करते थे कि वे अपनी ओर से चकबन्दी की योजनाओ को लागू करे। मध्य प्रदेश, जम्मू और काश्मीर के कानून पहिले वर्ग में और पंजाब पेप्सू, देहली और बम्बई के कानून दूसरे वर्ग में आते हैं"। मध्य प्रदेश के कानून के अनुसार यदि किसी महाल, पट्टी अथवा गाँव के कम से कम आधे निवासी जिनके हिस्से में गाँव की $\frac{2}{3}$ भूमि आती है मिलकर चकबन्दी की योजना के लागू कराने की प्रार्थना करें और यदि चकबन्दी योजना पक्की हो चुकी है तो सब भूमि पर अधिकार रखने वालों को चकबन्दी योजना स्वीकार करने के लिये बाध्य किया जा सकता है। जम्मू और काश्मीर के एक्ट के अनुसार यदि $\frac{2}{3}$ किसान जिनके

अधिकार में किसी गाँव के ¾ खेत हैं और वे चकबन्दी की योजना स्वीकार करते हैं तो वह योजना पक्की मान ली जायगी और लागू कर दी जायगी। इन कानूनों के कारण जो थोड़े से व्यक्ति योजना को अस्वीकार करते हैं उन्हें भी योजना के अन्तर्गत लाकर उनकी सफलता निश्चित कर दी गई है।

उत्तर प्रदेश के कानून—'देश में लागू किये हुये कानूनों की प्रवृत्ति के अनुसार ही उत्तर प्रदेश ने भी इस सम्बन्ध में एक नया कानून पास किया है जिसके अनुसार राज्य अपनी ओर से अनिवार्य रूप से चकबन्दी लागू कर सकता है। यह नया कानून १९३९ के कानून के स्थान पर (जो चकबन्दी अनिवार्य रूप से लागू करने की नहीं अनुमति देता था जब कि किसी गाँव के एक विशेष प्रतिशत लोग चकबन्दी के लिये अपनी स्वीकृति देते थे) पूर्ण रूप से लागू कर दिया गया है'। १९५३ के उत्तर प्रदेश भूमि चकबन्दी एक्ट में अनिवार्य रूप से उसे लागू करने की अनुमति प्राप्त है। यह कानून उ० प्र० की सरकार द्वारा नियुक्त चकबन्दी कमेटी की सिफारिशों के आधार पर बनाया गया है और पंजाब के कानून की ही तरह का है।

इस कानून के आधारभूत सिद्धान्त निम्न हैं—(१) प्रत्येक पट्टेदार को जहाँ तक सम्भव हो सके वहीं पर भूमि दी जायगी जिस क्षेत्र में उसकी अधिकांश भूमि है, (२) प्रत्येक गाँव की भूमि का वर्गीकरण निम्न क्षेत्रों में किया जायगा, (क) चावल पैदा करने वाले क्षेत्र, (ख) चावल को छोड़ कर अन्य एक फसली क्षेत्र, (ग) दो फसली क्षेत्र, और (घ) कछार भूमि के क्षेत्र, (३) केवल उन्हीं पट्टेदारों को उस क्षेत्र में भूमि दी जायगी जहाँ पर पहिले से ही उनकी भूमि है, (४) प्रत्येक पट्टेदार को उतने ही चक दिये जायेंगे जितने कि गाँव में क्षेत्र (आबादी के क्षेत्र को छोड़कर) बनाये गये हैं जब तक कि किसी गाँव में केवल एक ही क्षेत्र न हो और उस क्षेत्र की भूमि एक प्रकार की न हो; (५) एक परिवार के पट्टेदारों को यथासम्भव एक दूसरे के पड़ोस में ही चक दिये जायेंगे, (६) पट्टेदारों के निवास स्थान की स्थिति और यदि उसने कोई सुधार किया है तो उन्हें चक देने में इन बातों का विशेष ध्यान रक्खा जायगा, (७) यदि कोई चक या फार्म पहिले से ही ६¼ एकड़ या अधिक है तो यथासम्भव वह न तो विभाजित किया जायगा और न घटाया ही जायगा'। इन सिद्धान्तों से न्यूनतम गड़बड़ी तथा किसानों को अधिकतम लाभ होने की सम्भावना है।

इस कानून के अन्तर्गत चकबन्दी के कार्य को करने का एक विशद क्रम दिया हुआ है। उसको कार्यान्वित करने के पहिले प्रत्येक किसान के प्लाटों का लेखा उनके क्षेत्रफलों के साथ तथा प्रत्येक का लगान व मालगुजारी आदि के

सहित तैयार किया जायगा। एक ऐसी तालिका तैयार की जायगी जिसमे प्रत्येक पट्टेदार के कुल खेतों का क्षेत्रफल जो उनके पास विभिन्न प्रकार के आसामी अधिकारों के अन्तर्गत है तथा उसे जितनी मालगुजारी अथवा उसका लगान देना पड़ता है, तैयार किया जायगा। जब यह हिसाब पक्के तौर पर तैयार हो जायगा तब किसानो को चक देन की शर्तें तैयार की जायगी जिसमे यह दिखाया जायगा कि कौन कौन से प्लाट प्रत्येक पट्टेदार को उसके पुराने खेतो के बदले में दिये जायँगे तथा यदि नये सिरे से दिये हुये प्लाट उसके पुराने प्लाटों की तुलना मे कम मूल्य के हैं तो क्या मुआवजा दिया जायगा और उसके कुओं, पेड़ो और इमारतों के बदले मे क्या मुआवजा दिया जायगा इत्यादि। इस प्रस्ताव पर किसानो को उजरदारी करने का अधिकार होगा। परन्तु उजरदारी का जवाब दिये जाने पर प्रस्ताव पक्का हो जायगा और चकबन्दी योजना लागू हो जायगी। इसके पश्चात् चक को दिये जाने का हुक्म जारी हो जायगा जिसमे यह दिखाया जायगा कि योजना के अनुसार कौन-कौन से नये खेत किसके हिस्से मे आगए हैं और उन्हें उन पर अधिकार दे दिया जायगा। इस बात का ध्यान रक्खा जायगा कि किसानों को चक उसी क्षेत्र मे दिया जाय जहाँ पर उनके अधिकाँश खेत हैं। भूमि पर अधिकार के सम्बन्ध मे निर्णय ऐसे निर्णायक द्वारा किया जायगा जिसे सरकार उन न्याय-कार्य सम्बन्धी अफसरों मे से नियुक्त करेगी जिन्हें कम से कम ७ वर्ष तक का अनुभव है। किसानों से भी राय ली जायगी और उन्हें आपत्ति करने का अधिकार होगा परन्तु जब योजना पक्की हो जायगी तब सब को उसे मान लेना पडेगा। यह चकबन्दी योजना न्यायालयो के कार्य-क्षेत्र के बाहर इसलिए मानी गई है कि इस सम्बन्ध में मुकदमेबाजी न हो। एक्ट के अनुसार चकबन्दी का खर्चा ४ रु० प्रति एकड़ नियत कर दिया गया है जो योजना मे सम्मिलित विभिन्न व्यक्तियों मे बँट जायगा ताकि सरकार को यह खर्च न उठाना पडे। जिनके खेतो की चकबन्दी की जायगी उन्हे पैमाइश तथा अन्य प्रकार के शारीरिक श्रम वाले कार्य करने मे सहयोग देना होगा और जो यह न कर सकेंगे तो उन्हें २ रु० ८ आना प्रति एकड़ के हिसाब से श्रम के बदले मे खर्च के प्रति देना पडेगा। यह कानून मुजफ्फरनगर और सुल्तानपुर जिलो में लागू कर दिया गया है। थोड़ा अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् पहिले यह २० जिलों में और लागू किया जायगा। आशा की जाती है उत्तर प्रदेश मे इस कानून के अन्तर्गत चकबन्दी का कार्य बहुत सुगम होगा।

कठिनाइयाँ—चकबन्दी-कार्य बहुत कठिनाइयों से भरा हुआ है। कुछ कठिनाइयाँ तो मनोवैज्ञानिक है और कुछ प्रयोगात्मक। (१) बहुत सी जगहों

पर भूमि अधिकारों का कोई लेखा प्राप्त नहीं है। पजाब में देश के बँटवारे के पश्चात् सारे लगान सम्बन्धी लेखों के खो जाने के कारण बडी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

(२) चकबन्दी का कार्य औद्योगिक ढग का है। इसके करने वालों को पैमाइश, बन्दोबस्त, भूमि के वर्गीकरण, भूमि के मूल्याकन तथा पटटेदारी सम्बधी ज्ञान आवश्यक है। ऐसे कार्यकर्त्ताओं की कमी के कारण चकबन्दी के कार्य में बाधा पडी है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये कुछ प्रदेशों में ऐसे अफसरों को इस कार्य के लिये विशेष ट्रेनिंग देने का आयोजन किया गया है।

(३) इस कार्य में किसानों की रुढिवादिता और पीढियों से अधिकार में स्थित भूमि के प्रति मोह के कारण भी बाधा पडी है। जमींदारों और अन्य असामाजिक वर्गों द्वारा बाधा उपस्थित करने से भी काम में रुकावट पहुँची है। शान्तिपूर्वक जनता में इस कार्य के प्रति प्रचार तथा जानकारी की वृद्धि द्वारा तथा जहाँ आवश्यक हो वहाँ अनिवार्य रूप से लागू करने से ही इन बाधाओं पर विजय पाई जा सकती है।

(४) चकबन्दी में रुपया खर्च होता है और रुपये के प्रबध के कारण भी इस कार्य में बाधा पहुँचती है। प्रादेशिक सरकारों के समक्ष अनेक प्रकार की विकास योजनायें हैं इसलिये वे सदा इस कार्य के लिये पर्याप्त धन देने के लिये तैय्यार नहीं रह सकती। इस सम्बन्ध में खर्च पूरा करने के लिये तीन उपायों के काम में लाने की अनुमति दी गई हैं। (क) दिल्ली, मध्य प्रदेश और पजाब में खच का एक अश किसानों से चकबन्दी फीस के नाम पर वसूल कर लिया जाता है। इस प्रकार कुछ अश तक व्यय सरकार द्वारा और कुछ अश तक किसान द्वारा पूरा कर लिया जाता है, (ख) बम्बई में सारा व्यय सरकार द्वारा सहन किया जाता है जहाँ पर किसानों के साथ रियायत के रूप में बिना फीस लिये काम किया जाता है, और (ग) उत्तर प्रदेश में जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है पूरा खर्चा किसान से ४ रु० प्रति एकड के हिसाब से वसूल कर लिया जाता है।

सफलता की मात्रा—चकबन्दी की सफलता विभिन्न प्रदेशों में कम ही रही है। केवल पजाब, बम्बई, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पेप्सू और दिल्ली आदि ने कुछ सफलता इस सम्बन्ध मे प्राप्त की है। पजाब में चकबन्दी का काम १६२० से आरम्भ हुआ और उत्तर प्रदेश में १६२४ से। उत्तर प्रदेश मे १६५३ के चकबन्दी एक्ट के पास होन पर इस काम की गति बढ गई और आगे चलकर एक्ट में भी उपयुक्त सुधार कर दिया गया। मार्च १६५५ तक पंजाब में ४० लाख एकड़, मध्य प्रदेश में २५ लाख एकड़, पेप्सू मे १० लाख एकड़ से अधिक भूमि

की चकबन्दी की गई। बम्बई और दिल्ली में १०६० और २१० गाँवों में क्रमशः यह योजना पूर्णतया लागू की गई है। उत्तर प्रदेश में २१ जिलो में यह योजना लागू है। अब भी विभिन्न राज्यो में इस योजना के कार्य को बढाने का अवसर है।

यद्यपि चकबन्दी का कार्य जरा धीमी गति से हुआ है और बहुत कम उन्नति इस ओर हो पाई है फिर भी इससे लाटों की सख्या कम हो गई है और उनका औसत क्षेत्रफल बढ गया है। यदि प्लाटो की सख्या में कमी और खेतों के क्षेत्रफल में वृद्धि की दृष्टि से देखा जाय तो हम कह सकते हैं कि सबसे अधिक उन्नति मध्य प्रदेश ने की है जहाँ बिलासपुर, रायपुर और दुर्ग जिलो मे प्लाटों की सख्या ८२% कम हो गई है और उनका औसत क्षेत्रफल ४००% बढ गया है। इस ओर मद्रास ने सबसे कम उन्नति की है और वहाँ प्लाटो की सख्या मे २०% से भी कम कमी हुई है।

खेतो की चकबन्दी के फलस्वरूप प्रत्येक किसान को आर्थिक जोत (economic holding) प्राप्त नहीं हुई है। क्योंकि यदि किसी किसान के खेत गाँव के विभिन्न भागों में छिटके हुये हैं तो चकबन्दी से किसान के अधिकार मे भूमि का क्षेत्रफल नहीं बढ सकता। इस लये प्रत्येक किसान को आर्थिक जोत देने के लिये बहुत बडे प्रयत्न की आवश्यकता है।

अध्याय ८

भूमि-क्षरण

प्रथम पचवर्षीय योजना के अनुसार भूमि सरक्षण से अभिप्राय केवल क्षरण को रोक पाना ही नहीं है परन्तु अपने व्यापक अर्थ में भूमि सरक्षण के अन्तर्गत वह सभी बातें शामिल हैं जिनका लक्ष भूमि की उत्पादन शक्ति को ऊँचे स्तर पर बनाये रखना है, जैसे भूमि की कमियों को दूर करने के उपाय, रासायनिक तथा देशी खाद का उपयोग, फसलों के बोने के क्रम का उचित सचालन, सिंचाई तथा नाली की व्यवस्था इत्यादि। इस रूप मे भूमि-सरक्षण का प्राय: भूमि के उपयोग के ढगो मे सुधार करने से निकट सम्बन्ध है। भूमि सरक्षण के सम्बन्ध मे भारत की प्रमुख समस्या भूमि-क्षरण को रोकना है। भूमि क्षरण होते रहने से भूमि का बहुत बडा भाग कृषि के योग्य नहीं रहता।

कारण—भूमि क्षरण के अनेक कारण हैं परन्तु उनमे से मुख्य निम्न-लिखित हैं :—

(१) वनों का काटना और वनस्पति का नष्ट हो जाना। जगल और वनस्पति हवा और पानी के बहाव को रोकते हैं जिससे भूमि का तल इनकी हानि-कारक शक्ति मे बच जाता है और उसका क्षरण नहीं हो पाता। यदि वन काट डाले जायँ और वनस्पति नष्ट कर दी जाय तो भूमि पूर्ववत नहीं रहेगी, उसकी उत्पादन शक्ति घट जायगी। प्राय: ईंधन या इमारतो के उपयोग के लिए वनों को काट लिया जाता है। आसाम, बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश के कुछ भागों में कबायली जनता (Tribal people) एक निश्चित स्थान पर खेती नहीं करती है। वह प्राय: एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने कृषि क्षेत्र बदलती रहती है जिसके लिए उसे पेड काटते रहना पडता है और इससे वनों का विनाश हो जाता है। इधर जमींदारी उन्मूलन होते ही अनेक जमींदारों ने इमारती लकडी से रुपया पैदा करने के लिए अपने क्षेत्र के पेड काट डाले हैं।

(२) पशुओं और विशेषकर भेड बकरियो का घास-पत्ती इत्यादि चर जाना। इससे भूमि के कण परस्पर गुथे नहीं रह जाते और उसका क्षरण होने लगता है। वनस्पति का इस प्रकार चर लिया जाना भारत के लिए एक गम्भीर समस्या बन गया है। १९५२ मे भारतीय कृषि अनुसन्धान परिषद (Indian Council of Agricultural Research) के तत्वावधान में उसके फसल और

भूमि विभाग (Crops and Soils Wing) की प्रथम बैठक में उस समय के खाद्यान्न मन्त्री ने कहा कि भेड बकरियों को प्रश्रय देने का अर्थ है भूमि-क्षरण और महाविनाश। परन्तु गाय-भैंस को प्रश्रय देकर हम भूमि की सेवा कर सकते हैं और स्वय समृद्धिशाली बन सकते हैं। खाद्य मन्त्री ने अधिक जोर देकर जरूर कहा है परन्तु यह सच है कि भेड बकरियो से भूमि को बहुत क्षति पहुँचती है। उचित यह होगा कि पशुओ को चारा दिया जाय और बिना रोक टोक के इधर-उधर, विशेषकर उन क्षेत्रो मे जो इस कारण पहले ही क्षतिग्रस्त हो चुके हैं, चरने न दिया जाय।

(३) जिस भूमि मे उत्पादक तत्वों की पहले ही से कमी है उसका शीघ्र क्षरण हो जाता है। यदि भूमि उपजाऊ है और उसकी अच्छी तरह देखभाल की गई तो खराब भूमि की अपेक्षा इसमे भूमि-क्षरण कम होगा। काश्त की जाने वाली भूमि का भारत मे पीढियों से बिना किसी रोक टोक के बराबर उपयोग होता रहा है और उसकी उत्पादन शक्ति की पूर्ति करने के लिए खाद इत्यादि या तो नहीं डाली गई है या अपर्याप्त रही है। इससे देश के बडे-बडे भाग भूमि क्षरण के सकट से ग्रस्त हो चुके हैं।

भूमि-क्षरण अनेक प्रकार का होता है परन्तु भारत में मुख्य प्रकार निम्नलिखित हैं :—

(१) तल क्षरण (Sheet Erosion)—पानी के तेज बहाव से या तेज हवा के बहने के कारण जब भूमि की ऊपरी उपजाऊ सतह बह जाती है तब तल-क्षरण होता है।

(२) अन्त क्षरण (Gully Erosion)—पानी के तेज बहाव के कारण भूमि में गहरे नाले बन जाने से अन्तःक्षरण होता है। प्राय अन्तःक्षरण होने का कारण यह होता है कि बहुत समय तक तल-क्षरण होता रहे और उसे रोकने का कोई उपाय न किया जाय। नदियों के आस-पास की भूमि में अन्तःक्षरण की अधिक सभावना रहती है क्योकि बाढ आ जाने से तट की निकटवर्ती-भूमि का तल क्षरण होता रहता है और धीरे-धीरे गहरे नाले बन जाते हैं।

(३) वायु क्षरण (Wind Erosion)—वायु क्षरण देश के मरु प्रदेश मे जैसे राजस्थान और पूर्वी पजाब मे होता है। तेज वायु बहने से मरु क्षेत्र की बालू उड़ती रहती है और निकटवर्ती हिस्सो मे बैठती रहती है जैसा राजस्थान के मरु प्रदेश के निकट होता है। इससे भूमि की उत्पादन शक्ति को गहरी हानि पहुँचती है।

भूमि क्षरण एक गभीर सकट है। इससे भूमि की उत्पादन शक्ति कम होती

है, भूमि व्यर्थ हो जाती है और जनता निर्धनता के चंगुल में फंस जाती है। इससे देश के बड़े बड़े क्षेत्र मरुस्थल में बदल जाते हैं। उन क्षेत्रों में जहाँ नदी-घाटी योजनाएँ लागू की गई हैं, जैसे दामोदर घाटी, वहाँ पर भूमि क्षरण से निमित बाँधों को भय उत्पन्न हो जाता है। इस कारण इन बाँधों की देखभाल और बचाव के लिए अधिक व्यय करना पड़ता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि हमें अपने देश में भूमि-क्षरण के प्रकार और प्रसार के सम्बन्ध में सही-सही सूचना प्राप्त नहीं है इस सूचना के प्राप्त हो जाने पर भूमि-क्षरण को रोकने के लिए प्रभावशाली उपायों को लागू किया जा सकता है। पिछले कुछ वर्षों में भूमि संरक्षण के लिए कुछ काम किया गया है, बम्बई में छोटे-छोटे बाँध बाँधने और टेक लगाने (Terracing) से और पंजाब में जंगल लगाकर तथा पहाड़ी नालों में बाँध इत्यादि बाँधकर और उत्तर प्रदेश में नालों तथा खड्डों से परिपूरित भूमि पर कृषि करके भूमि संरक्षण किया जा रहा है। बाँध बाँधने और टेक इत्यादि का निर्माण करने में और कटी फटी भूमि को समतल बनाने के लिए ट्रैक्टरों तथा अन्य बड़ी-बड़ी मशीनों का उपयोग किया जा रहा है। परन्तु अभी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कार्य करना शेष है।

राजस्थान के मरुस्थल का क्रमश उत्तर की ओर विस्तार एक विशेष चिन्ता का विषय हो गया है और भारत सरकार ने उसकी रोकथाम के लिये निम्न उपाय किये हैं :—

(१) "दस वर्ष के भीतर ही भीतर ४०० मील लम्बी और ५ मील भीतर को ओर चौड़ी जङ्गल की एक पट्टी राजस्थान की पश्चिमी सीमा पर लगा देना इसमें भेड़, बकरी, गाय, भैंस, ऊँट, आदि पशुओं के चरने की आज्ञा न होगी।"

(२) मरुस्थल की भूमि में बालू के कणों को हरियाली द्वारा स्थिर करने में वैज्ञानिक उपायों की खोज करना।

(३) ऐसे नखलस्तानों की व्यवस्था करना जहाँ से पेड़-पौधे फौजी नाकों, रेल के स्टेशनों, पुलिस के थानों, तहसीलों और स्कूलों के इर्द-गिर्द ले जाकर लगाये जा सकें।

(४) ऐसी चुनी हुई सड़कों और रेल की लाइनों पर मनुष्यों की आबादी में आवास का प्रबन्ध करना जो वायु के बहाव को काटती हुई बढ़ती हैं।

(५) पौधों के लगाने वाली एजेन्सियों को बीज और पौधों के बाटने का प्रबन्ध करना।

(६) उपयुक्त चरागाहों की स्थापना का प्रबन्ध करना जो कि समय-समय पर और बारी-बारी से चरने के लिये खोले जायें।

इन उपायो से आशा की जाती है कि मरुस्थल की बाढ रुक जायगी और भूमि-क्षरण बन्द हो जायगा तथा भूमि की उर्वरता स्थिर रह जायगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—प्रथम पचवर्षीय योजना में भूमि क्षरण को रोकने और भूमि सरक्षण की आवश्यकता पर विशेष रूप से महत्व दिया गया था। भारत सरकार ने विशेषज्ञों की एक तदर्थ-समिति (ad hoc Committee) बनाई थी जिसका कार्य पजाब, पटियाला सघ उत्तर प्रदेश, सौराष्ट्र और कच्छ के निकटवर्ती उपजाऊ क्षेत्र में मरु प्रसार की समस्या का अध्ययन करना था। समिति ने एक विस्तृत कार्यक्रम की सिफारिश की है जिसमें यह सुझाव दिया गया है कि (१) राजस्थान की पश्चिमी सीमा पर वनस्पति का ५ मील चौड़ा कटिबन्ध लगाया जाय, (२) राजस्थान में वन क्षेत्र को बढाने के लिए नये वन लगाये जॉय, (३) भूमि के उपयोग के तरीको में सुधार किया जाय। विशेष रूप से कृषक रेगिस्तान के प्रसार को रोकने के लिये वृक्षारोपण करें और रेगिस्तान की समस्या का अध्ययन करने के लिए अनुसधान केन्द्र (Research Station) स्थापित किया जाय। भारत सरकार ने इस समिति की सिफारिशें मान ली हैं।

प्रथम योजना में भारत सरकार द्वारा २ करोड़ रूपये भूमि सरक्षण पर व्यय करने का आयोजन था। "भूमि सरक्षण कार्य जैसे बाँध बाँधने, खाई खोदने, नाले पाटने (gully Plugging), भूमि पर मेड़ बाँधने, पानी के बहाव पर रोक लगाने, नदी की धारा को तथा खड्डो के बनने को नियन्त्रित करने आदि उपायों के अन्तर्गत जो प्रदेशीय सरकारो द्वारा किये जा रहे हैं लगभग ७००,००० एकड़ भूमि आ गई है जिसका दो तिहाई भाग केवल बम्बई प्रदेश के भाग में आया है।

"प्रथम योजना मे ही भूमि सरक्षण कार्य नियमित रूप से आरम्भ हो गया था। लग-भग २५० कृषि और वन विभाग के अधिकारियों को भूमि सरक्षण उपायो की विशेष शिक्षा दी जा चुकी है। १९५२ में जोधपुर में रेगिस्तान मे वृक्षा-रोपण सम्बन्धी अनुसन्धान केन्द्र की स्थापना की गई थी और प्रथम योजना के पिछले वर्षों मे ही पाँच अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण केन्द्रों की भी स्थापना हो गई थी। ग्यारह अग्रगामी योजना केन्द्र बम्बई, आन्ध्र, उड़ीसा, पश्चिमी बगाल, मद्रास, पजाब, सौराष्ट्र ट्रावनकोर, कोचीन, अजमेर, कच्छ और मीनापुर में स्थापित किये गये हैं। ट्रावनकोर, कोचीन तथा मद्रास की ये आदर्श योजनायें विकास योजना केन्द्र में परिणित कर दी गई हैं।

इस समस्या को समुचित रूप से सुलझाने के विचार से भारत सरकार ने छः भूमि सरक्षण सम्बन्धी अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण केन्द्र देहरादून, कोटा, वसद

(उत्तरी गुजरात) वेलारी, ऊटाकामण्ड और जोधपुर में खोले हैं। इन केन्द्रों ने बहुत लाभप्रद कार्य किया है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना—में तो और अधिक विस्तृत आयोजन किया गया है। भूमि सरक्षण के लिये २० करोड़ रुपये की व्यवस्था की गई है। लगभग ३० लाख एकड भूमि जहाँ पर भूमि क्षरण बहुत बुरी तरह से हुआ है इस संरक्षण योजना के अन्तर्गत लाने का इरादा है। इस ३० लाख एकड भूमि में से २० लाख एकड़ तो ढलुआ ऊँची नीची खेती के योग भूमि, २५०,००० एकड़ मरुस्थल तथा कटने वाले करार की भूमि, ३३०,००० एकड़ नदी की घाटी वाली भूमि, १७०,००० एकड पहाड़ी भूमि और १५०, ००० एकड़ खड्ड वाला भूमि होगी।

भारत में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि भूमि-क्षरण की समस्या की गम्भीरता का जनता को कुछ ज्ञान ही नहीं है। कुछ राज्य सरकारों ने भूमि सरक्षण के लिए बहुत सीमित उपायों को लागू किया है। जनता इस भारी सकट के प्रति बिल्कुल उदासीन है और इस बात की ओर उसका ध्यान नहीं जाता कि भूमि क्षरण को रोकने से कितना लाभ हो सकता है। इस सम्बध में व्यवहारिक दृष्टि से विचार करके प्रथम और द्वितीय पचवर्षीय योजनाओं ने निश्चित प्रगति की है परन्तु इस कार्य के लिए जितना धन निर्धारित किया गया है वह आवश्यकता से बहुत कम है। इस कार्य में इससे कहीं अधिक रुपया व्यय होगा। राज्य सरकारों को अपनी वित्तीय कठिनाइयों के पश्चात् भी इस कार्य के लिये अधिक धन देना होगा। दीर्घकाल में इस व्यय से अवश्य लाभ होगा क्योंकि भूमि की उत्पादन शक्ति बढेगी और हमारी अनाज, कपास, तिलहन इत्यादि की उपज में वृद्धि होगी जिससे उत्पादन तथा उपभोग के बीच की वर्तमान खाई को पाटने में सहायता मिलेगी। केन्द्रीय भूमि सरक्षण बोर्ड से यह आशा की जाती है कि भूमि सरक्षण के उपायों के प्रयोग की प्रगति बढाने में समर्थ होगा। यह बोर्ड "विभिन्न प्रकार की भूमियों के जो खेती, जङ्गल लगाने तथा चरागाह बनाने के काम आ रही है सरक्षण सम्बन्धी अनुसन्धान कार्य का आरम्भ, सामजस्य तथा व्यवस्था करेगा और प्रादेशिक राज्यों को तथा नदी घाटी योजनाओं को भूमि सरक्षण सम्बन्धी योजनाओं के बनाने में तथा तत्सम्बन्धी कानून बनाने में सहायता प्रदान करेगा"। यह बोर्ड भूमि सरक्षण सम्बन्धी जानकारी की बातों के आदान-प्रदान का केन्द्र होगा तथा तत्सम्बन्धी शिक्षा की सुविधा प्रदान करेगा ताकि भूमि सरक्षण सम्बन्ध में आवश्यक कुशल व्यक्तियों का पैमाइश आदि कार्यों के लिये पूर्ति की जा सके।

अध्याय १०

सिंचाई

वर्षा ही भारत में कृषि की भाग्य-विधात्री है। देश के विभिन्न भागों में भिन्न-भिन्न मात्र में वर्षा होती है जिसमें काफी अन्तर रहता है। उदाहरणार्थ एक ओर तो चेरापूजी जैसे स्थान पर ४६० इन्च तक वर्षा होती है जिससे बाढ द्वारा फसलों इत्यादि की हानि होती है दूसरी ओर राजपूताना केवल ५ इन्च वर्षा होती हैं जहाँ पानी की कमी से फसलें नष्ट हो जाती हैं। चावल तथा गन्ने की खेती के लिये आवश्यक होता है कि पानी पर्याप्त मात्रा में निरन्तर नियमित रूप से मिलता रहे। इसलिए प्राकृतिक सुविधा प्राप्त न होने के कारण भूमि के सिंचाई के लिए और नदियों के पानी को उचित उपयोग मे लाने के लिए कृत्रिम उपायों का सहारा लेना पड़ता है।

भारत की नदियों से प्राप्त १३,५६० लाख एकड़ फुट पानी[1] मे से औसतन केवल ५·६ प्रतिशत का उपयोग १९५१ के पहिले तक किया जाता था और शेष बाढ द्वारा प्रायः हानि पहुँचाता हुआ समुद्र में गिरता था। उसके पश्चात् पानी का उपयोग बढा है। आशा की जाती है कि १९५६ में लगभग १,३६० लाख एकड़ फीट जल अथवा कुल का १०% कार्य में आ जायगा। पानी की इस भारी क्षति को रोककर इसे सिंचाई के कार्य में लाना चाहिए जिससे बाढ का प्रवाह घटे, भूमि की उत्पादन शक्ति बढे और साथ ही कृषि उत्पादन मे वृद्धि हो।

सिंचाई का स्रोत

भारत में सिंचाई के मुख्य साधन कुआँ, तालाब और नहरे हैं। कहीं-कहीं नदियों से पानी खींचकर भी सिंचाई की जाती है। सिंचाई के यह सभी स्रोत निम्न चार्ट में दिये गए हैं :—
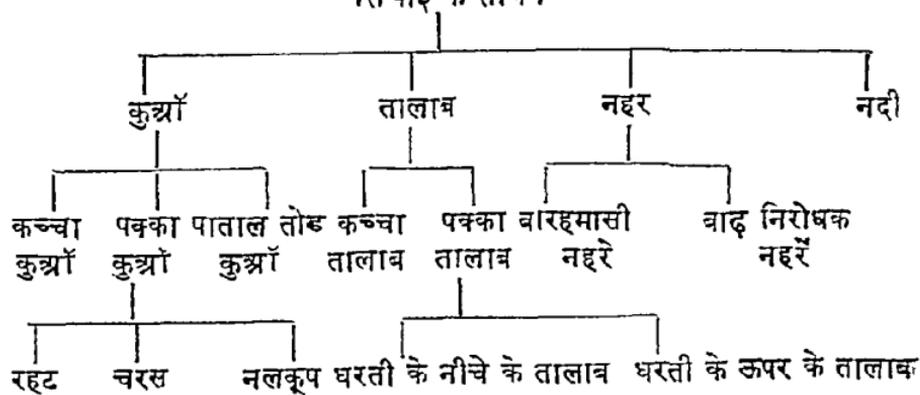
१. एक एकड़ जमीन को एक फुट गहराई तक भरने के लिए जितने पानी की आवश्यकता होती है वह एक एकड़ फुट पानी कहलाता है।

कुएँ—भारत मे सिंचाई के लिए कुएँ का प्राचीन काल से प्रयोग होता आया है। भारत के लिए यह महत्वपूर्ण साधन है। कुएँ या तो कच्चे होते हैं या पक्के। हमारे देश मे कच्चे कुओं की संख्या बहुत अधिक है क्योंकि इनका निर्माण करने मे न तो अधिक व्यय होता है और न विशेष कला के ज्ञान की ही आवश्यकता है। इनसे पानी निकलने के लिये ढेकली का उपयोग होता है। पक्के कुएँ दो प्रकार के होते हैं, (१) ऐसे कुएँ जिनका पानी खींचने के लिए रहट या चरस का उपयोग किया जाता है और (२) नलकूप (Tube-wells) जिनका पानी खींचने के लिये बिजली के या डिजिल पम्पों का उपयोग किया जाता है।

कुएँ अधिकतर मैदानी भाग में और विशेषकर ऐसे भागों में बनाये जाते हैं जहाँ पानी का तल बहुत गहरा नहीं होता है और जहाँ भूमि मुलायम होती है। पंजाब, उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, पश्चिमी घाट के पूर्वी भाग और कपास की कृषि के योग्य काली भूमि में अधिकतर सिंचाई के लिए कुओं का ही उपयोग किया जाता है। यह कुएँ निजी भी होते हैं और सरकारी भी। उत्तर प्रदेश में लगभग दो हजार सरकारी कुएँ हैं।

कुओं के पानी से सिंचाई करना लाभदायक है क्योंकि कुएँ के पानी में सोडा, नाइट्रेट, क्लोराईड और सल्फेट काफी मात्रा में रहते हैं। इनसे भूमि की उत्पादन शक्ति म वृद्धि होती है। इसके साथ ही कुओं से सिंचाई करने का एक और लाभ भी है। नहरों से सिंचाई करने मे पानी एक स्थान पर एकत्र हो जाता है परन्तु कुओं के उपयोग से ऐसा होना सम्भव नहीं है। यदि कृपकों को तकावी ऋण देकर और अधिक पक्के कुओं का निर्माण करने के लिये प्रोत्साहन दिया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। उन्हें कुएँ खोदने की सुविधा दी जानी चाहिए और बिजली से चलने वाले पम्प लगाने के लिए गाँव तक बिजली पहुँचानी चाहिये। बिजली के पम्प सस्ते होते हैं और अन्य साधनों की अपेक्षा अच्छे भी होते हैं। सिंचाई के लिये नवीन कुओं का निर्माण इसी उद्देश्य के लिए संगठित सहकारी समितियों के द्वारा किया जाना चाहिए।

तालाब—तालाबों के द्वारा सिंचाई करने का अधिक प्रचलन दक्षिण में और विशेषकर मद्रास तथा मैसूर म है। वैसे बङ्गाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में भी सिंचाइ के लिये तालाबों का प्रयोग किया जाता है। कहीं कहीं यह तालाब काफी बड़े हैं जिन्हें झील कहना अधिक उपयुक्त होगा और कहीं छोटे-छोटे हैं जैसे प्रायः गाँवों में होते हैं। इनमें कुछ प्राकृतिक हैं और कुछ का निर्माण किया गया है जो कच्चे-पक्के दोनों प्रकार के हैं। पक्के तालाब भूमि के

नीचे और भूमि के ऊपर भी बनाए जाते हैं। यह तालाब वर्षा के पानी से भरते हैं और अन्य ऋतुओं में इनसे सिंचाई के लिये पानी लिया जाता है।

कुओं के पानी की तरह तालाब का पानी भी उत्पादन शक्ति बढ़ानेवाला है क्योंकि इसमें वर्षा का पानी और गन्दगी दोनों मिले होते हैं। यद्यपि तालाब सिंचाई के महत्वपूर्ण साधन हैं परन्तु इनकी स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। इनकी गहराई मिट्टी भरने से धीरे-धीरे घटती जाती है। इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि पुराने तालाबों को गहरा किया जाय और अधिक नये तालाब खोदे जायँ। चूँकि कृषक इस दिशा में अधिक कार्य नहीं कर सकता है इसलिये तालाब खोदने के लिये सरकार को अधिक सक्रिय होने की आवश्यकता है। उत्तर प्रदेश की सरकार इस दिशा में १९४८ से कार्य कर रही। यह कार्य पंचायतो, स्थानीय संस्थाओं और सहकारी समितियों को सौंपना चाहिये। पक्के तालाबों का निर्माण करने में अधिक व्यय करना पड़ता है। परन्तु इनका अधिक संख्या में निर्माण करना आवश्यक है क्योंकि इनमें पानी काफी समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है। कच्चे तालाबो की तरह इनका पानी शीघ्र सूख नहीं जाता। यदि इन तालाबों से खेतो तक पक्का नाली लगा दी जायँ तो इससे पानी की पूर्ति में सुधार होगा और पानी व्यर्थ नहीं जायगा। जब यह तालाब खाली हो जायँ तो सिंचाई की आवश्यकता न रहने पर नहरों के पानी से इन्हें भरा जा सकता है।

नहरें—नहर का पानी भारत में सिंचाई का सबसे बड़ा साधन है। पंजाब उत्तर प्रदेश, बंगाल, बिहार, मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, बम्बई, मध्य प्रदेश और उड़ीसा मे नहरों का जाल बिछा हुआ है। नहरें दो प्रकार की होती हैं (१) बारहमासी और (२) बाढ़निरोधक। बाँधो में पानी का संग्रह करके बारहमासी नहरों का निर्माण किया जाता है। इन नहरो से वर्ष भर पानी प्राप्त हो सकता है। दूसरी ओर बाढ़ निरोधक नहरों मे नदियो का पानी एक स्तर से अधिक बढ़ जाने के पश्चात् एकत्रित हो जाता है। बारहमासी नहरें अधिक अच्छी होती हैं क्योंकि सूखा पड़ने पर जब बाढ़-निरोधक नहरो का पानी सूख जाता है तो इन नहरो से सिंचाई इत्यादि के लिये पानी प्राप्त हो सकता है। जहाँ तक निर्माण व्यय का सम्बन्ध है बाढ़ निरोधक नहरो के निर्माण में बारहमासी नहरों के निर्माण-व्यय की अपेक्षा बहुत कम व्यय होता है। बारहमासी नहरों का निर्माण करने मे टेकनिकल कुशलता मशीनों और विभिन्न सामग्रियो की आवश्यकता होती है।

नहरों से सिंचाई करने से कुछ हानियाँ भी होती हैं। इससे पानी एक स्थान पर एकत्रित रहता है और खेत में पहुँचने से पूर्व काफी मात्रा में पानी नष्ट

हो जाता है। परन्तु यह बड़ी समस्यायें नहीं है। नहरों को पक्का कर देने से यह समाप्त हो जायँगी।

सिंचाई-कर—सिंचाई कर की दर और उसकी वसूली के ढंग प्रत्येक फसल और प्रत्येक राज्य में भिन्न रहते हैं। नहर और नलकूपों की सिंचाई दर भी भिन्न-भिन्न है। एक एकड़ भूमि में गन्ने की खेती में सिंचाई करने की दर उत्तर प्रदेश में ५ रुपया और हैदराबाद में ३३ रुपया है। कपास के लिए पंजाब में ३½ रुपया और मद्रास में १० रुपया है, चावल की प्रति एकड़ सिंचाई दर ४ रुपये से १८ रुपये तक है और गेहूँ की ढाई रुपये से १० रुपये तक है। इससे ज्ञात होता है कि व्यवसायी-फसल के लिए सिंचाई कर की दर खाद्यान्न की अपेक्षा अधिक है। दर का यह अन्तर इस बात पर आधारित है कि प्रति एकड़ व्यवसायी-फसल में खाद्यान्न के प्रति एकड़ की अपेक्षा अधिक लाभ होता है। आजकल पानी की जो अनावश्यक क्षति होती है उसे बन्द करना चाहिए और यदि आवश्यक हो तो व्यय किये गए पानी की मात्रा के आधार पर सिंचाई कर लगाना चाहिए।

पिछले कुछ वर्षों में कुछ राज्यों ने नई विकास योजनाओं की वित्तीय आवश्यकता पूर्ति करने के लिए अपनी सिंचाई कर की दरों को बढ़ा दिया है जिससे कृषक पर भार और बढ़ गया है। सिंचाई के कार्य को भी अन्य साधारण कार्यों की तरह चलाना चाहिए। सिंचाई कर की दर केवल इतनी होनी चाहिए जिससे इस कार्य को चलाने में होने वाला व्यय निकल आए और योजना को कार्यान्वित करने में जो पूँजी लगाई गई है उसकी वसूली होती रहे। सिंचाई कर राज्यों के लिये आय का साधन न होना चाहिए, जैसा कि उत्तर प्रदेश में बना दिया गया है, क्योंकि इससे कृषक पर अनुचित भार पड़ता है और उत्पादन व्यय बहुत अधिक बढ़ जाता है।

संगठन—१९१९ से सिंचाई व्यवस्था राज्य सरकारों के हाथ में आ गई है। प्रत्येक राज्य में एक सिंचाई विभाग है जो राज्य में सिंचाई के कार्यों के विकास के लिये उत्तरदायी होता है। अन्तर-राज्य सिंचाई व्यवस्था का संचालन करने के लिए दो केन्द्रीय संस्थाएँ हैं। इनमें से एक केन्द्रीय जलविद्युत, सिंचाई और जलयान सम्बन्धी आयोग है। इसकी स्थापना भारत सरकार ने १९४५ में की थी। इसका उद्देश्य जल शक्ति पर नियन्त्रण रखने, उसका उपयोग और संरक्षण करने के लिए योजनाएँ बनाना और सभी कार्यों को सुसम्बद्ध करके उन्हें कार्यान्वित करना है। इसके साथ ही इसको यह भी कार्य सौंपा गया है कि आवश्यकता पड़ने पर सम्बन्धित राज्य सरकारों से परामर्श करके कोई नई योजना तैयार करे। दूसरी संस्था केन्द्रीय सिंचाई-परिषद् है। इसकी स्थापना १९३१ में हुई थी।

परिषद् को यह कार्य सौंपा गया कि भारत के अनुसन्धान केन्द्रों में सिंचाई तथा इससे सम्बन्धित अन्य विषयों पर किये जाने वाले खोज कार्यों का समन्वय करे। इन संस्थाओं से सम्पर्क रखने वाली विदेशी संस्थाओं ने भी परिषद् अपना सम्बन्ध बनाए रखती है। इनके अलावा केन्द्रीय भौमिक जल संघ (Central Ground Water Organisation) नाम की संस्था भी है जो १९४६-४७ में जल-स्रोतों का अध्ययन कर रही है।

१९५४ में भारत संघ के कृषि तथा खाद्य मंत्रालय के अन्तर्गत नलकूप योजनाओं के प्रशासक के निर्देशन में एक नलकूप विकास संघ भी कार्य कर रहा है। यह संस्था जहाँ वहाँ वर्षा कम होती है वहाँ इस बात का पता लगायेगी कि भूमि के अन्तस्तल में कितना पानी प्राप्त कर लेने की सम्भावना है।

सिंचाई की समस्या को दो ढंग की योजनाओं द्वारा सुलझाने का प्रयत्न किया गया है। प्रथम बहुमुखी नदी घाटी योजनाओं द्वारा तथा छोटे-छोटे सिंचाई के साधनों द्वारा। बहुमुखी नदी घाटी योजना अन्य लाभों के अतिरिक्त बहुत बड़े क्षेत्र को सिंचाई के लिए पानी देती है। छोटे-छोटे सिंचाई के साधन यद्यपि देखने में इतने आकर्षक नहीं हैं फिर भी कृषकों को सिंचाई के लिये अत्यन्त आवश्यक पानी देते हैं। यह आशा की जाती है कि जब सब नदी घाटी योजनायें पूर्ण हो जायेंगी तो उनमें लगभग १६५ लाख एकड़ भूमि की सिंचाई हो सकेगी।

कठिनाइयाँ—भारत में सिंचाई की व्यवस्था का विकास करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है जिनका विवरण निम्नलिखित है :—

(१) वित्त की समस्या—सिंचाई योजनाओं को लागू करने में सबसे बड़ी कठिनाई वित्त की है। इनके लिए बहुत अधिक रुपयों की आवश्यकता पड़ती है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में बड़ी सिंचाई योजनाओं के लिए ५५८ करोड़ और छोटी सिंचाई योजनाओं के लिए ४७ करोड़ रुपये का आयोजन किया गया था। इसके साथ ही कुओं तथा तालाबों का निर्माण करने के लिए व्यक्तियों और सहकारी समितियों को कुछ अतिरिक्त धन की आवश्यकता होगी। यह धन प्राप्त करने के लिए पंचवर्षीय योजना में ऋण लेने, राजस्व की आय से सहायता लेने, विशेष अनुदानों, जलपूर्ति कर और लगान में वृद्धि करने और सिंचाई तथा विकास कर लागू करने की व्यवस्था की गई थी। परन्तु यह कर उसके भार को ऐसे समय में बढ़ा देते हैं जब कि कर-भार स्वयं काफी अधिक है। इसमें सन्देह नहीं कि इतना धन प्राप्त करने में जनता पर अनुचित भार पड़ेगा जिससे असन्तोष फैलने की सम्भावना है।

(२) प्राविधिक (टेक्निकल) ज्ञान का अभाव—धन के अभाव के

साथ ही योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए अपेक्षित प्राविधिक कर्मचारियों का भी अभाव है। प्रायः सभी बड़ी योजनाओं में विदेशी प्रविधिज्ञों को नियुक्त किया गया है और इससे अनावश्यक रूप से अधिक व्यय करना पड़ रहा है। इसलिये यह आवश्यकता है कि देश में भारतीयों के लिए अनुसन्धान और प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाय।

(३) आवश्यक सामान की कमी—भारत मे इन योजनाओं के लिए आवश्यक इस्पात और सिमेंट की भी कमी है। इसलिए यह आवश्यक है कि इनका उत्पादन और बढ़ाया जाय और जो कुछ सामान उपलब्ध हो सके उसको सबसे पहले सिंचाई के लिए निर्माण-कार्य में लगाया जाय।

(४) पानी का अनुचित उपयोग और क्षति—भारतीय कृषक पानी का उचित उपयोग नहीं करता। विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न फसलों के लिए आवश्यक पानी की मात्रा भिन्न-भिन्न होती है। परन्तु भारतीय कृषक पानी का बिना सोचे-समझे उपयोग करता है। पानी की अधिकता खेती के लिये उतनी ही हानिकारक है जितनी उसकी न्यूनता। एक समय में अधिक पानी देने की अपेक्षा बार-बार पानी देना अधिक लाभदायक सिद्ध हुआ है। पानी की इस क्षति को कुछ सीमा तक नहरों को पक्का बनाने और काम में लाये गये पानी की मात्रा के आधार पर सिंचाई कर लागू करने से रोका जा सकता है।

(५) पानी का गलत बँटवारा—भारतीय कृषक बहुत समय तक अपने खेत को सींचने के लिए वर्षा के आगमन की प्रतीक्षा करता है। जब वर्षा से देर हो जाती है तब वह सिंचाई के लिये नहरों और नल कूपों से पानी लेने के लिए दौड़-धूप करता है। परन्तु सब कृषकों को एक ही समय में नहरों और नल कूपों से आवश्यक पानी मिलना सम्भव नहीं है क्योंकि भारत मे नहरों और नल कूपों का पानी कृषक की औसत आवश्यकता मे कम है। इस प्रकार की दौड़ धूप से सिंचाई की व्यवस्था पर बहुत भार पड़ता है जिसको कम करने के लिए किसानों को अपनी आवश्यकतायें पहले से दर्ज करानी चाहिये और रजिस्ट्री के क्रमानुसार उन्हें पानी मिलना चाहिए।

यह कठिनाइयाँ असाध्य नहीं हैं। उचित प्रयत्नों से इनको हल किया जा सकता है। यदि कृषक सहयोग दे और पानी को उचित रूप से व्यवहार में लाने की आवश्यकता को समझें और बहुमुखी नदी घाटी योजनाओं के साथ-साथ फलीभूत होनेवाली योजनाओं पर जोर दिया जाय तो देश की सिंचाई व्यवस्था सँभल जायगी।

अध्याय ११

बहुउद्देशीय योजनाएँ और बाढ़ नियंत्रण कार्यक्रम

सिंचाई और शक्ति उत्पादन योजनायें प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के मुख्य अंग हैं। इनमें विद्युत शक्ति के उत्पादन और सिंचाई की सुविधा में वृद्धि होगी जिनका अभाव उद्योगों और कृषि की उन्नति में बाधक रहा है। इन योजनाओं में बाढ़ पर नियंत्रण, मलेरिया के फैलने में रुकावट, तथा देश को अन्य अनेकों लाभ होंगे। प्रथम और द्वितीय योजनाओं के अन्तर्गत तीन प्रकार की सिंचाई योजनाओं की व्यवस्था है। (१) बहुउद्देशीय योजनायें, (२) बड़ी तथा साधारण सिंचाई की योजनायें तथा (३) छोटी सिंचाई की योजनाये ।

इन योजनाओं की तीन विशेषतायें हैं। (क) इनमें से अनेकों तो पचवर्षीय योजना के आरम्भ होने के पूर्व ही से चल रही थी। "द्वितीय महासमर का अन्त होते ही बहुत सी परियोजनायें जिनमें कई बहुउद्देशीय योजनायें भी थीं आरम्भ कर दी गई थी। इनमें से कुछ तो ऐसी थीं जिनका कार्य तो बिना उनके सम्बन्ध में आवश्यक प्राद्योगिक और आर्थिक छान बीन के ही आरम्भ कर दिया गया था। १९५१ में जब सिचाई और शक्ति उत्पादन की योजनाओं का निर्माण कार्य चल रहा था, उनके पूर्ण होने में कुल व्यय ७६५ करोड़ रुपये होने का अनुमान था" इसमें से १५३ करोड़ रुपया तो इन अपूर्ण योजनाओं पर व्यय हो चुका था क्योंकि ऐसा विचारा जाता था कि जितना शीघ्र हो सके उतना शीघ्र ये योजनायें पूर्ण की जाय जिससे कि जो कुछ धन इन पर व्यय किया जा चुका है वह सार्थक हो और उसका यथा-सम्भव लाभ बढ़ी हुई मात्रा में अन्न की उत्पत्ति के रूप में शीघ्र मिल जाय।

(ख) प्रथम योजना के अन्तर्गत जिन परियोजनाओं को आरम्भ किया गया था उन पर पुनः विचार किया गया और सिचाई तथा शक्ति उत्पादन की योजना पर व्यय ५५८ करोड़ रुपये से बढ़ाकर ६७७ करोड़ रुपया कर दिया गया। जो अन्य महत्वशाली परिवर्तन किये गये वे निम्न हैं। (१) १९५१ में योजना निर्माण के समय सदा से कमी के क्षेत्र की आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। इन क्षेत्रों की जनता के निर्धन होने तथा उनके आर्थिक कार्यों में निरन्तर प्राकृतिक बाधा की उपस्थिति के कारण निरन्तर सहायता की आवश्यकता पड़ती रहती थी। इसलिये १९५३-५४ में इन क्षेत्रों के स्थायी विकास के

लिये कार्यक्रम निश्चित किए गए और इस प्रकार सम्पूर्ण योजना के कुल व्यय में ४० करोड़ रुपये की वृद्धि की गई। इन योजनाओं का ध्येय था कि वे जनता के पास धन की वृद्धि करेगी और वे भविष्य के विकास कार्यक्रम में उसमे सहायता दे सकेंगे। (२) १९५४ ५५ में छोटी छोटी शक्ति उत्पादन की योजनाओं इसमें सम्मिलित कर लीं गई जिन पर २० करोड रु० इस विचार से व्यय करने का निश्चय किया गया कि उनसे छोटे-छोटे कस्बों और गाँवों में जनता को कार्य पाने का अवसर प्राप्त हो सकेगा, और (३) बाढ पर नियन्त्रण रखने का १९५४-५५ मे क्रम बनाया गया जिसपर १६३ करोड़ रुपया व्यय करने का निश्चय किया गया।

(ग) इन योजनाओं का कार्य इतना अधिक था और धन तथा अन्य आवश्यक साधनो का इतना अभाव था कि सबको कार्यान्वित करना सम्भव नहीं हो सका। इसलिए सम्पूर्ण कार्यक्रम को अशो में विभाजित करना आवश्यक हो गया। प्रथम योजना म यह निर्णय किया गया कि चम्बल, कोसी, कृष्णा, कोयना और रिहन्ड योजनाओं को सम्पूर्ण योजना के अन्तिम काल में आरम्भ किया जाय।

इस प्रकार द्वितीय पचवर्षीय योजना मे यह निर्णय किया गया है कि कुछ बडे काम जैसे आन्ध्र की वमसाधरा योजना, बिहार की कन्हाई योजना और बम्बई की उभाई नर्मदा, माही, खड़गवासला, गिरना और बनस योजनायें, मध्य-प्रदेश की तावा योजना और पश्चिमी बगाल की कगसावाती योजना सम्पूर्ण योजना काल के अन्तिम भाग में कार्यान्वित की जायँगी।

योजना के अन्य कार्यक्रमों की अपेक्षा सिचाई और शक्ति उत्पादन योजनाओं पर बजट में निश्चित व्यय कहीं अधिक व्यय किया गया। यह एक सतोषप्रद बात है, क्योंकि इसमें भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति सुधरेगी और उद्योगों तथा कृषि मे तीव्र गति से विकास सम्भव होगा। प्रथम योजना के तीन वर्ष व्यतीत होने के पूर्व ही भारतवर्ष यदि अन्न के लिये आत्म निर्भर हो सका है तो किसी सीमा तक इसका कारण सिंचाई तथा शक्ति उत्पादन योजनायें हैं। प्रथम योजना के प्रथम चार वर्षों में ६७७ करोड़ की व्यवस्था में से ४४५ करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका था। बहुउद्देशीय योजनाओ पर १८७'२४ करोड़ रुपया जो कि कुल व्यय का ७६% है, शक्ति उत्पादन योजनाओं पर, ११२ ७५ करोड रुपया जो कि ६६% है, सिचाई योजनाओं पर (जिनमें कमी के क्षेत्रों का कार्यक्रम सम्मिलित है) १२३ ३७ करोड रुपया जो कि ६४% है, व्यय किया, जायगा। १९५४-५५ के अन्त तक कृषि के अन्तर्गत लाया गया अतिरिक्त क्षेत्र ४० लाख एकड था जब कि लक्ष्य ५७ लाख एकड़ था। लम्बे शक्ति उत्पादन के क्षेत्र में

६६२००० किलोवाट शक्ति उत्पादन किया गया, जब कि ध्येय ८८१००० किलोवाट उत्पादित करने का था।

बहुत सी बड़ी योजनाओं पर बहुत उन्नति की जा चुकी है, और यह आशा की जाती है, कि वे द्वितीय योजना काल में पूर्ण कर दी जायँगी। इन योजनाओं में भाकड़ा, हीराकुण्ड, कोयना, चम्बल और रिहेन्ड योजनायें आती हैं। इन सबसे १७ लाख किलोवाट विद्युत शक्ति उत्पन्न की जा सकेगी।

बहुउद्देशीय योजनाएँ

कुछ बहुउद्देशीय योजनाओं जैसे भाकड़ा नागल, हिराकी, दामोदर घाटी और हीराकुण्ड आदि ने पचवर्षीय योजना के प्रथम चार वर्षों में सतोषप्रद उन्नति की और योजना मे निश्चित २८२ ०२ करोड रुपए में से उन पर १६७ २६ करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका है, इसके फलस्वरूप ६ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिचाई सम्भव हो सकी है, और २०२००० किलोवाट विद्युत शक्ति उत्पन्न की जा सकी है।

भाकड़ा नागल योजना—यह योजना पजाब, पेप्सू और राजस्थान को सुविधायें पहुँचायेगी। इसके अन्तर्गत (१) सतलज नदी के आरपार भाकड़ा बाँध बनेगा, (२) नागल बाँध नदी मे बहाव की ओर ८ मील तक बनेगा, (३) नागल नहर बनेगी, (४) दो नागल पावर हाउस बनेंगे और (५) भाकड़ा नहर व्यवस्था बनेगी। यह योजना १९४६ में आरम्भ की गई थी, और अब तक नागल बाँध नहर-नियामक (canal regulator), नागल जल द्वार तथा पजाब में भाकड़ा नहर की खुदाई पूर्ण हो चुकी है। हमारे प्रधान मत्री ने ८ जुलाई १९५४ को इस नहर व्यवस्था का उद्घाटन किया था। भाकड़ा बाँध को चूने द्वारा ठोस करने के कार्य का उद्घाटन १७ नवम्बर १९५५ मे किया गया।

दामोदर घाटी योजना—योजना काल के प्रथम चार वर्षों मे इस योजना पर ५८·१३ करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका था, और १·१ लाख एकड अतिरिक्त भूमि की सिंचाई और १ ५ लाख किलोवाट विद्युत शक्ति का उत्पादना होने लगा। दामोदरघाटी योजना एक ऐसे महत्वशाली औद्योगिक क्षेत्र को सुविधायें पहुँचाती है, "जहाँ से देश मे प्राप्त कुल कोयले की मात्रा का ८०% अभ्रक का ७०%, क्रोमाइट का ७०%, फायरक्ले का ५०%, लोहे का ६८%, ताँबे का १०० प्रतिशत और कायोनाइट का १००% प्राप्त होता है"। जब यह योजना पूर्ण हो जायगी तब यह देश के औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी विकास मे काफी मात्रा में सहयोग प्रदान करेगी।

हीरा कुण्ड योजना—यह योजना उड़ीसा राज्य को सुविधा प्रदान करेगी, और इस योजना की प्रारम्भिक अवस्था में (१) महानदी की घाटी में एक बाँध कंकड़ पत्थर और मिट्टी का, (२) दोनों किनारों पर मिट्टी के जल धरण (dykes) (३) दोनों किनारों पर नहर, (४) बाँध पर एक पावर हाउस १८३००० किलोवाट विद्युत उत्पन्न करने के लिये और (५) ट्रान्समिशन लाइन्स बनाई जायेगी। खेतों में नालियों को खुदवा देने से अधिकाधिक क्षेत्रों की सिंचाई की सुविधा हो सकेगी और इस प्रकार १९५८-५९ तक कुल ४५४ लाख एकड़ क्षेत्र सींचा जा सकेगा।

विभिन्न प्रदेशों में योजनाओं की प्रगति

राज्यों में सिंचाई योजनाओं की प्रगति बहुउद्देशीय योजनाओं की तुलना में कम हुई। १९५१ से ५५ तक चार वर्षों में वास्तविक व्यय १८८.०८ करोड़ रुपया हुआ जब कि सम्पूर्ण योजना के पुनरीक्षण के पश्चात् २०७.६८ करोड़ रुपये के व्यय करने की व्यवस्था की गई थी। अतिरिक्त क्षेत्र जिसपर सिंचाई की गई वह केवल ३५ लाख एकड़ था, जब कि योजना में ६४ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई करने का ध्येय था। इन योजनाओं की प्रगति 'क' राज्यों के कुछ भागों में तथा 'ख' राज्यों के अधिकांश भागों में धीमी ही रही है। इसका कारण संगठन का अभाव, प्रसाधनों और काम करने वालों का अभाव और योजना में बार-बार परिवर्तन करना रहा है।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित नई सिंचाई योजनाओं का कुल व्यय लगभग ३८० करोड़ रुपये हैं, इसमें से १७२ करोड़ रुपया द्वितीय योजना काल में व्यय किया जायगा, शेष धन तीसरे तथा अन्य भविष्य में होने वाली पंचवर्षीय योजनाओं के काल में व्यय होगा। बड़े और साधारण श्रेणी के सिंचाई साधनों पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुल ३८१ करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त ३५ करोड़ रुपये की और व्यवस्था की गई है जिससे कि सिन्धु नदी की योजनाओं तथा अन्य ऐसी योजनाओं से जिनके सम्बन्ध में अभी निर्णय नहीं हो पाया है, प्राप्त जल का प्रयोग करने के लिये अन्य नई योजनायें पूर्ण करवाई जा सकें। द्वितीय योजना काल में जो २१० लाख एकड़ भूमि सींची जा सकेगी उसमें से लगभग १२० लाख एकड़ भूमि को बड़ी और साधारण श्रेणी की योजनाओं से सुविधा प्राप्त होगी और लगभग ९०० लाख एकड़ भूमि को छोटी सिंचाई की योजनाओं से यह सुविधा प्राप्त होगी।

अधिकांश अतिरिक्त सिंचाई (लगभग ६० लाख एकड) जो बड़े और साधारण श्रेणी की योजनाओं से होगी वह उन कार्यक्रमों की पूर्ति हो जाने के कारण होगी जो कि प्रथम योजना से ही चल रहे हैं। द्वितीय योजना में सम्मिलित नई योजनाओं से लगभग ३० लाख एकड़ भूमि सींची जायगी। द्वितीय योजना के अन्तर्गत बड़ी और साधारण श्रेणी की योजनाओं के पूर्ण हो जाने पर उनकी सींचने की शक्ति लगभग १६० लाख एकड़ होगी।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत विद्युत-शक्ति उत्पादन के विकास-कायक्रम के तीन ध्येय हैं : (क) वर्त्तमान पावर हाउसों पर बढे हुये सामान्य भार को वहन करना, (ख) पूर्ति के क्षेत्रों के युक्ति सगत विकास के लिये आवश्यक विद्युत शक्ति का उत्पादन करना और (ग) द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत नवीन आरम्भ किए हुए उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना।

बाढ़ नियंत्रण का कार्यक्रम

सरकार ने समन्वित आधार पर बाढ की समस्या के निराकरण का अत्यन्त महत्वशाली निर्णय किया है। प्रथम योजना के आरम्भ में बाढ नियन्त्रण की कोई भी निश्चित व्यवस्था नहीं की गई थी। उस समय बाढ नियन्त्रण योजनाएँ नदी घाटियों के विकास सम्बन्धी बहुउद्देशीय योजनाओं के अन्तर्गत रखी गई थी। १९५४ की अपूर्व बाढ़ों ने प्राण सम्पत्ति तथा यातायात को विशेषकर देश के उत्तर-पूर्वी भाग में, बहुत हानि पहुँचाई। इस कारण बाढ की समस्या पर सिंचाई और विद्युत शक्ति उत्पादन कार्यक्रमों से अलग स्वतन्त्र रूप से विचार करना अत्यन्त आवश्यक हो गया। प्रदेशों द्वारा तात्कालिक बाढ नियन्त्रण के लिये उपायों के प्रभावशाली सिद्ध न होन के कारण १९५४ में यह निणय किया गया कि एक व्यापक बाढ नियन्त्रण कार्यक्रम इस समस्या को उचित ढग से सुलझाने के लिये बनाया जाय। १९५ करोड़ रुपये की योजना मे इसीलिये १९.५ करोड़ रु० की व्यवस्था और कर दी गयी। बाढ नियन्त्रण के काय पर द्वितीय पचवर्षीय योजना में अधिक ध्यान दिया गया है।

२ ३१ करोड रुपये का ऋण प्रदेशो को १९५४-५५ में दिया गया और केन्द्रीय सरकार के १९५१-५६ के बजट में १० करोड रुपये की व्यवस्था इसके लिये कर दी गई है। जिससे कि ऋण की सहायता प्रदान की जा सके। मार्च १९५५ तक विभिन्न प्रदेशो में जो सफलता मिली है, उसका विवरण निम्नलिखित है।

पंजाब—निम्न कार्य पूरे किये गये (१) ४३ मील लम्बा डेरा बाबा नानक से आकर मन्ज तक रावी नदी के किनारे आधार बाँध का बनवाना, (२) देहली प्रदेश में जमुना नदी के किनारे जो पतली दारार पाई गई थी उनको बन्द करवाना और टकोला बाँध बनवाना , (३) कर्नाल जिले में बाबैल से घानसौली तक जमुना नदी के दाहिने किनारे बाढ रोकने के लिये बाँध बनवाना, और (४) जमुना नदी से ताजेवाला शीर्ष क्रम से नीचे की ओर बाँध बनवाना, ।

यह तो सर्व विदित है, कि बाढ न तो सदा के लिये रोकी जा सकती है, और न रोक देना उचित ही है। इन बाढो से बारीक मिट्टी बह कर आती है, जिससे पानी डूब जाने वाले क्षेत्रों की उपज बढ जाती है। उन वर्षों में जब कि बाढ असमान्य हो जाती है, उनसे बहुत हानि पहुँचती है और जनता को कष्ट पहुँचता है। बाढ का प्राय आना और उसके द्वारा हानि को कम करने के लिये बाढों के घनत्व पर नियत्रण रखना आवश्यक है। इसके लिये क्रमबद्ध कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता है। जिन उपायों से प्राय: काम किया जाता है, वे निम्न हैं। (१) किनारे पर बाँध बाँधना (२) सग्रह जलाशय, विशेषकर सहायक धाराओं पर (३) अवरोधन गढा बनवाना जहाँ पर बाढ का पानी एकत्रित करके थोडे समय के लिये रोका जा सके, (४) नदी की धारा को मोड़ देना जिससे कि एक नदी का पानी दूसरी नदी में पहुँच जाय , (५) नदी का ढाल बढाना उसमें आरपार द्वार खुदवा कर, (६) नदियों तक ले जाने वाली धाराओं को जिनमें मिट्टी भर गई है, खुदवाना और उसकी मिट्टी निकलवाना, (७) स्थानीय रक्षा के उपाय जैसे पक्की दीवार और ऊँचे टीले आदि बनवाना ताकि भूमि कटने न पावें, और (८) वन लगाना और स्थान-स्थान पर बहाव की तीव्रता रोकने के लिये बाँध बाँधना।

सिंचाई और शक्ति मत्रालय द्वारा कुछ दिन पूर्व ही बाढ रोकने के कार्यक्रम की रूपरेखा बनाई गई है। इसके तीन भाग हैं। (क) तात्कालिक—इसके अन्तर्गत अन्वेषण योजना बनाना और समय का अनुमान करना होगा। दीवार बनाना और बाँध आदि भी विशेष स्थानो पर बनवाये जा सकते हैं , (ख)अल्पकालीन—इसके अन्तर्गत बाँधों और नालो आदि का सुधार किया जायगा। इस प्रकार की रक्षा के उपायों का प्रयोग उन क्षेत्रों में विशेष रूप से किया जायगा जहाँ बाढ अधिक आती हैं , (ग) दीर्घ कालीन—इसके अन्तर्गत नदियों तथा उनकी सहायक धाराओं के जल सचय का कार्य सिंचाई और विद्युत शक्ति उत्पादन योजनाओं के कार्य के साथ किया जायगा।

द्वितीय योजना मे ६० करोड़ रुपये की व्यवस्था तत्कालीन और

अल्पकालीन योजनाओं के लिये की गई है। इसमें ५ करोड़ रुपया परीक्षण तथा तत्सम्बन्धी सूचना सामग्री एकत्रित करने के लिये नियत किया गया है। वनों का लगाना और भूमि संरक्षण के उपायों का कार्य में लाना, बाढ़ नियन्त्रण के महत्वशाली उपाय हैं, इनको बाढ़ नियन्त्रण के कार्यक्रम में विशेष स्थान मिलना चाहिए।

केन्द्रीय बाढ़ निरोधक मंडल ने जून १९५५ को अपनी पाँचवीं सभा में १६ बाढ़ नियन्त्रण योजनाओं को स्वीकृति प्रदान की, जिनमें बाँध बाँधना, नगरों की रक्षा के उपायों और गाँवों की स्थिति के स्तर को ऊंचा करने के उपाय आदि सम्मिलित हैं। इनमें से प्रत्येक योजना पर १० लाख रुपये से अधिक व्यय होगा, और ७५ करोड़ रुपये का अनुदान प्रादेशिक सरकारों को बाढ़ रोकने के कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिये दिया गया है। बोर्ड ने यह भी सिफारिश की है कि प्रत्येक प्रदेश के बाढ़ रोकने के कार्यों को प्रदेशीय बाढ़ निरोधक विभाग के नियन्त्रण में कर देना चाहिये। इससे कार्य में समन्वय और उसकी गति में तीव्रता होगी।

आलोचना—बाढ़ नियन्त्रण की यह योजना जनता के प्राण, सम्पत्ति और फसल की हानि को रोकने में अभी तक सफल नहीं हो पाई है। इसका कारण सरकारी कार्यक्रम के दोष हैं। मुख्य दोष निम्न हैं। (१) अभी तक जो प्रयत्न सरकार द्वारा किये गये हैं, वह सर्वथा अपर्याप्त है। योजनाएँ बनाने तथा प्रशासन कार्य करने के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं हो पाया है। जो व्यय नियत किया गया है, वह बहुत ही कम है। द्वितीय योजना में भी केवल ६० करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई है, जब कि कम से कम इसका दुगना धन उपयुक्त होता। (२) जल विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान के अभाव के कारण योजनायें दोषपूर्ण हो बन पाती हैं। प्रायः प्रयत्न विफल हो जाते हैं, और परिणाम प्रयत्न की तुलना में कुछ भी नहीं होता (३) बाढ़ों को रोकने के लिये अभी तक तटबँधों पर अधिक निर्भर रहे हैं। बाढ़ द्वारा लाई हुई मिट्टी तटबन्धों के किनारे जमा हो जाती है इससे तटबन्धों को ऊँचा करने का अथवा मिट्टी खुदवाने की समस्या सदैव बनी रहती है। और यदि बाढ़ बहुत तीव्र हुई तो तटबन्धों के बह जाने का भी डर रहता है। अधिक अच्छा उपाय तो भूमि के संरक्षण का है, इससे बाढ़ की तीव्रता कम हो जायगी। इससे एक और भी लाभ यह होगा कि बाढ़ पीड़ित स्थानों की उपजाऊ भूमि के बह जाने की समस्या भी सुलझ जायगी।

कठिनाइयाँ—सिंचाई और विद्युत शक्ति उत्पादन योजनाओं को कार्यान्वित करने में निम्नलिखित अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है।

(१) दोषपूर्ण योजना और अकुशल प्रबन्ध के कारण बहुत सा धन और प्रसाधन निष्फल हो गये। राव समिति में दामोदर घाटी कारपोरेशन के कार्य की परीक्षा की और इस परिणाम पर पहुँची कि केवल कोनार योजना के कुप्रबन्ध के कारण १ ६४ करोड़ रुपये की हानि हुई। सिंचाई और विद्युत शक्ति उत्पादन योजनाये जैसे बडे कार्य मे धन का थोड़ा बहुत नष्ट होना तो अवश्यम्भावी था क्योकि कर्मचारीगण अनुभवहीन थे, और ऐसी स्थिति में भूल होना स्वाभाविक था परन्तु वास्तविक हानि अनुमान से कहीं अधिक हुई इसलिये भविष्य में इस बात का ध्यान रखना पडेगा कि जनता का धन व्यर्थ न जाय।

(२) "स्थिरयन्त्रों और प्रसाधनों के क्रय के सम्बन्ध में निश्चित नीति के अभाव के कारण समय-समय पर विभिन्न प्रकार के यन्त्रों का क्रय किया गया। सिंचाई, शक्ति और योजना मन्त्रालय द्वारा १९५३ में नियुक्त प्लान्ट और मशीनरी कमेटी ने सिफारिश की है कि इस कठिनाई को दूर करने के लिए मुख्य-मुख्य यान्त्रिक प्रसाधनों को एक ही प्रमाप का होना चाहिए।

(३) अपेक्षित योग्यता और सनद प्राप्त इंजीनियर और विशेषज्ञों के अभाव के कारण भारत की नदी घाटी तथा अन्य योजनाओं को बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यह समस्या दो प्रकार की है, (क) विशेषज्ञों का अभाव तथा (ख) जो व्यक्ति दामोदर घाटी तथा अन्य योजनाओं का कार्य कर रहे हैं, वे अपने भविष्य के बारे मे सशक हैं कि इन योजनाओं का कार्य जब समाप्त हो जायगा तब उनका क्या होगा। एक समय भारत सरकार अखिल भारतीय सिंचाई तथा शक्ति विशेषज्ञों का एक विशेष सेवा वर्ग बना रही थी, अथवा इसके स्थान पर ऐसे कर्मचारियों का जो विभिन्न प्रदेशों से आये थे एक सचय (deputation pool) बनाने का विचार कर रही थी।

(४) सिंचाई तथा शक्ति उत्पादन योजनायें सुधार-कर लगाने अथवा सिंचाई की दर बढाने को बाध्य करती हैं। सुधार कर एव सिंचाई की बढी हुई दर के कारण कुछ प्रदेशो के कृषकों को अधिक भार वहन करना पड़ा है। इसलिये यह आवश्यक है, कि इन करों के आरोपित करने के साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रक्खा जाय कि कृषको की कर क्षमता कितनी है। यदि राज्य सरकारें सिंचाई की दर, सुधार-कर तथा शक्ति की दर (Power rate) निश्चय करते समय कृषकों की देय-क्षमता को भी ध्यान में रखें तो बड़ा ही अच्छा हो।

अध्याय ११

सामुदायिक विकास योजनाएँ

भारतीय कृषकों की निर्धनता और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े होने का प्रमुख कारण है कि वे नई प्रणालियों और जीवन के नवीन उपायों के प्रति उदासीन हैं। उनके सम्मुख जो जटिल समस्याएँ हैं उन्हें हल करने के लिए वे सुसंगठित रूप में प्रयत्न भी नहीं करते। सामुदायिक विकास योजनाओं के कार्यक्रमों और राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं (National Extension Service) का उद्देश्य यह है कि उनके द्वारा "जनता के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हो, उनमें जीवन के उच्चतर स्तर तक पहुँचने का महत्त्वाकांक्षी और साथ ही साथ उस स्तर को प्राप्त करने के लिए दृढ निर्णय और इच्छाशक्ति उत्पन्न की जाय। ग्रामों में निवास करने वाले ७ करोड़ परिवारों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना, नवीन ज्ञान व जीवन के नवीन उपायों के प्रति उत्साह उत्पन्न करना और श्रेष्ठतर जीवन व्यतीत करने के लिए उनके हृदय में अभिलाषा व दृढ इच्छा-शक्ति का संचार—यह वास्तव में एक मानवीय समस्या है।" इस उद्देश्य के पूर्ण होने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि विकास कार्य-क्रम ग्रामीण जनता के ऊपर बलपूर्वक न लादे जायें, वरन् इस बात का प्रयास किया जाय कि उन लोगों में ही आत्मविश्वास का उदय हो और वे नियोजन के कार्यक्रम में व्यक्तिगत रूप से रुचि ले सकें। सामुदायिक विकास योजनाओं के आधारभूत सिद्धान्त निम्न हैं :—

(अ) "विकास कार्य के लिए प्रेरक-शक्ति स्वयं ग्रामवासियों से आनी चाहिए। ग्रामों में विपुल शक्ति निष्क्रिय रूप में बिखरी पड़ी है जिसका उपयोग नहीं किया जा रहा है। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि वह शक्ति क्रियात्मक कार्यों के लिए नियोजित की जाय और प्रत्येक परिवार के सदस्य न केवल अपने हित के लिए कार्य करें वरन् सामुदायिक कल्याण के लिए भी समय दें।"

(ब) "सहकारिता के सिद्धान्त को विविध रूपों में लागू होना चाहिए, जिससे ग्राम्य-जीवन की अनेक समस्याएँ हल की जा सकें।"

सामुदायिक विकास योजनाओं के तीन उद्देश्य हैं . (१) कृषि, बागवानी, पशु-पालन, मछली-पालन आदि में वैज्ञानिक विधियों को लागू करके और अन्य पूरक धंधों व कुटीर-उद्योगों को प्रारम्भ करके बेरोजगारी दूर की जाय और उत्पादन

में वृद्धि की जाय (२) जनता के सहयोग से प्रत्येक ग्राम या कई ग्रामों को मिलाकर कम से कम एक बहुउद्देश्यीय सहकारी संस्था होनी चाहिए जिसमें कृषि करने वाले लगभग सभी परिवारों के प्रतिनिधि हों, (३) गाँव की सड़कों, तालाबों, पाठशालाओं, स्वास्थ्य-केन्द्रों आदि सार्वजनिक हित के निर्माण-कार्यों के लिए सुसंगठित प्रयास होना चाहिए। इसके अतिरिक्त ग्रामीण जनता में प्रगतिशील दृष्टिकोण उत्पन्न करने की भी आवश्यकता है।

यह सामुदायिक विकास योजना २ अक्तूबर १९५२ को प्रारंभ की गई थी, जिसके अन्तर्गत ५५ केन्द्रों में सामुदायिक विकास योजनाएँ प्रचालित की गईं। इन योजनाओं का कार्यक्षेत्र लगभग ३०,००० ग्रामों तक विस्तृत है जिनकी जनसंख्या लगभग १ करोड़ ९८ लाख है। कालान्तर में और भी अधिक सामुदायिक विकास योजनाएँ चलाई गईं और २ अक्तूबर १९५३ को राष्ट्रीय प्रसार सेवा के अन्तर्गत प्रसार-मंडलों (Extension Blocks) का भी समारम्भ किया गया। इस प्रकार इस समय दो योजनाएँ साथ-साथ चल रही हैं, जिनमें से प्रथम हैं सामुदायिक विकास योजनाएँ और द्वितीय हैं राष्ट्रीय प्रसार सेवाएँ। 'इन राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं के भी वही उद्देश्य हैं जो सामुदायिक विकास योजनाओं के हैं। कृषि, पशु-पालन, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों में दोनों के कार्य-क्रमों में पर्याप्त समानता है। उनमें यदि कोई भेद है तो यही कि सामुदायिक विकास योजनाओं का कार्य-क्रम विस्तृत है और इसके अन्तर्गत स्थानीय कार्यों पर पर्याप्त धन-राशि भी व्यय की जायगी योजना में यह व्यवस्था की गई है कि जिन विकास-मंडलों की प्रगति पर्याप्त रूप से संतोषजनक होगी और जहाँ जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त होगा, उन्हें सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत सुसंगठित के लिए चुन लिया जायगा।

संगठन—सामुदायिक विकास योजना की व्यवस्था पंचायतों और इसी उद्देश्य के लिए निर्माण की गई अन्य उच्च संस्थाओं द्वारा की जाती है। "जनता और उसके अनेक प्रतिनिधियों से काफी विचार-विमर्श करने के उपरान्त विकास कार्य-क्रम निश्चित किया जाता है। गाँव के स्तर पर नियोजन का कार्य भार पंचायत पर ही रहता है। वही विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित भी करती है। जिन क्षेत्रों में या तो पंचायतें बिल्कुल हैं ही नहीं या उनका अधिक प्रभाव नहीं है, वहाँ यह प्रयास किया गया है कि इस उद्देश्य के लिए ग्रामीण विकास समितियों की स्थापना की जाय, जिन्हें ग्राम-विकास मंडल, ग्राम मंडल समिति, ग्राम सेवा संघ आदि कुछ भी नाम दिया जा सकता है। इन्हीं संस्थाओं के द्वारा नियोजन के कार्य-क्रम को कार्यान्वित करने के लिए जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त

होता है। विकास मडल के स्तर पर एक परामर्शदात्री समिति की स्थापना की जाती है, जिसमें ग्राम समितियों के प्रतिनिधि, विधान-परिषद, विधान-सभा व ससद के सदस्य, सहकारी समितियों के प्रतिनिधि, प्रगतिशील कृषक आदि सम्मिलित होते हैं। यह परामर्शदात्री समिति ग्राम सस्थाओं द्वारा तैयार की गई योजनाओं पर विचार करती है। फिर इस परामर्शदात्री समिति द्वारा निर्माण की गई मडल की विकास योजनाओं को जिला विकास समिति के द्वारा जिले की विकास-योजना के कार्य-क्रम मे सम्मिलित कर लिया जाता है। इस जिला विकास समिति में प्रमुख गैर सरकारी व्यक्ति और जिले के अनेक टेक्निकल विभागों के अध्यक्ष सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्तर पर विकास योजना तैयार करने और उनको कार्यान्वित करने के लिए सरकारी और गैर-सरकारी सगठन साथ-साथ कार्य करते हैं"। इस योजना की एक प्रमुख विशेषता यह है कि "वर्तमान शासन-सम्बन्धी सरकारी ढाँचे में इस प्रकार परिवर्तन किया जा रहा है कि वह जन-कल्याण के दायित्व का भी निर्वाह कर सके, जिसका परिणाम यह है कि सामान्य प्रशासनयत्र से भिन्न एक पृथक जन-कल्याण विभाग स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रशासन-यत्र (administrative machinery) की रचना राजस्व-सग्रह (revenue collection) का निरीक्षण और नियम व व्यवस्था की स्थापना करने के उद्देश्य से की गई थी, उसने परिवर्तित होकर कल्याणकारी शासन का रूप ग्रहण कर लिया है और सरकार के विकास-सम्बन्धी सभी विभागों के साधनो का उपयोग ग्राम-विकास की समस्याओं को हल करने के लिए किया जा रहा है।"

विकास-सम्बन्धी नीति के सामान्य सिद्धान्त निर्धारित करने के लिए प्रत्येक राज्य में एक राज्य विकास समिति (State Development Committee) की स्थापना की गई है, जिसमें मुख्य मत्री और विकास-कार्य से सम्बद्ध अनेक विभागों के अध्यक्ष सम्मिलित होते हैं। डेवलॅपमेन्ट कमिश्नर इस समिति का मत्री होता है और समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से वह सरकार के विकास के सम्बन्धी अनेक विभागों के अध्यक्ष और मन्त्रियों के दल का प्रधान भी होता है। जिले, तहसील और मडल के स्तर पर ऐसा ही समन्वय स्थापित करने के लिए डेवलपमेन्ट कमिश्नर से समान ही क्रमश कलक्टर और मडल-विकास अधिकारी (Block Development Officer) को भी उसी प्रकार के कार्य सौंपे गए हैं। विकास-सम्बन्धी शासन की इस शृ खला में ग्राम-सेवक अन्तिम कड़ी के समान होता है और जिले के शासन का एक अग समझा जाता है। और बहु-उद्देशीय कार्य करमें पड़ते हैं। शासन के ढाँचे को निर्माण करने का उद्देश्य यह है कि

अधिकारी अधिक से अधिक कार्यक्षमता मे काम करें और जनता से अधिकतर सहयोग उपलब्ध है।

योजना के अन्तर्गत—राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास योजनायें प्रथम पचवर्षीय योजना की देन है। कार्य की इकाई एक विकास मडल है, जिसके अन्तर्गत लगभग १०० ग्राम आते हैं, जिनकी जनसख्या ३०,००० से लगाकर ७० ००० तक होती है, और उनका क्षेत्रफल १५० से १७० वर्गमील तक हो सकता है, १९५२ मे जब से यह कार्यक्रम आरम्भ हुआ है, समुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत ३०० मडल और राष्ट्रीय विस्तार सेवा योजना के अन्तर्गत ९०० मडल बना लिए गये हैं, और इस प्रकार १९५६ तक विस्तार मडलों का योग १२०० हो गया है। इसके अन्तर्गत तालिका नं० १ के अनुसार १२३००० ग्राम और ८ करोड़ व्यक्ति आ जायेंगे।

तालिका न० १

विकास मडल का कार्य जो प्रथम पचवर्षीय योजना काल मे आरम्भ किया गया

	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६	जोड़
विकास मडल					
सामुदायिक विकास	२४७	५३			३००
राष्ट्रीय विस्तार	..	२५१	२५३	३९६	९००
जोड़	२४७	३०४	२५३	३९६	१२००
ग्राम सख्या					
सामुदायिक विकास	२५,२६४	७,६९३			३२,९५७
राष्ट्रीय विस्तार		२५,१००	२५,३००	३९६००	९०,०००
जोड़	२५,२६४	३२ ७९३	२५,३००	३९,६००	१,२२,९५७
जनसंख्या (दस लाख में)					
सामुदायिक विकास	१६.४	४.०	..		२०.४
राष्ट्रीय विस्तार		१६ ६	१६.७	२६.१	५९ ४
जोड़	१६.४	२० ६	१६ ७	२६.१	७९ ८

विकास क्षेत्र में १४००० नये स्कूलों को आरम्भ करना और ५१५४ प्राइमरी स्कूलों को बेसिक स्कूलों में परिवर्तित किया जाना है, ३५,००० वयस्कों के लिये शिक्षा केन्द्रों का स्थापित करना, जिनके द्वारा ७७,२०० वयस्क साक्षर किये

गये हैं, तथा ४०६६ मील पक्की और २८००० मील कच्ची सड़क का बनवाना और ८०,००० शौचालयों का गाँवों में निर्माण करवाना स्थानीय विकास के उदाहरण हैं। जिनका सामाजिक प्रभाव बहुत ही महत्वशाली होगा। इस कार्य में बहुत अधिक अंश तक सहायता जनता तथा विस्तार योजनाओं को कार्यान्वित कराने वाले सरकारी कर्मचारियों द्वारा प्राप्त हुई है, जिन्होंने पथ प्रदर्शक का कार्य किया है। यदि ग्राम उद्योगों तथा सहकारिता के क्षेत्र में सफलता कम प्राप्त हुई है, इसका कारण यदि सम्पूर्ण देश के दृष्टिकोण से ही देखा जाय तो सहकारिता तथा नवीन उद्योगों की कार्य व्यवस्था का दोष है, जिसमें सुधार करना चाहिए।

"राष्ट्रीय विकास परिषद् ने सितम्बर १९५५ में यह स्वीकार कर लिया था कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में समस्त देश राष्ट्रीय विकास सेवा योजना के अन्तर्गत आ जायगा और जो राष्ट्रीय विस्तार मंडल सामुदायिक विकास मंडलों में परिणत कर दिये जायेंगे, और उनकी संख्या ४०% से कम न होगी। यदि पर्याप्त वित्तीय सहायता प्राप्त हो सकेगी तो सम्भवतः यह संख्या ५०% भी हो जाय। द्वितीय योजना में ३८०० नये विकास मंडल राष्ट्रीय विस्तार योजना के कार्यक्रम के अन्तर्गत आरम्भ किये जाने वाले हैं और यह आशा की जाती है कि इनमें से ११२० सामुदायिक विकास मंडलों में परिणित कर दिये जायेंगे। योजना के इस कार्य के लिए २०० करोड़ रुपयों का भी प्रबन्ध प्रबन्ध किया गया है।"

"सामुदायिक योजना प्रशासन के निश्चित किए हुये कार्यक्रम के अनुसार द्वितीय पंचवर्षीय योजना में, प्रत्येक वर्ष, राष्ट्रीय विस्तार मंडल तथा उनके सामुदायिक विकास मंडलों में परिणत किये जाने का कार्य किया जाया करेगा।" जैसा कि तालिका नं० २ में दिखाया गया है।

तालिका नं० २

विस्तार मंडलों की संख्या

वर्ष	राष्ट्रीय विस्तार सेवा	सामुदायिक विकास मंडलों में परिवर्तन
१९५६-५७	५००	२५०
१९५७-५८	६५०	२००
१९५८-५९	७५०	२६०
१९५९-६०	९००	३००
१९६० ६१	१०००	३६०
	३८००	११२०

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रत्येक ग्रामीण परिवार मे यह भावना उत्पन्न करनी होगी कि अपने रहन-सहन के स्तर को सुधारना तथा एक निश्चित कार्यक्रम का अनुसरण करना और उसमें सहयोग देना उनका कर्त्तव्य है। यह आशा की जाती है, कि राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम द्वारा और अन्य अनुपूरक कार्यक्रमो द्वारा आगामी कुछ वर्षो मे ही कृषि उत्पत्ति मे वृद्धि के अतिरिक्त निम्न अन्य क्षेत्रो मे उन्नति होगी। (१) सहकारिता के कार्य मे जिसमे सहकारी कृषि भी सम्मिलित है विस्तार होगा, (२) ग्रामोन्नति में सक्रिय उत्तरदायित्व रखनेवाली संस्थाओं के रूप मे ग्राम पचायतो का विकास होगा, (३) भूमि की चकबन्दी, (४) ग्राम के छोटे उद्योगो का विकास होगा, (५) ऐसे कार्यक्रमो को कार्यान्वित करना होगा जिनमें गाँव के पिछड़ी हुई जनता को जैसे छोटे-छोटे कृषक, भूमिहीन कृषक, कृषि कार्य करने वाले मजदूर एव शिल्पी इत्यादि, (६) स्त्रियों और नवयुवकों की उन्नति के लिये और पिछड़ी जातियो के विकास के लिये विस्तृत कार्यक्रम बनाये जायेंगे।

"ऐसे बहुमुखी कार्यक्रमो को कार्यान्वित करने के लिये जिसके अन्तर्गत उद्योग, सहकारिता, कृषि उत्पादन, भूमि सुधार, तथा सामाजिक सेवाये आती हैं, जो क्षेत्र राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को लागू करने के लिये चुने जायेंगे, उनके शीघ्र ही उन्नति करने की बहुत अधिक सम्भावना होगी। जब इन कार्य-क्रमों को सयोजित रूप से कार्यान्वित किया जाता है, और स्थानीय संस्थाओ का सहयोग व्यवस्थित रूप से प्राप्त होता है, तो एक कार्य मे सफलता दूसरे में सफलता के लिए अवसर प्रदान करती हैं। और इस प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्र में आर्थिक व्यवस्था दृढ हो जाती है। द्वितीय योजना के अन्तर्गत विकास कार्यक्रम में कृषि उत्पादन को सर्व प्रथम स्थान दिया गया है। इसके पश्चात् ग्राम की सबसे अधिक महत्वशाली आवश्यकता कार्य करने के पर्याप्त अवसरों का प्रदान करना है। सन्तुलित ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था में यह आवश्यक है, कि औद्योगिक कार्यों के अवसरों की कृषि कार्यो को अपेक्षा दृढतर गति से वृद्धि की जाये। हाल के ग्राम तथा छोटे उद्योगो के विकास कार्य-क्रामों के सम्बन्ध में जो अनुभव हुआ है उससे यह सकेत मिलता है, कि ऐसी विस्तार सेवा की आवश्यकता है, जिसका सम्पर्क ग्रामीण शिल्पकारों से हो और जो उन्हें आवश्यक पथप्रदर्शन कर सके, सहायता दे सके, उनकी सहकरिता के आधार पर व्यवस्था कर सके और अपने माल को गाँव मे तथा बाहर बेचने में सहायता दे सके। इसका प्रारम्भ २६ अग्रगामी योजनाओं को कार्यान्वित करके किया जा चुका है। यह आवश्यक है

कि यथासम्भव शीघ्र प्रत्येक विस्तार तथा सामुदायिक विकास क्षेत्र में एक प्रवीण प्रशिक्षित इन ग्राम उद्योगों के कार्यक्रम को चलाने के लिये नियुक्त किया जाय।

वित्त की व्यवस्था—इन विकास कार्यक्रम के लिए वित्त की व्यवस्था सामुदायिक योजना प्रशासन (Community Project Administraion), राज्य सरकारों और जनता के द्वारा की जाती है। सी० पी० आर्थिक रूप से वित्त का प्रबन्ध तो करता ही है, इसके अतिरिक्त उस पर विशेष यन्त्रों व तत्सम्बन्धी अन्य सामग्रियों को उपलब्ध करने का भी दायित्व है। इस विकास कार्य-क्रम को कार्यान्वित करने के लिए अतिरिक्त कर्मचारियों को रखने पर जितना व्यय होगा, उसका आधा धन राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार द्वारा आर्थिक सहायता के रूप में प्राप्त होगा केन्द्रीय सरकार यह प्रयास भी कर रही है कि योजना की अवधि समाप्त होने तक सहकारी अनदोलन और अन्य एजेन्सियों के द्वारा अल्पकालीन, औसतकालीन और दीघकालीन ऋण के रूप में क्रमश १०० करोड़, और २५ करोड़ रुपये का धन प्रति वर्ष प्राप्त होने लगे। सामुदायिक विकास योजना के कार्य-क्रम पर जो धन-राशि व्यय होती है उसकी लगभग १०% भारतीय-अमरीकी टेकनिकल सहयोग योजना द्वारा यन्त्रों और टेकनिकल परामर्श आदि के रूप में प्राप्त होती है।

सामुदायिक योजनाओं और विकास मंडलों के लिए १९५२-५३ से लेकर १९५५-५६ तक कुल मिला कर ३२ ६० करोड़ रुपये धन का बजट में स्वीकृत हुआ है। इस प्रकार मार्च १९५४ तक प्रथम १८ महीनों में व्यय के लिए १६.३० करोड़ रुपये निर्धारित थे, किन्तु इस अवधि में वास्तव में जो धन राशि व्यय की गई वह केवल ५.९५ करोड़ रुपया थी। इसके अतिरिक्त इस अवधि में नकद धन, श्रम, सामग्री आदि की ऐच्छिक सहायता के रूप में कुल मिलाकर २ ६३ करोड़ रुपया का धन प्राप्त हुआ, जो सरकारी व्यय के धन के आधे से थोड़ा ही कम है। प्रारम्भिक काल की अनेक कठिनाइयों के कारण योजना की प्रगति धीमी रही, किन्तु जब हम इस तथ्य पर ध्यान केन्द्रित करते हैं कि जून १९५४ तक व्यय की गई धनराशि ८ १० करोड़ रुपये तक पहुँच गई, तो भविष्य में अधिक तीव्र प्रगति होने की सभावना प्रकट होती है।

धीमी प्रगति के कारण—सामुदायिक योजनाओं की प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए फोर्ड फाउन्डेशन के सहयोग से एक कार्य-मूल्यांकन संस्था (Programme Evaluation Organisation) की स्थापना की गई है। सामुदायिक योजनाओं को कार्यान्वित करने के मार्ग में निम्न कठिनाइयाँ हैं—

(१) प्रारम्भिक अवस्था में प्रगति के अवरुद्ध होने का कारण यह था कि

जनता उदासीन थी और अन्य लोकप्रिय व्यक्तियो ने भी योजना के कार्य-क्रम मे सक्रिय रूप से भाग नहीं लिया। इस स्थिति मे किसी सीमा तक सुधार अवश्य हुआ है, किन्तु फिर भी ग्रामवासियो का पूर्ण सहयोग नही प्राप्त हो रहा है। प्रगति के धीमी और अनिश्चित होने का यह एक प्रमुख कारण था।

(२) पचायतों अथवा विशेष कर इसी उद्देश्य से स्थापित की गई अन्य लोक प्रिय सस्थाओं से जो सहयोग प्राप्त हुआ है, वह अपर्याप्त है। पचायतें सभी क्षेत्रो में नहीं हैं और जहाँ हैं भी, वहाँ उनमे गुटबन्दी के कारण प्रायः सघर्ष चलता रहता है। सहकारी सस्थाएँ उपयोगी हो सकती हैं, किन्तु विकास योजनाओं के सम्बन्ध में उनकी उपयोगिता सीमित ही है। उनके नियमों के अनुसार सामान्य रूप से सदस्य भी नहीं बनाए जा सकते, क्योंकि उनका चुनाव किया जाता है। सहकारी सस्थाओं की रचना ही कुछ विशिष्ट प्रकार की होती है जिससे उनके कार्य सीमित होते हैं। विकास कार्य-क्रम की सहायता के लिए अनेक परामर्शदात्री सस्थाओं की स्थापना की गई है जिनके भिन्न-भिन्न नाम हैं और जो कुशल अधिकारियो के निर्देशन मे सन्तोषजनक कार्य कर रही हैं। किन्तु फिर भी यह आशका बनी हुई है कि जब सरकारी अधिकारी हटा लिए जायेंगे, तो सभव है कि ये सस्थाएँ कार्य करना बन्द कर दे।

(३) धीमी प्रगति के लिए उचित योजना का अभाव भी अधिक सीमा तक उत्तरदायी है। विकास की प्रगति इसलिए धीमी नही रही है कि आवश्यक वित्त का अभाव था, वरन् उसका कारण यह था कि प्रारम्भिक अवस्था मे अधिकारियों-द्वारा बजट मे कोई निश्चित मात्रा निर्धारित नहीं की गई। इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी थे। बजट बहुत जल्दी में तथा अस्पष्ट विचारों के साथ तैयार किए जाते थे तथा धनराशि को मजूरी देने के पूर्व विवरण जानने में समय लगता था।

(४) कार्य-क्रम की इस धीमी प्रगति और अनेक भूलों के लिए प्रशिक्षण-प्राप्त कर्मचारियों का अभाव बहुत बड़ी सीमा तक उत्तरदायी है। किन्तु अब अधिक सख्या में कर्मचारियों को प्रशिक्षण देकर यह अभाव शीघ्रता से दूर किया जा रहा है।

पी० ई० ओ० की तीसरी सफलताकन रिपोर्ट (Evaluation Report) ने कार्य को समुचित रूप से चलाने के सम्बन्ध मे अनेक प्रयागात्मक सुझाव दिये हैं जो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक विकास कार्य-क्रम को आशानुकूल सफल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि (१) औद्योगिक विभागों को प्रत्येक दिशा में

और प्रत्येक स्तर पर पर्याप्त मात्रा में दृढ बनाया जाय। अनेक स्थानों पर प्रत्येक क्षेत्र तथा जिला सम्बधी औद्योगिक विभागीय व्यवस्था की क्षमता तथा संख्या में सुधार करना आवश्यक हो गया है, (२) इसके अतिरिक्त अन्वेषण के कार्य की सुविधाओं का विस्तार किया जाय, भूमि के आस-पास के गवेषणागारों को विस्तृत किया जाय और इस बात का विशेष ध्यान दिया जाय कि खेतों से सब सूचनायें गवेषणगारों तक पहुँच जाँय, (३) विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों पर क्षेत्र विकास कर्मचारी के नियन्त्रण (जो आवश्यकता से अधिक हो सकता है) तथा जिलों के अन्य प्राविधिक अधिकारियों के दुहरे नियन्त्रण की व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर रही है। (४) निर्माण कार्यों ने ग्रामों में कार्य करने वाले कर्मचारियों का जिनको कृषि तथा कृषि विस्तार की प्रारम्भिक शिक्षा मिली है और जिनका सबसे अधिक आवश्यक कर्त्तव्य कृषि उत्पादन बढाने का है, अधिकाश समय ले लिया है, (५) ग्राम पचायतों को अपने वृद्धिमान उत्तरदायित्व को जो कि उनके ऊपर डाल दिया गया है पूर्ण करने के लिये सदैव पथ प्रदर्शन तथा सक्रिय सहायता मिलनी चाहिए, (६) कार्य-क्रम को कार्यान्वित करने मे आवश्यकता से अधिक महत्व भौतिक और आर्थिक सफलताओ पर दिया गया है, जैसे निश्चित किये हुये कार्य के, व्यय और भवन निर्माण के ध्येयों को पूरा करना इत्यादि, और जनता को नये ढग से कार्य करने की शिक्षा देने तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा को सुधार और विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों के पूर्ण करने के लिये, जो राष्ट्रीय प्रादेशिक योजना के अन्तर्गत है, एक प्रभावशाली साधन बनाने की ओर कम ध्यान दिया गया है।

कार्य करने मे त्रुटि—सामुदायिक विकास योजनाओं ने ग्रामीण जनता मे आत्मविश्वास उत्पन्न करने में बहुत कुछ योग दिया है। उसने ग्रामनिवासियों को इस बात का आभास दिया है कि ग्राम्य-जीवन में निश्चित रूप से कुछ गड़बड़ी है जिसका पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही सुधार किया जा सकता है। अभी इतना अधिक समय नही हुआ है कि इस सम्बन्ध मे किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके, फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि सामुदायिक विकास योजनाओं ने उत्पादन बढाकर और बेरोजगारी कम करके ग्रामों में रहन सहन का स्तर ऊँचा किया है। किन्तु जिस रूप में कार्य-क्रम को कार्यान्वित किया जा रहा है उसमे कई दोष हैं. (१) भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के श्रम का उपयोग करने की समुचित व्यवस्था नहीं है। कृषि के क्षेत्र में उत्पादन-वृद्धि और कृषकों के लिए कार्य के अवसर उत्पन्न करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है, किन्तु भूमिहीन मजदूरों को बसाने की व्यवस्था भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। जब कभी विकास योजनाओं

के अन्तर्गत अस्थायी रूप से मजदूरी देकर कार्य करने की आवश्यकता पड़ती है तभी इन्हें थोड़ा-बहुत कार्य मिलता है। इसके अतिरिक्त वे निःसहाय, बेरोजगार और उपेक्षित-से रहते हैं, (२) यदि दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाय तो सामुदायिक विकास योजनाओं के कार्य-क्रम मे एक और दोष प्रकट होगा। वह यह है कि खेतिहर मजदूरों को पूरक कार्य उपलब्ध कराने के लिए ग्राम्य-उद्योगों की स्थापना करने पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। इस सम्बन्ध में पी० ई० ओ० की यह धारणा है कि "ग्रामीण उद्योग-धन्धों की अनिश्चित सभावना के पीछे चाहे जो भी कारण हों, किन्तु तथ्य तो यह है कि सामुदायिक विकास योजनाओं के वर्तमान स्वरूप और साधनों से भूमिहीन मजदूरो की बेरोजगारी की समस्या हल करने की आशा नही की जा सकती"। किन्तु पी० ई० ओ० का यह दृष्टिकोण गलत है। चकि सामुदायिक विकास योजनाओ का उद्देश्य है कि उत्पादन कार्य और ग्रामीण जनता की आय मे वृद्धि हो और ग्रामवासियों में नई आशा का संचार किया जाय, इसलिए गैर खेतिहर वर्ग की बेरोजगारी' का समस्या को उपेक्षा की दृष्टि मे देखना उचित नहीं है ऐसा करने पर सामुदायिक विकास योजनाओं की उपयोगिता बहुत कुछ कम हो जायगी, (३) सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत भूमि की समस्या को सुलझाने के लिए भी कोई प्रयास नहीं किया गया है। चकबन्दी का कार्य एक अन्य सगठन द्वारा किया जा रहा है, किन्तु इसने अभी अधिक सफलता नहीं प्राप्त की है। बम्बई, उत्तर-प्रदेश और सौराष्ट्र को छोड़कर सहकारी कृषि के क्षेत्र मे अधिक प्रगति नहीं हुई है और इन राज्यों मे भी यह आन्दोलन अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। बहुत से कृषकों के पास कृषि के लिये इतनी कम भूमि है कि उस पर कृषि करना आर्थिक दृष्टि से लाभ-पूर्ण नहीं है। जब तक कृषि की इकाई के रूप में प्रयुक्त होने वाली भूमि का क्षेत्रफल नहीं बढाया जाता और निम्नतम लागत से अधिकतम उत्पादन नहीं होगा, तब तक किसान खेती की विकसित प्रणालियो का पूरा लाभ नहीं प्राप्त कर सकेंगे, और (४) सामुदायिक विकास योजना के कार्य-क्रम में अब तक कोई ऐसा व्यवस्था नहीं है जिससे जन-सख्या की वृद्धि पर नियत्रण रखा जाय और परिवार-आयोजन (Family Planning) का सुचारु प्रबन्ध हो सके। जब तक यह कार्य नहीं हो जाता तब तक भारतीय ग्रामीण जनता की जटिल समस्याओं को सन्तोषजनक रूप से हल करने की आशा करना व्यर्थ है। उत्पादन बढाकर और जन-सख्या की वृद्धि को नियन्त्रित करके ही ग्रामवासियों के रहन सहन का स्तर ऊँचा किया जा सकता है।

अध्याय १२

सहकारी आन्दोलन

भारत में सहकारी आन्दोलन का विकास २० वीं शताब्दी में हुआ। सह-कारिता का अर्थ है किसी समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिलजुल कर प्रयत्न करना। समान उद्देश्य की दृष्टि से यह व्यक्तिगत प्रयत्न और सहायता से बिल्कुल भिन्न है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सघ की परिभाषा के अनुसार सहकारी समिति ऐसे व्यक्तियों की सस्था है जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है और जो समान अधिकार तथा उत्तरदायित्व के आधार पर स्वेच्छा-पूर्वक सगठित होकर अपनी ऐसी समान आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति का भार एक सस्था को सौंप देते हैं जिनको वह अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों के द्वारा पूर्णत' सन्तुष्ट कर सकने में असमर्थ होते हैं। यह लोग आपस में मिलकर इस सस्था का प्रबन्ध करते हैं और समान भौतिक एवम् नैतिक लाभ उठाते हैं। इस प्रकार सहकारी समिति समान हितों का सघ है, यह समान अधिकार प्राप्त सदस्यो का स्वेच्छा से निमित एक ऐसा आर्थिक सगठन है जो अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूति करता है और उनके समान हितों की रक्षा करता है।

सहकारी समितियाँ दो प्रकार की हैं—(१) रेफिजेन (Raiffeisen type) और (२) शुल्ज डेलित्ज (Schulze Delitsch type)। इन दो प्रकार की सह-कारी समितियों में जिन व्यक्तियों का नाम सम्मिलित है वह जर्मनी में सहकारी आन्दोलन के प्रणेता थे। प्रथम प्रकार की सहकारी समिति के सिद्धान्तों का उप-योग ग्राम में सगठित की जानेवाली समितियों में किया जाता है और दूसरे प्रकार की समितियों के सिद्धान्तों का उपयोग नगरों में किया जाता है। रेफिजेन-समि-तियों का कार्य क्षेत्र प्राय एक ग्राम तक सीमित रहता है और इनके सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता है। इन समितियों से केवल सदस्यों को ही ऋण दिया जाता है और वह भी केवल उत्पादन के लिए। शुल्ज-डेलित्ज समितियों का कार्य क्षेत्र अधिक व्यापक है और इनके सदस्यों का उत्तरदायित्व भी सीमित है। इस प्रकार की सीमित सदस्यों से प्रवेश शुल्क वसूल करती है और बिना आय वाला व्यक्ति उसका सदस्य नहीं बन सकता है।

वित्त, उत्पादन, वितरण इत्यादि किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन समितियों को सगठित किया जा सकता है परन्तु भारत मे ऋण देने वाली

साख समितियों का ही प्रभुत्व है। वास्तव में भारत में सहकारी आन्दोलन आरम्भ करने का निश्चित उद्देश्य ग्रामों में ऋण की भयानक समस्या को हल करना और ग्रामीणों को सुविधा जनक रीति से ऋण देना था। भारत में जून १९५५ में सब प्रकार की २,१६,२८८ समितियों की तुलना में जून १९५६ में २,४०,३९५ सहकारी समितियाँ थीं। कृषि साख समितियाँ ही प्रमुख थीं। इनकी संख्या कुल समितियों की ६७½% तथा कृषि समितियो की ८०½% थी। आन्दोलन अब भी साख-प्रधान है।

विकास—भारत में सहकारी आन्दोलन के इतिहास की सर्वप्रथम महत्व-पूर्ण घटना १९०४ का सहकारी साख-समिति अधिनियम है। इस नियम के बनने से पूर्व भी मद्रास में सहकारिता के सिद्धान्तों का महत्वपूर्ण विकास हो रहा था। वहाँ साख-समितियो का कार्य 'निधियाँ' करती थी। देश मे सहकारिता के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने के लिए सरकार ने सर्वप्रथम १९०१ में एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि जब तक सरकार अधिनियम नहीं बनाती इस दिशा में विशेष प्रगति की सभावना नहीं है। इसी रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने सहकारी साख-समिति अधिनियम पास किया। इसमें केवल साख-समिनियों की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार अन्य देशों की अपेक्षा भारत में सर्वप्रथम साख-समितियों का ही विकास हुआ। नियम लागू होने के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि इससे उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। साख-समितियों के पास ग्राम में ऋण प्रथा समाप्त करने के लिए आवश्यकता से बहुत कम पूँजी थी।

इस नियम के दोषो को दूर करने के लिए १९१२ में दूसरा सहकारी समिति अधिनियम पास किया गया। इस नियम में क्रय-विक्रय करने वाली अन्य प्रकार की सहकारी समितियों का सगठन करने की व्यवस्था की गई। नगर और ग्राम समितियों के अतर को मिटा दिया गया। सीमित उत्तरदायित्व और असीमित उत्तर-दायित्व के आधार समितियों को अधिक वैज्ञानिक रूप से वर्गीकृत किया गया। नियम में यह निश्चित कर दिया गया कि जिन समितियो के सदस्य रजिस्टर्ड समि-तियाँ हैं वह सीमित उत्तरदायित्व वाली समितियाँ होंगी और साख-समितियाँ तथा ऐसी अन्य समितियाँ जिनके अधिकाश सदस्य कृषक हैं असीमित उत्तरदायित्व वाली समितियाँ होंगी। इस नियम से सहकारी आन्दोलन के विकास में सहायता मिली। उत्पादन के विक्रय के लिए, पशु-बीमा, दूध की पूर्ति और खाद इत्यादि क्रय के लिए नई प्रकार की समितियाँ स्थापित की गई।

मैकलैगन समिति की रिपोर्ट के आधार पर सहकारी आन्दोलन के विकास

में एक और प्रयास किया गया। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर १९१९ के सुधार अधिनियम (Reform Act) के द्वारा सहकारी आन्दोलन का कार्य राज्य-सरकारों को सौंप दिया गया। राज्य सरकारों ने कुछ वर्षों तक इस दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति नहीं की परन्तु १९२५ में बम्बई की सरकार ने अलग से सहकारी समिति अधिनियम नियम बनाया। इसके पश्चात् अन्य राज्यों में भी आवश्यक कानून बनाये गये।

सहकारिता आन्दोलन के विकास का कुछ अनुमान इस बात से लग सकता है कि १९५१-५२ में समितियों की सख्या, सदस्या सख्या तथा कुल चालू पूँजी क्रमशः १·८५ लाख, १३७ ९२ लाख तथा ३०६·३४ करोड़ रु० थी। १९५५-५६ में यह बढ कर क्रमश २४० लाख, १७६·२ लाख और ४६८ ८२ करोड़ रु० हो गई। विभिन्न प्रकार की समितियो के दृष्टिकोण से अन्य समितियो की अपेक्षा कृषि साख समितियों में वृद्धि अधिक हुई है। पिछले वर्षों की ही तरह साख समितियाँ ही अधिक प्रधान रही और कुल चालू पूँजी का ७५% साख क्षेत्र में ही था। यह मानते हुए कि भारतीय परिवार के सदस्यो की औसत सख्या ५ है हम कह सकते हैं कि १९५५-५६ में ८८ करोड़ व्यक्ति अथवा जनसख्या के २३ प्रतिशत व्यक्ति सहकारी आन्दोलन के सम्पर्क में आये। १९५१-५२ में ६ ६ करोड़ व्यक्ति अथवा १९ प्रतिशत जन सख्या सम्पर्क मे आई थी। इसी प्रकार (प्राइमरी) प्राथमिक समितियों, जो आन्दोलन का आधार प्रस्तुत करती है, द्वारा १९५१-५२ मे दिया हुआ ९७·९५ करोड रु० था। १९५५-५६ मे यह राशि बढ़कर १४० ७८ करोड़ रु० हो गयी। दिये गये ऋण की इस वृद्धि से भी प्रगति का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। चिन्ता का विषय तो यह है कि बकाया ऋणों के प्रतिशत के रूप में कालातीत ऋणों में कुछ कमी अवश्य हुई है किन्तु उनका अनुपात अब भी बहुत अधिक है।

प्रगति के इस सक्षिप्त सर्वेक्षण म हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि (क) सहकारिता से जनसख्या का बहुत छोटा अश लाभ उठा रहा है, (ख) जनसख्या की वृद्धि के अनुकूल अनुपात में सहकारिता का विकास नहीं हुआ है, (ग) यद्यपि गैर साख समितियों की सख्या मे वृद्धि हुई है, फिर भी साख समितियो का ही अधिक विकास हुआ है। इसलिये सहकारिता आन्दोलन को व्यापक बनाने के लिये यह आवश्यक है कि सहकारी समितियो मे साख के अतिरिक्त अन्य पक्षों पर भी आवश्यक ध्यान देना चाहिये।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ—सहकारी आन्दोलन न तो सारे देश में समान रूप से फैला है और न सभी जगह इसका सङ्गठन समान है। सहकारी आन्दोलन ने

खण्ड 'क' के कुछ राज्यों मे विशेष प्रगति की है परन्तु अन्य राज्यों मे इसका उपयुक्त विकास नहीं हो पाया है। खण्ड 'ख' और 'ग' राज्यों मे से कुछ में इस आन्दोलन का बिल्कुल विकास नही हुआ। सम्पूर्ण देश मे कुल जितनी सहकारी समितियाँ हैं उनका ३८ प्रतिशत और प्रारम्भिक समितियो के लगभग ४६ प्रतिशत सदस्य केवल बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश में हैं जबकि उत्तर प्रदेश, मद्रास, बम्बई, पश्चिमी बङ्गाल, पञ्जाब तथा हैदराबाद में क्रमशः ६१ तथा ६५ प्रतिशत है। परन्तु देश में जहाँ जनसख्या तथा क्षेत्रफल मे भारी अन्तर है सहकारी समितियों की प्रगति की जाँच करने के लिए समितियों की सख्या उपयुक्त नहीं है। यह जानना आवश्यक है कि इन समितियो से कितने प्रतिशत जनता लाभ उठाती है। कुछ खण्ड 'ख' और 'ग' राज्यो में सहकारी समितियो का कार्य सन्तोष-जनक रहा है। रिजर्व बैङ्क ने सुझाव दिया है कि सहकारी आन्दोलन के सम्बन्ध मे प्रत्येक राज्य में समितियो के कार्य-क्षेत्र पर और खण्ड 'ख', 'ग' और 'घ' राज्यो मे उनकी कार्य कुशलता पर विशेष महत्व दिया जाय।

सङ्गठन—सहकारी समितियो का सङ्गठन वास्तव मे शुण्डाकृति (Pyramid) के समान है। इस सङ्गठन का आधार वह प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ हैं जिनको सङ्गठित करने के लिए कोई भी दस व्यक्ति सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार को आवेदन पत्र दे सकते है। विभाग के निरीक्षक द्वारा आवश्यक जाँच-पड़ताल के पश्चात् समिति स्थापित करने की अनुमति दी जाती है। इन समितियो की चालू पूँजी, प्रवेश शुल्क, सरकारी ऋण, केन्द्रीय समितियों तथा राज्य बैङ्को से ऋण लेकर एकत्र की जाती है। इनमें से कुछ समितियो के पास शेयरो की पूँजी भी है। केवल साख समितियो को छोड़कर इन समितियों का उत्तरदायित्व सीमित है और सारी व्यवस्था प्रबन्धक समिति तथा आम-सभा के हाथ में होती है।

इन प्रारम्भिक समितियों के ऊपर केन्द्रीय समितियाँ और राज्यीय सहकारी समितियाँ होती हैं। प्रारम्भिक समितियो के सङ्गठन से केन्द्रीय समितियाँ बनती हैं और इन (केन्द्रीय) समितियों के सङ्गठन से राज्यीय समितिया जन्म लेती हैं। सम्पूर्ण आन्दोलन इसी प्रकार परस्पर गुँथा हुआ है। यद्यपि केन्द्रीय साख-समितियो को अपनी पूँजी का अधिकाश भाग रिजर्व बैङ्क से अल्पकालीन ऋण के रूप मे प्राप्त होता है फिर भी इनकी और प्रदेशीय समितियों की व्यवस्था तथा वित्त की आवश्यकता की पूर्ति इत्यादि कार्य प्रारम्भिक समितियो को ही तरह होते हैं। पहले केन्द्रीय समितियों को रिजर्व बैङ्क से प्राप्त होने वाले अल्पकालीन ऋण की अवधि ९ महीने थी परन्तु अब इसे बढ़ाकर १५ महीने कर दिया गया है। ऋण के

धन पर ब्याज की दर डेढ रुपया प्रतिशत है। यह दर बैङ्क के ब्याज की दर से दो प्रतिशत कम है।

सहकारी समितियों के शुडाकृति की व्यवस्था में शीर्ष पर सहकारी सङ्घ नाम की अखिल भारतीय सस्था है। इस सस्था का प्रथम सम्मेलन फरवरी १९५२ में बम्बई में हुआ था।

साख-समितियाँ—प्रारम्भिक कृषि साख समितियों की सख्या जो कि सहकारी ऋण व्यवस्था का मूलाधार है, जून १९५५-५६ में १½ लाख थी और उनका सदस्यों की सख्या ७८ लाख थी।

तालिका नं० ३

प्रारम्भिक कृषि साख समितियों का कार्य

(अन्न बैंक और भूमिबंधक बैंकों को छोड़कर)

	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५
समितियों की सख्या	१,०७,९२५	१,११,६२८	१,२६,९५४	१,४३,३२०
सदस्यों की सख्या	४७,७६,८१९	५१,२६,००२	५८,४९,३८०	६५,६५,४१६
वर्ष के अन्तर्गत	(करोड़ रुपये में)			
दिये हुए ऋण की घन राशि	२४ २०	२५ ६९	२९ ६४	३५·४८
वर्ष के भीतर ऋण में वसूल की धनराशि	१८ ९७	२१ २१	२६ ४८	२८ ६१
वर्ष के अन्त में वसूल होने वाला ऋण	३३ ६६	३७ ६८	४१·५६	४८ ५३
वर्ष के अन्त में शेष ऋण	८ ५२	१० ४७	१२·०३	१४·७०
निजी कोष	१७ ६७	१९ २७	२१·५५	२३·९६
जमा धन	४ ४१	४·४१	४ ६१	५ ४४
ऋण में लिया हुआ धन	२३ १५	२४ ४९	२८ २४	३३ ५२
चालू पूँजी	४५ २२	४९·१८	५४ ४१	६२ ९३

प्रारम्भिक साख समितियाँ आर्थिक दृष्टि से निर्बल हैं और इस कारण कृषक को उतना लाभ नहीं पहुँचा पातीं जितना कि चाहिये। तालिका नं० ३

सहकारी बैंकों के लिये वही कार्य करते हैं जो केन्द्रीय सहकारी बैंक छोटी सहकारी समितियों के लिये करते हैं। शीर्ष बैंक केन्द्रीय सहकारी बैंकों को ऋण देते है और अधिक आय वाले केन्द्रीय सहकारी बैंकों की अतिरिक्त आय से घाटे में चलने वाले केन्द्रीय सहकारी बैंकों की सहायता करके सन्तुलन स्थापित करते हैं। लोगों को धन जमा करने की प्रेरणा देकर तथा व्यापारिक बैंकों, रिजर्व बैंक और सरकार से ऋण लेकर यह द्रव्य बाजार और केन्द्रीय सहकारी बैंको के बीच सबन्ध स्थापित करते हैं और इस धन से केन्द्रीय सहकारी बैंको की सहायता करते हैं।

१९०४ के सहकारी समिति कानून में जो १९१२ मे सशोधन किया गया उसके पश्चात् केन्द्रीय यूनियनों, केन्द्रीय सहकारी बैंकों और सर्वोच्च बैंको ने काफी प्रगति की है। १९०४ के कानून में सशोधन करके इन केन्द्रीय सहकारी सस्थाओं को मान्यता प्रदान की गई। फिर भी इन केन्द्रीय सस्थाओ की सख्या और भारतीय कृषकों को इनसे मिलने वाली वित्त सहायता पूर्णतया अपर्याप्त है। वास्तव में इस बात पर जोर देना चाहिये कि इन सस्थाओ की सख्या मे वृद्धि हो, इनके साधन बढाये जाय जिससे ये कृषकों के लिये अधिक लाभदायक सिद्ध हो सकें।

शीर्ष बैंक—सहकारी अधिकोषण द्वारा की गई प्रगति का अनुमान इसी से लग सकता है कि १९५०-५१ से १९५५-५६ के बीच १० नई राज्यीय सहकारी बैंकों की स्थापना की गई तथा ३० जून १९५६ को देश मे २४ ऐसी बैंके थी। केवल पाँच राज्यों—कच्छ, मनीपुर, पॉडुचेरी, त्रिपुरा अडमन और निकोबार,—मे अब तक राज्यीय बैंक नहीं हैं। इन बैंकों की सदस्यता बढकर ३६,३९४ (जिसमे ११,७४३ व्यक्ति, और २४,६५१ बैंक तथा समितियाँ थी) तथा चालू पूँजी बढकर ६३ ३४ करोड रु० हो गई।

शीर्ष सहकारी बैंक दो प्रकार के होते हैं, मिश्रित और अमिश्रित। मिश्रित बैंकों के शेयर व्यक्ति तथा सहकारी सस्थायें दोनो ही ले सकते हैं परन्तु अमिश्रित में केवल सहकारी सस्थायें ही शेयर ले सकती है। यदि प्रत्येक शीर्ष बैंक अमिश्रित ढग के ही होते तो सहकारिता आन्दोलन की भावना के सर्वथा अनुकूल होता। परन्तु अमिश्रित बैंक तो केवल आन्ध्र, पजाब, पश्चिमी बङ्गाल और मैसूर ही में प्रचलित हैं। शेष सब राज्यो में मिश्रित बैंक ही हैं।

१९५५-५६ में शीर्ष बैंकों की चालू पूँजी मे (जो ६३·३४ करोड रुपए थी) निजी कोष १२·१%, जमा धन ५७ ९% तथा अन्य श्रोतो से प्राप्त ऋण ३०% था जब कि १९५१-५२ मे यह प्रतिशत क्रमशः ११ ४, ५७·७ और ३०·८ थे इन

बैंकों के निजीकोष का इतना कम होना नहीं चिन्ता का विषय है क्योंकि बिना निजी कोष में वृद्धि के इन में स्थिरता आना सम्भव नहीं।

ये बैंक वर्तमान समय में ऋण और जमाधन पर अपना कार्य चलाने के लिए निर्भर रहते हैं। १९५५-५६ में ३६.६७ करोड़ रु० के जमा-धन में १८.८५ करोड़ रु० गैर-सहकारी स्रोतों से प्राप्त किया गया रिजर्व बैंक और सरकार से लिये नये ऋण की मात्रा क्रमशः २२.२ करोड़ रु० तथा ०.४ करोड़ रु० थी। १९.२ करोड़ रु० की अन्य ऋण की राशि में व्यापारिक बैंकों से लिया गया ऋण १,०५१,००० रु० तथा सहकारी बैंकों से लिया ऋण ८८,०००रु० था। इसमे व्यापारी बैंकों पर निर्भरता घटती और सरकार, रिजर्व बैंक तथा सहकारी बैंकों पर बढती दिखाई पड़ती है। इन बैंकों का लगभग १८.३६ करोड़ रुपया सहकारी तथा अन्य प्रतिभूतियों (ट्रस्टी सिक्योरिटीज) लगा हुआ था।

"राज्यीय सहकारी बैंकों द्वारा दिये गये अग्रिम (advance) की मात्रा १९५४-५५ के ५०.२४ करोड़ रुपया से बढ़कर १९५५-५६ में ६७.८९ करोड़ रु० हो गई। यह वृद्धि बैंकों तथा समितियों को दिये गये अग्रिम में अधिक दर्शनीय थी। व्यक्तियों को दिये गये अग्रिम की मात्रा १९५४-५५ में घट गई थी किन्तु विषाद का विषय तो यह है कि १९५५-५६ में इसमें २.३० करोड़ रु० की वृद्धि हुई जिसके फलस्वरूप व्यक्तियों को दिये गए अग्रिम की मात्रा बढ़कर ९.७६ करोड़ रु० हो गई।"

केन्द्रीय सहकारी बैंक—केन्द्रीय बैंकों की संख्या १९५४-५५ मे ४८५ थी। १९५५-५६ में यह घटकर ४७८ हो गई। "यह कमी कुछ राज्यों में केन्द्रीय वित्तीय एजेन्सियों के युक्तिकरण की नीति बरतने के परिणाम स्वरूप हुई है। उदाहरण के लिये हिमाचल प्रदेश मे राज्य की दो अवशिष्ट बैंकिंग यूनियन राज्यीय सहकारी बैंक में विलयित हो गई। जम्मू और काश्मीर में तीन जिला बैंकें जम्मू केन्द्रीय सहकारी बैंक मे विलयित हो गई। केन्द्रीय बैंकों की संख्या में कमी होने के बावजूद भी उनकी सदस्य संख्या १९५४-५५ के अंत में २,७२,००० (१,३२,२७२ व्यक्ति तथा १,३९,७२८ समितियाँ) से बढ़कर १९५५-५६ में २९९, ५५५ (१,४४,००६ व्यक्ति तथा १,५५,५४९ समितियाँ) हो गई।" आन्ध्र, आसाम, बिहार, मध्य प्रदेश, मद्रास, हैदराबाद, जम्मू और काश्मीर, मध्यभारत, मैसूर, सौराष्ट्र और भोपाल में मिश्रित ढङ्ग के और त्रिवकुर कोचीन में अमिश्रित ढङ्ग के केन्द्रीय बैंक थे। शेष प्रदेशों में जैसे बम्बई, उड़ीसा, पञ्जाब उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बङ्गाल, पेप्सू, राजस्थान, अजमेर, हिमाञ्चल प्रदेश में मिश्रित और अमिश्रित दोनों ढङ्ग के केन्द्रीय बैंक थे।

केन्द्रीय सहकारी बैंको के कुल सदस्यो में से ५२ प्रतिशत बैंक और समितियाँ हैं और ४८ प्रतिशत व्यक्ति हैं। इन बैंकों की चालू पूँजी ६२·६७ करोड़ रुपये हैं जिसमे से १६·४ प्रतिशत निजी पूँजी हैं, ६०·१ प्रतिशत जमाधन है, और २३·५ प्रतिशत अन्य स्रोतों से लिया गया ऋण है। १९५१-५२ मे यह प्रतिशत क्रमशः १६·२, ६३·५, २०·१ थे। सर्वोच्च बैंकों की तरह इन बैंको की निजी पूँजी का अनुपात पिछले वर्षों की अपेक्षा कुछ बढ रहा है पर फिर भी निजी पूँजी का अनुपात बहुत कम है। इससे इन बैंकों का कार्य अस्थिर रहता है। भविष्य मे इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि इनकी हिस्सा पूँजी और सुरक्षित कोष की पूँजी बढाई जाय जो इन बैंको की निजी पूँजी होती है। १९५५ ५६ में जमाधन का ६७ प्रतिशत विभिन्न व्यक्तियो से और ३० प्रतिशत प्रारम्भिक समितियो से तथा ३ प्रतिशत सहकारी बैंकों से प्राप्त हुआ। इन्होने ऋण अधिकतर सहकारी बैंकों से प्राप्त किये। सहकारी बैंका पर निर्भरता स्वाभाविक ही है क्यों-कि जिन राज्यों में सर्वोच्च बैंक हैं वहाँ केन्द्रीय सहकारी बैंकों को सर्वोच्च बैंको के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से ऋण लेने को प्रोत्साहित नहीं किया जाता।

केन्द्रीय सहकारी बैंका के कार्य की एक विशेषता यह थी कि व्यक्तियों को दिये जाने वाले अग्रिम में कमी आ गई। १९५५ ५६ मे बैंकों तथा समितियों को दिये जाने वाला अग्रिम ८८ प्रतिशत तथा व्यक्तियों को दिया जाने वाला अग्रिम १२ प्रतिशत था जबकि इससे पहिले वर्ष के प्रतिशत क्रमशः ८१ तथा १९ थे। बुरे तथा सन्देहात्मक ऋणों का अनुपात अब भी अधिक है हालाँकि इस दिशा में भी कुछ सुधार हुआ है।

समान विशेषताएँ—सर्वोच्च और केन्द्रीय सहकारी बैंकों में बहुत कुछ समानता पाई जाती है, (१) इन दोनों संस्थाओं की हिस्सा पूँजी और सुरक्षित निधि (अर्थात् निजी पूँजी) अपर्याप्त हैं। केन्द्रीय सहकारी बैंकों की स्थिति कुछ अच्छी है, परन्तु उनमें भी हिस्सा पूँजी और सुरक्षित कोष का धन पर्याप्त नहीं है इसका एक कारण तो यह है कि इन बैंकों का जिन लोगों से सम्बन्ध रहता है वह निर्धन हैं और इनको लाभ भी बहुत कम होता है जिससे सुरक्षित कोष में पर्याप्त धन-राशि एकत्रित नही हो पाती। यह खेद का विषय है कि द्वितीत महायुद्ध के समय और महायुद्ध के तुरन्त पश्चात् जब कृषकों की वित्तीय स्थिति सुधरी थी, इन बैंको की हिस्सा पूँजी बढाने का अवसर खो दिया गया। इन बैंकों की हिस्सा पूँजी मे तभी वृद्धि की जा सकती है जब कि कृषकों की वित्तीय स्थिति में सुधार हो प्रथम व द्वितीय पञ्चवर्षीय योजनाओ की समाप्ति तक कृषको की वित्तीय स्थिति सुधर जायगी और तब बैंकों की हिस्सा पूँजी में वृद्धि की जा सकेगी।

(२) दोनों संस्थाओं में कुछ मिश्रित तथा कुछ अमिश्रित बैंक हैं। अमिश्रित बैंक सहकारिता के सिद्धान्त के अधिक अनुकूल होते हैं। परन्तु मिश्रित प्रकार के बैंकों से यह लाभ है कि इनका अधिक वित्त प्राप्त हो सकता है और साथ ही उन लोगों का अधिक सहयोग मिल सकता है जिनका कृषि से सम्बन्ध नहीं है। इस बात को ध्यान में रखते हुये कि भारतीय कृषक अभी अविकसित अवस्था में है यह बहुत बड़ा लाभ है। मिश्रित बैंकों से केवल यही हानि नहीं है कि इनका व्यवसाय सहकारिता के नियमों के अनुसार सामान्य नहीं होता बल्कि साथ ही इसका कभी-कभी हानिकारक परिणाम भी होता है। विभिन्न व्यक्तियों को इन बैंकों के शेयरों को क्रय करने का अधिकार है इसलिये इन बैंकों से ऋण लेने का भी अधिकार है। व्यक्तियों को कृषि की उत्पत्ति के आधार पर ऋण देना सहकारिता के नियमों के अनुकूल नहीं है क्योंकि इससे ये बैंक उन दलालों की भी सहायता करते हैं जिनको सहकारिता आन्दोलन समाप्त करना चाहती है। साथ ही इस प्रकार की सहायता से सहकारी विक्रय व्यवस्था के विकास में बाधा पहुँचती है। इसलिए यह उद्देश्य होना चाहिये कि 'मिश्रित' समितियों को कुछ समय तक रहने दिया जाय और बाद में कृषकों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के परिणाम स्वरूप उनके द्वारा इन संस्थाओं की वित्तीय आवश्यकता पूर्ण हो जाने पर इन्हें अमिश्रित समितियों में बदल दिया जाय।

(३) केन्द्रीय सहकारी बैंक अधिकतर निश्चित समय के लिये जमा और बचत को स्वीकार करते हैं परन्तु सर्वोच्च बैंक इनके अतिरिक्त चालू खाते में धन स्वीकार करते हैं। सर्वोच्च बैंक और कुछ सीमा तक केन्द्रीय सहकारी बैंक साधारण व्यापारिक बैंकों का व्यवसाय करते हैं। यह बैंक ड्राफ्ट देते हैं, हुण्डी, चेक और ऋणपत्रों का क्रय-विक्रय करते हैं और सामान को सुरक्षित रखते हैं। यह प्रश्न काफी विवाद ग्रस्त है कि सहकारी संस्थाओं का कार्य-क्षेत्र केवल सहकारी बैंकों के व्यवसाय तक ही सीमित रखा जाय या वे व्यापारिक बैंकों का व्यवसाय भी करें। वर्तमान समय में सहकारी बैंकों का कार्य उनको व्यस्त रखने के लिये पर्याप्त नहीं है इसलिये इन्हें व्यापारिक बैंकों का भी कार्य करना पड़ता है। यदि यह व्यवसाय न किया जाय तो बैंकों की आय बहुत कम हो जायगी।

(४) इन संस्थाओं को बहुत कम लाभ होता है। इन संस्थाओं का लाभ और सदस्यों को दिया गया लाभांश भारत के अन्य बैंकों की अपेक्षा कम है।

ब्याज दर—भारतीय रिजर्व बैंक की हाल की रिपोर्ट में बताया गया है कि अनेक राज्यों में छोटी सहकारी समितियों के ब्याज की दर काफी अधिक है। केवल बम्बई और मद्रास में जहाँ सहकारी आन्दोलन काफी संगठित है और

काफी विकसित है ब्याज की दर कुछ कम रखना संभव हो सका है। अनेक समितियों ने इस सिद्धान्त पर जोर दिया है कि योग्य कृषकों को दिए जानेवाले ऋण पर अल्पकाल तथा मध्यकाल के लिए ६½ प्रतिशत से अधिक ब्याज न लिया जाय और दीर्घकालिक ऋण के लिए ब्याज की दर ४ प्रतिशत होनी चाहिए। यह सिद्धान्त मद्रास और बम्बई में लागू रहा है। इन राज्यों की सरकारें घाटे की पूर्ति के लिए आर्थिक सहायता देकर सहकारी बैंकों को कम ब्याज पर ऋण देने में सहायता कर रही हैं। इसके लिए सरकार बैंक प्रशासन का कुछ भार स्वय वहन करती है। अन्य राज्यों में भी इस प्रकार की व्यवस्था होना चाहिए। सहकारी बैंकों द्वारा वसूल किये जाने वाले ब्याज की दर अधिक होने के कुछ कारण निम्न हैं—(१) सहकारी समितियाँ स्थानीय तौर पर पर्याप्त पूँजी का सग्रह करने मे असफल रही हैं, (२) बम्बई और मद्रास को छोड़कर केन्द्रीय सहकारी बैंक साधारणत: छोटे हैं, इनके प्रबन्ध का व्यय अधिक है और आर्थिक दृष्टि से यह अनुपयुक्त हैं। यह अपना कारोबार तभी चला सकते हैं जब ऋण लेने और देने की ब्याज की दर में काफी अन्तर हो, और (३) विभिन्न राज्य जो ऋण तथा आर्थिक सहायता से आन्दोलन की सहायता करते रहे हैं अब द्रव्य बाजार से आवश्यक ऋण एकत्रित करने में और परिणाम स्वरूप उसे कम ब्याज पर विभिन्न सहकारी कार्यों में लगाने में विशेष कठिनाई अनुभव कर रहे हैं। रिजर्व बैंक के मतानुसार निम्नलिखित प्रयत्नों से ब्याज की दर कम की जा सकती है—(अ) सहकारी आन्दोलन को दृढ बनाया जाय, उसकी कार्य कुशलता में सुधार किया जाय और ग्राम्य क्षेत्रों की बचत को सग्रहीत करने पर जोर दिया जाय, (ब) आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त इकाई का रूप देने के लिए सहकारी बैंकों और समितिया को एक में मिला दिया जाय और समितियों के कार्यक्षेत्र का व्यापक प्रसार किया जाय और (स) आरम्भ में राज्य सरकारें बम्बई की तरह आर्थिक सहायता दें जिससे सहकारी बैंकों को कम ब्याज लेने से जो घाटा होता है उसकी पूर्ति की जा सके।

रिजर्व बैंक से ऋण—रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १७ (२) (ब) और १७ (४) (स) के अनुसार यह बैंक सहकारी बैंको को कृषि उत्पादन और फसल बेचने के लिए बिना धरोहर के अल्प कालिक और मध्य-कालिक ऋण देता है। धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत सरकारी प्रतिभूतियों और भूमि बन्धक बैंकों के ऋणपत्रो की जमानत पर भी ऋण देता है।[1] सन् १९५५ की फर्वरी से रिजर्व बैंक ने धारा

१. विस्तार पूर्वक अध्यन के लिये 'ग्राम्य वित्त व्यावस्था' का अध्याय देखिये

१७ (४) (अ) के अन्तर्गत तीन वर्ष की अवधि के लिये मध्य कालीन ऋण देना आरम्भ कर दिया है। १६५३ के रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट के सशोधन के कारण यह सम्भव हो गया है कि १५ महीने से लगाकर ५ वर्ष तक की अवधि के लिये ऋण दिया जा सके। इस नियम का प्रयोग करने के विचार से ही बैंक ने तीन वर्ष की अवधि के स्थायी ऋण, एक्ट की धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत देना आरम्भ कर दिया है, यद्यपि अधिक लम्बी अवधि अर्थात् ५ वर्ष तक के आवेदनों पर आवश्यकता पड़ने पर विचार किया जा सकता था। ऐसे ऋणों पर ब्याज की दर बैंक की दर से २% कम निश्चित की गई थी। राज्य सरकारों द्वारा दी हुई गारन्टी और ऋण लेने वाले केन्द्रीय सहकारी बैंक अथवा समिति द्वारा लिये हुये प्रतिज्ञा पत्र ही इन ऋणों की जमानत थे। जिन कार्यों के लिये मध्य कालीन ऋण दिये जा सकते थे वे बेकार भूमि को पुन. अधिकृत करना, बाँध बनाना अथवा भूमि में किसी अन्य प्रकार का सुधार करना, बैल आदि जानवर खरीदना, कृषि सम्बन्धी औजार खरीदना तथा जानवरों को बाँधने के बाड़े और खेतों में गोदाम बनाना इत्यादि थे। रिजर्व बैंक द्वारा राज्यीय सहकारी बैंक को दिये गये अग्रिम की राशि १६५१-५२ में ११ २६ करोड़ रु० थी। १६५७-५८ में यह बढ़कर ५७ १२ करोड़ रु० हो गई। इस अवधि के अन्त में देय ऋणो की राशि ७ ८१ करोड़ रु० से बढ़ कर ३५ ११ करोड़ रु० हो गई। १६५७-५८ में दिये गये ५७ ११ करोड़ रु० के कुल अग्रिम में से ४१'४१ करोड़ रु० धारा १७ (४) (स) के अन्तर्गत, १२'७२ करोड़ रु० धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत तथा २ ६६ करोड़ रु० धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत दिये गये।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों के अनुसार १० करोड़ रु० की प्रारम्भिक राशि से राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष का निर्माण ३ फरवरी १६५६ को किया गया ताकि "राज्य सरकारों, (जिससे वे सहकारी समितियों की हिस्सा पूँजी में योग दे सकें) राज्यीय सहकारी बैंकों और भूमिबन्धक बैंकों को दीर्घ एवम् मध्यकालीन ऋण दिये जा सकें।" जून १६५६ में इस कोष में ५ करोड़ रु० के वार्षिक अनुदान से वृद्धि की गई। मार्च १६५७ के अन्त तक २ ६८ करोड़ रु० का ऋण ११ राज्यों को दिया गया ताकि वे सहकारी सस्थाओं की हिस्सा पूँजी में योग दे सके।

अध्याय १८

कृषि नियोजन

भारत की प्रथम पञ्चवर्षीय योजना ने कृषि नियोजन पर विशेष महत्व दिया था। प्रथम योजना के अन्तर्गत २३५६ करोड़ रुपये के कुल व्यय में से १५.१% (३५७ करोड़ रु०) कृषि तथा सामुदायिक विकास योजनाओं, तथा २८.१% (६६१ करोड़ रुपये) सिंचाई तथा विद्युत शक्ति योजनाओं पर व्यय के लिये निश्चित कर दिये गये थे। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि नियोजन का स्थान महत्वपूर्ण है, पर अधिक जोर औद्योगिक विकास पर दिया गया है। इस प्रकार प्रथम योजना में जो असतुलित होने का दोष आ गया था उसे दूर कर दिया गया है। द्वितीय योजना में विकास सम्बन्धी ४८०० करोड़ रुपये के कुल व्यय में से कृषि तथा सामुदायिक विकास योजनाओं को ११.८% (५६८ करोड़ रुपये) और सिंचाई तथा शक्ति योजनाओं को १६% (६१३ करोड़ रुपये) मिले हैं।

प्रथम योजना में कृषि पर विशेष महत्व देने के सम्बन्ध में योजना आयोग ने दो तर्क दिये थे—(१) जो योजनाएँ प्रचलित हैं उनको पूर्ण करने की आवश्यकता है और (२) जब तक खाद्यान्न का और उद्योगों के लिये आवश्यक खनिज पदार्थों का पर्याप्त उत्पादन नहीं कर लिया जाता औद्योगिक विकास के कार्यक्रम में विशेष प्रगति ला सकना सम्भव नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि उद्योगों का विकास करने के लिये खनिज पदार्थों और खाद्यान्न की आवश्यकता होती है। यदि यह सामग्रियाँ पर्याप्त मात्रा में मिल जाँय तो भारतीय उद्योग को विकसित करने में निश्चय ही सहायता मिल सकती है। इसके साथही भारत की अधिकाँश जनता कृषि कार्य करती है। कृषि में सुधार करने से इनकी आय में वृद्धि होगी और परिणाम स्वरूप रहन सहन में सुधार होगा। परन्तु इतने पर भी योजना आयोग द्वारा कृषि को प्रधानता दिये जाने की कड़ी आलोचना की गई थी। भारत की आर्थिक व्यवस्था असन्तुलित है, क्योंकि उद्योगों का विकास करने की पूर्ण सम्भावना होते हुये भी अब तक उद्योग पूरी तरह विकसित नहीं हो पाये हैं। इस तथ्य की ओर ध्यान न देकर निरन्तर इस बात पर महत्व दिया जा रहा है कि कृषि का विकास करने की विशेष आवश्यकता है। पचवर्षीय योजना के पूर्ण हो जाने पर इस असतुलित व्यवस्था के दूर होने की सम्भावना नहीं है। वास्तव में

सम्भावना में इस बात की है कि योजना के परिणाम स्वरूप यह व्यवस्था दृढ़तर हो जायगी। यदि पञ्चवर्षीय योजना निर्माण करते समय उद्योगों पर अधिक ध्यान दिया गया होता तो इस दोष के दूर हो सकने की आशा थी और भारत का और अधिक सन्तुलित विकास हो सकता था। यदि योजना आयोग उद्योगों के विकास पर महत्व देता तो इससे कृषि के विकास की समुचित व्यवस्था करने में उसको किसी बाधा का सामना नहीं करना पड़ता। दूसरे, यह बिल्कुल सही है कि भविष्य में औद्योगिक विकास करने के लिए दृढ़ आधार का निर्माण किया जाय परन्तु इस बात पर कैसे विश्वास कर लिया जाय कि भारत की कृषि का पूर्ण विकास हो जाने के पश्चात् उद्योगों का इस स्तर तक विकास कर लिया जायगा कि उसमें उस समय उत्पादित कच्चे माल और बिजली इत्यादि का पूर्ण उपभोग हो सकेगा। यह बहुत सम्भव है कि उस समय तक अन्य देशों के उद्योग अधिक शक्ति शाली हो जायेंगे और भारतीय उद्योग के लिये नवीन समस्याएँ उत्पन्न कर दें। योजना आयोग उद्योगों का और अधिक विकास करने और भारतीय कृषि से उपलब्ध न हो सकने पर खाद्यान्न तथा कच्चे माल का आयात करने की व्यवस्था कर सकता था जैसे जापान और ब्रिटेन ने किया। यदि उद्योग और कृषि दोनों का साथ साथ विकास किया जाय तो भारत का आर्थिक विकास और अधिक सन्तुलित हो जायगा और उद्योग तथा कृषि के विकास का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव हो जायगा। योजना में कृषि पर आवश्यकता से अधिक महत्व दिये जाने से कृषि तथा उद्योग के विकास में सन्तुलन स्थापित कर उनका सुनियोजित विकास करने में बाधा पहुँचेगी जब कि नियोजन का आधार ही सन्तुलित और क्रम बद्ध विकास करना है।

प्रथम योजना—प्रथम पञ्चवर्षीय योजना में कृषि की सर्वतोन्मुखी उन्नति का प्रबन्ध किया गया था। उसके अन्तर्गत कृषि उत्पत्ति के अतिरिक्त पशु-सुधार, सहकारी आंदोलन का विकास, गव्यशाला, वन, भूमि संरक्षण तथा पंचायतों के विकास और सुधार की योजनाएँ सम्मिलित थीं। भारत को केवल खाद्यान्नों और उद्योगों के लिये कच्चे माल के उत्पादन में ही आत्म निर्भर बनाने पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था, वरन ग्रामीण जनता के रहन सहन के स्तर को उन्नत करने तथा प्रति व्यक्ति वार्षिक उत्पादन में भी वृद्धि करने का विचार किया गया था। प्रथम योजना में कृषि तथा सामुदायिक विकास योजनाओं पर व्यय किये जाने वाले ३५७ करोड़ रुपये में से १९७ करोड़ रुपये कृषि सम्बन्धी कार्य क्रमों पर, ९० करोड़ रुपये राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं पर तथा सामुदायिक योजना क्षेत्रों पर, २२ करोड़ रुपया पशु पालन पर, १५ करोड़ रुपये

स्थानीय सुधार कार्यों पर, ११ करोड़ ग्राम पचायतों पर, १० करोड़ वनो पर, ४ करोड मछली पकड़ने के कार्यों पर, ७ करोड़ सहकारिता पर और १ करोड़ रुपये अन्य बातों पर व्यय करने के लिये नियत किये गये थे।

प्रथम योजना का सिंचाई सम्बन्धी तथा विद्युत शक्ति के विकास का कार्यक्रम बहुत ही विशद था। यह कार्यक्रम उन योजनाओं पर आधारित था जो योजना के पूर्व से ही प्रचलित थीं। योजना में इन योजनाओं को आगे बढाने का प्रबन्ध किया गया था। परन्तु इनकी सख्या इतनी अधिक थी कि सम्पूर्ण योजनाओं को एक साथ नहीं लिया जा सकता था। इसलिये यह निर्णय किया गया कि कासी, कोयना, कृष्णा, चम्बल और रिहन्ड योजनाओं को योजना काल के अंतिम भाग में लिया जायगा। ६६१ करोड़ रुपयो के कुल व्यय में से ३८४ करोड़ सिंचाई के लिये, २६० करोड़ विद्युत योजना के लिये और १७ करोड़ बाढ नियन्त्रण तथा अन्य खोज कार्यों के लिये नियत किये गये। प्रथम योजना का लक्ष्य सींची जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल ५१० लाख एकड़ से, जो कि १९५०-५१ में था, बढा कर ६७० लाख एकड़ १९५५-५६ तक करने का और विद्युत शक्ति का उत्पादन २३ लाख किलोवाट से बढाकर ३४ लाख किलोवाट कर देने का था। यदि इस विकास योजना को दीर्घ कालीन दृष्टि से देखा जाय तो यह आशा की जा सकती थी कि २० वर्षों के अन्तर्गत ही ४०० लाख से लगाकर ४५० लाख एकड़ तक अतिरिक्त भूमि सिंचाई के अंतर्गत आ जायगी और वर्तमान विद्युत शक्ति की मात्रा जो उत्पादित की जा रही है उसमें ७० लाख किलोवाट की और अधिक वृद्धि हो जायगी। यह कार्यक्रम का बडा ही श्रेष्ठ आदर्श है और यदि पूर्ण हो गया तो भारतीय ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था की रूप रेखा बदल जायगी।

प्रथम योजना में कृषि नियोजन की तीन प्रमुख विशेषताएँ थीं—(१) सम्पूर्ण कार्य केवल राज्य सरकारों द्वारा सचालित किया जायगा और उद्योगों के विपरीत निजी व्यवसाय का इसमें कुछ हाथ नहीं रहेगा। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के कार्य में काफी दीर्घ अवधि के पश्चात् लाभ अर्जित किया जा सकता है और रुपयो के रूप मे तुरन्त लाभांश प्राप्त नहीं होता। विगत वर्षो में निजी उद्योग इस प्रकार के कार्यों से पृथक रहा है। इसलिये स्वाभाविक ही योजना आयोग ने इस कार्य का सचालन करने के लिये निजी उद्योगों को उपयुक्त साधन नहीं समझा। आयोग को निजी उद्योगो की कार्यक्षमता पर विश्वास नहीं हो सका। योजना के अनुसार राज्य सरकारें सिंचाई तथा विद्युत योजना कार्यों का प्रबन्ध करेंगी और केन्द्रीय सरकार विभिन्न राज्यों के इस कार्य मे उचित सम्बन्ध स्थापित करेगी तथा अन्य सामान्य सहायता देगी, (२) दीर्घकालीन योजनाओं पर

विशेष महत्व दिया गया है। इस प्रकार की योजनाओं से होने वाले लाभ का अनुभव १५ से २० वर्ष के पश्चात् किया जा सकेगा जब कि भारत की कृषि का पूर्ण विकास हो चुकेगा। यद्यपि दीर्घकालीन योजनाओं पर महत्व दिया गया है, फिर भी अल्पकाल में खाद्यान्न तथा उद्योग के लिये आवश्यक कच्चे माल के उत्पादन में वृद्धि करने की भी समुचित व्यवस्था की गई है। जैसा कि 'कृषि उत्पादन और नीति' शीर्षक अध्याय में बताया गया है, यह आशा की जाती है कि खाद्यान्न के सम्बन्ध में भारत को योजना की अवधि में ही स्वावलम्बी बनाया जा सकेगा और कपास तथा जूट के सम्बन्ध में भारत की विदेशों पर निर्भरता को कम किया जा सकेगा, (२) इस योजना का उद्देश्य केवल कृषि उत्पादन में वृद्धि ही नहीं बल्कि ग्राम्य-जीवन का बहुमुखी विकास भी करना है।

द्वितीय योजना—प्रथम योजना का अभाव द्वितीय योजना में पूर्ण कर दिया गया और उद्योगों को प्रमुख स्थान दिया गया है, जो कि न्यायपूर्ण और उचित था। इससे भारत के विकास की असंतुलित अवस्था सुधर जायगी और राष्ट्रीय आय में अधिक तीव्र गति से वृद्धि होगी और कार्य करने के अधिक अवसर प्राप्त हो सकेंगे। द्वितीय योजना के अन्तर्गत ४८०० करोड़ रुपयों के विकास कार्य-क्रमों पर नियत व्यय में से १८.५% उद्योगों और खान खोदने पर, २८.६% संचार तथा यातायात पर, ११.८% (५६८ करोड़ रु०) कृषि तथा सामुदायिक विकास पर, और १९% (९१३ करोड़ रुपये) सिंचाई तथा विद्युत शक्ति के उत्पादन पर व्यय किया जायगा। यद्यपि द्वितीय योजना में उद्योगों और यातायात को अधिक महत्ता दी गई है पर कृषि तथा सिंचाई को छोड़ नहीं दिया गया है। द्वितीय योजना में कृषि नियोजन की मुख्य विचारणीय बातें निम्न हैं—

(अ) कृषि सुधार सम्बन्धी कार्यक्रमों से यह आशा की जाती है कि बढ़ी हुई जनसंख्या के लिये पर्याप्त खाद्य सामग्री तथा विकसित उद्योग व्यवस्था के लिये कच्चा माल दे सकेंगे और इतनी कृषि उत्पत्ति बच रहेगी कि उसका निर्यात भी किया जा सकेगा। इसलिये यह कहा जा सकता है कि द्वितीय योजना में प्रथम योजना की अपेक्षा कृषि तथा अन्य उद्योगों के विकास कार्यक्रम में अधिक पारस्परिक निर्भरता का आयोजन किया गया है। इन ध्येयों को प्राप्त करने के कार्य-क्रमों को निर्माण करते समय दीर्घकालीन दृष्टिकोण रखना आवश्यक है ताकि भौतिक साधनों और मानव श्रम का सर्वोत्तम प्रयोग, कृषि का सर्वतोमुखी संतुलित विकास और ग्राम वासियों की आय में तथा रहन-सहन के स्तर में पर्याप्त वृद्धि सम्भव हो सके। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कृषि विकास सम्बन्धी कार्यक्रम निर्माण करने में यह आवश्यक है कि ग्राम के सन्मुख एक ऐसा आदर्श उपस्थित कर दिया

जाय जिसे प्राप्त करने में वे प्रयत्नशील हो सकें। द्वितीय योजना निर्माण के सम्बन्ध में यह कहा गया था कि यह आदर्श १० वर्ष के अन्तर्गत ही उत्पादन को जिसमें खाद्यान्न, तिलहन, कपास, गन्ना, पशु पालन से प्राप्त वस्तुएँ इत्यादि सम्मिलित होंगी दुगनी कर देगा।

(ब) कृषि उत्पत्ति को अनेक-रूपता प्रदान करना और खाद्यान्न सम्बन्धी फसलों को अब तक जो प्रधानता दो जाती थी उसे बदलना आदर्श होगा। द्वितीय योजना मे ऐसी फसलों की वृद्धि भी है जैसे सुपाड़ी, नारियल, लाख, काली मिर्च, वृक्कफल इत्यादि जिनकी ओर प्रथम योजना मे कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था।

(स) कृषि के क्षेत्रफल की वृद्धि करने की सम्भावना तो बहुत सीमित है। जो थोड़ी बहुत वृद्धि कृषि के क्षेत्रफल मे सम्भव होगी उससे मोटे अन्न के ही उत्पादन में वृद्धि की जा सकेगी। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होती चलेगी वैसे-वैसे मोटे अन्न की माँग गेहूँ और चावल की माँग में बदल ही जायगी। ऐसी स्थिति में कृषि उत्पत्ति में वृद्धि का मुख्य स्रोत अधिक कुशल, लाभदायक तथा घनी खेती ही होगा।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत कृषि नियोजन की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं—(१) भूमि के प्रयोग का नियोजन, (२) दीर्घकालीन और अल्पकालीन लक्ष्यों का निश्चित करना, (३) उत्पादन लक्ष्यो तथा भूमि प्रयोग योजनाओ को एक दूसरे से सम्बद्ध कर देना, और (४) उपयुक्त मूल्य नीति का निर्धारण करना।

द्वितीय योजना में ५६८ करोड़ रुपयो के व्यय में से १७० करोड रुपये कृषि कार्यक्रमों पर, २०० करोड़ रुपये राष्ट्रीय विस्तार योजनाओं पर, ५६ करोड़ रुपये पशुपालन पर, ४७ करोड रुपये वनों और भूमि संरक्षण पर, १५ करोड़ रुपये स्थानीय विकास पर, १२ करोड़ रुपये पचायतो पर, १२ करोड़ रुपये मछली पकड़ने के व्यवसाय पर, ४७ करोड़ रुपये सहकारिता पर जिसके अन्तर्गत भाण्डागार तथा विक्रय सुविधाये भी सम्मिलित होगी, और ६ करोड रुपये अन्य विविध बातों पर व्यय किये जायेंगे। इस प्रकार प्रथम योजना की तुलना में कृषि पर कुल व्यय कम हो गया है। स्थानीय विकास कार्यों तथा ग्राम पचायतो पर लगभग समान ही है और राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं तथा सामुदायिक योजनाओ, पशुपालन, वन तथा भूमि संरक्षण और सहकारिता पर पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो गई है।

कठिनाइयाँ—भारत में कृषि नियोजन को सफलता पूर्वक कार्यान्वित करने मे अनेक कठिनाइयाँ हैं योजना को सफल बनाने के लिये सर्व प्रथम कृषक का स्वेच्छा से सक्रिय सहयोग आवश्यक है, परन्तु भारतीय कृषक अधिकतर रूढिवादी है और प्रत्येक बात पर परम्परागत दृष्टिकोण से ही विचार करता है।

वह इस बात के लिये प्रस्तुत नहीं कि परम्परा की रूढि छोड़कर कुछ नवीन प्रयोग किये जाँय। अतीत में कृषकों की स्थिति में सुधार करने के लिये अनेक प्रयत्न किये गये परन्तु कृषकों की उदासीनता के कारण उनमें से अधिकांश असफल रहे। पचवर्षीय योजना मे कहा गया है कि कृषि के क्षेत्र में विकास कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये और निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने के लिये यह आवश्यक है कि जनता सहयोग दे। बिना जन-सहयोग के समाज कल्याण की योजना सफल नहीं हो सकती। कृषि विकास कार्यक्रम उसी सीमा तक सफलता पूर्वक कार्यान्वित हो सकता है जहा तक जनता उत्साह और स्वेच्छा से उसके लिये कार्य करने को प्रस्तुत हो। कृषकों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि (१) विभिन्न उपायों से कृषकों को यह विश्वास दिलाया जाय कि योजना उपयुक्त है और इसके कार्यान्वित होने से उनका लाभ होना निश्चित है, (२) योजना लागू करके शीघ्र ही ऐसे परिणाम निकाले जाने चाहियें जिनसे कृषकों में विश्वास उत्पन्न हो और उन्हें प्रेरणा मिले और जिनको वह स्वय आँखों से देख और परख सकें। यदि योजना का उद्देश्य दीर्घकालीन लक्ष्य की प्राप्ति करना हो तो कृषकों में योजना की निश्चित उपयोगिता के प्रति विश्वास उत्पन्न करना कठिन हो जायगा। मूल्य अधिक होने से, बेरोजगारी में वृद्धि से और व्यापक आर्थिक कठिनाइयों के कारण बड़ी योजनाओं को सफलता पूर्वक लागू करने में सरकार की समर्थता पर कृषकों में विश्वास घटता जा रहा है, और (३) जनता में योजना लागू करने के लिये उत्तरदायी पूर्ण अधिकारियों की ईमानदारी और क्षमता पर विश्वास उत्पन्न किया जाये। यदि जनता प्रशासन के हर स्तर पर भ्रष्टाचार देखे, उसे सब स्थानों पर कार्य में अनावश्यक देरी तथा अकुशलता का सामना करना पडे और यदि उसे यह मालूम हो कि समाज का शोषण कर समाज की हानि से लाभ उठाने वाले हानिकारक तत्वों के विरुद्ध उपयुक्त कार्यवाही नहीं की जा रही है तो जनता को उत्साहित कर उसका सक्रिय सहयोग प्राप्त कर सकना अत्यन्त कठिन हो जायगा।

कृषि नियोजन की सफलता अन्य योजनाओं की तरह सम्बन्धित अधिकारियों की कार्यक्षमता और ईमानदारी पर निर्भर करती है। योजना आयोग ने बताया है कि कार्यक्रम की सफलता की गति प्रशासन संगठन, उसकी कार्य-कुशलता और उसके द्वारा प्रेरित जनता के सहयोग पर निर्भर करती है। प्रशासन को आज गत वर्षों की अपेक्षा अधिक बड़ी और जटिल समस्याओं का सामना करना पड रहा है। यह समस्याएँ बड़ी और जटिल अवश्य हैं, परन्तु आज इनके महत्व में अतीत की अपेक्षा कहीं अधिक वृद्धि हो गई। योजना के कार्य का

सफलतापूर्वक सचालन करने के लिये शिक्षित, कुशल और ईमानदार अधिकारियो का अभाव है। कार्य बहुत विशद है, परन्तु विभिन्न योजनाओ का कार्य सॅभालने के लिये शिक्षित कर्मचारी पर्याप्त सख्या मे नहीं हैं। केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों के अनेक जिला, राजस्व तथा अन्य अधिकारी हैं, जिनमें से कुछ बहुत कुशल और परिश्रमी हैं, परन्तु खेद है कि इन अधिकारी मे से अनेक प्राचीन प्रथा के अनुकूल चलते हैं और कृपकों से अपने को काफी दूर रखते हैं। इन अधिकारियों की दृष्टि में रचनात्मक कार्य की अपेक्षा कानून तथा व्यवस्था बनाये रखने का अधिक महत्व है, इससे यह अधिकारी योजना को कार्यान्वित करने के लिये उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकते। 'अधिक-अन्न उपजाओ' तथा अन्य आन्दोलनो के सम्बन्ध में अनेक ऐसी घटनायें प्रकाश में आई है जिनसे पता चलता है कि अधिकारियो ने बीज, खाद तथा रुपया कृपकों तक पहुँचाने को अपेक्षा केवल कागजा मे खाना पूर्ति की और रुपयों को स्वय हड़प लिया। इससे योजना को सफल बनाने में सफलता नहीं मिल सकती और जनता का उस पर मे विश्वास उठ जाता है। पचवर्षीय याजना मे इस बात पर महत्व दिया गया है कि सर्वप्रथम प्रशासन मे निष्ठा, कुशलता, बचत और सार्वजनिक सहयोग प्राप्त करने की आवश्यकता है। याजना मे इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अनेक सुझाव दिये गये हैं। इनकी पूर्ति मे अवश्य काफी समय लगेगा। योजना के अन्तर्गत विभिन्न कार्यों के लिये उपयुक्त व्यक्तियों को छाँटने और उनको उचित ट्रेनिंग देने के साथ ही पचवर्षीय योजना मे सम्बन्धित अधिकारियों की कार्यक्षमता, निष्ठा और ईमानदारी मे सुधार करने के लिये अनेक सुझाव दिये गये हैं इनमें से कुछ सुझाव इस प्रकार हैं—(१) प्रशासन सम्बन्धी, राजनीतिक तथा अन्य पदों पर कार्य करने वाले अधिकारियों पर भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच करने के लिये उपयुक्त व्यवस्था की जाय। यदि अपराध स्पष्ट हो तो तथ्यों का पता लगाने और अपराध सिद्ध करने के लिये तुरन्त जाँच की जाय। (२) वर्तमान कानून में ऐसे मामलों के लिये व्यवस्था की गई है जिनमे सरकारी कर्मचारी आय के गैर कानूनी साधनों का उपभोग करता है और उन साधनों के सम्बन्ध मे सन्तोपजनक स्पष्टीकरण नहीं दे पाता। परन्तु वर्तमान कानून के अनुसार ऐसे मामलों की जाँच करने की व्यवस्था नहीं है जिससे यह ज्ञात हो कि अमुक सरकारी कर्मचारी के रिश्तेदार एकाएक धनवान कैसे हा गये। इसलिये कानून के इस अभाव को पूरा करने के लिये अध्ययन किया जाय और उपयुक्त कानून बनाया जाय। (३) ऐसे अधिकारी को जिसकी ईमानदारी पर सन्देह किया जाता है बडे उत्तरदायित्व के पद पर नहीं नियुक्त करना चाहिये।

भारतीय ग्राम्य जीवन की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनसे कृषि नियोजन के कार्य में बाधा पहुँचती है। ग्रामों में अच्छी सड़कों, सिचाई तथा अन्य सुविधाओं का अभाव है। कृषकों के इन अभावों की शीघ्र पूर्ति करने की आवश्यकता है, परन्तु यदि इन कार्यों पर अधिक ध्यान दिया जाय तो बहुमुखी व्यापक कार्यक्रम को लागू करने में अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो जायँगी। यदि दीर्घकालीन योजनाओं पर अधिक ध्यान दिया गया तो स्थिति में सुधार करने की शीघ्र फलदायक योजनाएँ लागू करने की सम्भावना कम हो जायगी। यह सम्भव है कि दीर्घकालीन और अल्पकालीन दोनों प्रकार की योजनाओं पर ध्यान दिया जाय परन्तु इससे प्रगति की गति मन्द हो जाती है और कार्य तजी से आगे नहीं बढ पाता है। जमींदारी, जागीरदारी तथा इसी प्रकार की अन्य प्रथाओं के उन्मूलन से अनेक नई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई हैं। ग्रामों से महाजनों और साहूकारों के धीरे धीरे समाप्त हो जाने से नई कठिनाइयों में वृद्धि हुई है। इससे एक खाई उत्पन्न हो गई है जिसको अभी तक नई व्यवस्था से पाटा नहीं जा सका है। भारतीय कृषक एक दुष्चक्र में फसा हुआ है। वह निर्धन है क्योंकि अच्छे प्रकार का बीज, अच्छे पशु और खाद इत्यादि खरीदने के लिये उसके पास द्रव्य नहीं है, और जब तक वह धनी नहीं बन जाता तब तक वह इन वस्तुओं का क्रय कर सकने के साधन नहीं जुटा सकता है। दूसरे रूप में यह कहा जा सकता है कि कृषकों की ऋण लेने की क्षमता नहीं है। वह जमानत न रख सकने के कारण सहकारी बैंकों तथा ऋण नहीं देने वाली अन्य सस्थाओं से ऋण नहीं ले सकता है। और जब तक कृषकों की आर्थिक व्यवस्था अच्छी नहीं हो जाती वह इन साधनों को नहीं जुटा सकता है। यही कारण है कि शताब्दियों से भारतीय कृषक निर्धनता और दुखों में फसा हुआ है। कृषि नियोजन को सफल बनाने के लिये कृषकों की इन कठिनाइयों को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है।

अध्याय १६

बड़े पैमाने के उद्योग

भारत मे अनेक बडे उद्योग हैं परन्तु औद्योगिक क्षेत्र मे अभी ब्रिटेन मे १८वीं शताब्दी में हुई औद्योगिक क्रान्ति के समान औद्योगिक क्रान्ति यहाँ नहीं हुई है। भारत में प्रति व्यक्ति औद्योगिक उत्पादन की मात्रा बहुत कम है और इन उद्योगों मे देश की जन संख्या का बहुत कम भाग लगा हुआ है। भारत के कारखानों मे प्रदिदिन कार्य करने वाले श्रमको की औसत सख्या १६३६ में १६ लाख थी जो बढकर अब २५ लाख हो गई है। देश की ३८ करोड जनसख्या को देखते हुये यह बहुत कम है। देश में नवीन उद्योगो का विकास करने के लिये काफी बड़ा क्षेत्र खुला पड़ है और वर्तमान उद्योगों के उत्पादन में भी अधिक वृद्धि की जा सकती है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व भारतीय उद्योग की दो प्रमुख विशेषताएँ थीं—(अ) कुछ उद्योगों में जैसे सूती कपडा और चीनी उद्योग में बहुत अधिक श्रमिक कार्य करते थे और ये उद्योग आवश्यकता से अधिक उत्पादन करते थे, (ब) इसके साथ ही बडे रसायनिक, इजीनियरिंग और इसी श्रेणी के अन्य उद्योग थे ही नहीं। युद्धोत्तर काल में कुछ सीमा तक इन दोषो को दूर कर दिया गया है। यद्यपि कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं के लिए भारत को आयात पर निर्भर करना पड़ता है फिर भी देश में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ हो गया है। इन वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हो रही है और ऐसी सम्भावना है कि भविष्य मे अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये इनका पर्याप्त मात्रा मे उत्पादन किया जा सकेगा। आशा की जाती है कि भारतीय औद्योगिक विकास मे जो अभाव शेष हैं उनको पचवर्षीय योजना के औद्योगिक विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करके पूर्ण कर दिया जायेगा।

सूती कपडा उद्योग

भारतीय सूती कपड़ा उद्योग की एक उल्लेखनीय विशेपता यह है कि इसका युद्ध के पश्चात् विशेप रूप से विकास हुआ है। विश्वयुद्ध के पश्चात् कपडो की मिलो की सख्या मे काफी वृद्धि हुई है। देश का विभाजन हो जाने से मिलो की सख्या १६४७ मे ४२३ से गिरकर १६४८ मे ४०८ रह गई थी परन्तु नवीन मिलो की स्थापना से और प्रचीन मिलों मे मशीन इत्यादि बढा देने से भारतीय

सूती मिलों की उत्पादन शक्ति मे काफी वृद्धि हो गई है। १६५१ में भारत मे ४४५ मिलें थी जिनमे १ करोड़ १२ लाख ४० हजार तकुए (Spindles) और २,०१,४८४ करघे थे पर १६५७ के अन्तर्गत में ४६६ मिलें हो गई जिनमे १२६ लाख तकुए और २०६,१२६ करघे हो गये। कई नई मिलें स्थापित की जा रही हैं और आशा की जाती है कि इन मिलों द्वारा उत्पादन आरम्भ होने पर भारतीय सूती मिलों की वास्तविक उत्पादन शक्ति में मुख्यत कताई मिलो (spinnig mills) मे, और वृद्धि हो जायगी।

कुछ मिलों में केवल सूत काता जाता है और अन्य में सूत की कताई और बुनाइ दोनों होती है। युद्ध के पश्चात् काल की योजना समिति ने अनुमान लगाया कि आर्थिक दृष्टि से कताई-बुनाई दोनों कार्य करने वाली अनुकूलतम आकार की सूती मिल मे २५ हजार तकुए और ६०० करघे होने चाहिये। परन्तु दुर्भाग्यवश अधिकांश मिलें जिनमे कताई-बुनाई दोनों कार्य होते हैं और जिनमें केवल कताई होती है आर्थिक दृष्टि से अनुकूलतम आकार की मिलें नहीं कही जा सकतीं। सूती कपड़ा उद्योग की वर्किङ्ग पार्टी के अनुमान के अनुसार लगभग १५० मिलों मे अनार्थिक हैं। इसके साथ ही अधिकाश मिलों में पुरानी और घिसी पिटी मशीनें हैं। बम्बई मिल-मालिक सघ के अनुमान के अनुसार बम्बई की मिलो में ६०% मशीनें २५ वर्ष से भी अधिक पुरानी है। सूती कपड़ा उद्योग के सम्मुख सब से बड़ी समस्या यह है कि वर्तमान मिलो को आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त स्तर पर लाया जाय, पुरानी मशीनों के स्थान पर नई आधुनिक मशीनें लगाई जाय और उन्हें आवश्यक औद्योगिक प्रसाधनों से सुसज्जित किया जाय। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि देश के अन्य भागों जैसे मद्रास, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और मध्य भारत में इस उद्योग का विकास हुआ परन्तु फिर भी यह उद्योग बम्बई में ही अधिक केन्द्रित है। कुल उद्योग में जितने तकुए और करघे उपयोग मे लाये जाते हैं उनके ६० प्रतिशत केवल बम्बई में हैं। इसलिए भविष्य में विकास करते समय उद्योगों के स्थान-निर्धारण की समस्या पर विशेष ध्यान देना पड़ेगा। स्थानीकरण की स्थिति में सुधार आवश्यक है।

उत्पादन की प्रवृत्तियाँ—१६४४ में सूती कपडे और १६४६ में सूत का उत्पादन अधिकतम अर्थात् क्रमश. ४८५२० लाख गज और १६८५० लाख पौण्ड था। यह उत्पादन १६५० में गिरकर ३६६५० लाख गज और ११७५० लाख पौण्ड हो गया। १६४६ और १६५० में उत्पादन के गिरने के मुख्य तीन कारण थे—(१) १६४७ में देश का विभाजन हो जाने से कच्चे माल की कमी हो गई और पाकिस्तान तथा अन्य देशों से रूई का आयात करने में अनेक कठिनाइयाँ

उत्पन्न हो गई, (२) उद्योगों में श्रमिकों के झगड़े में वृद्धि हुई, और (३) विद्युत शक्ति पर्याप्त न होने के कारण बम्बई मिलों को दी जाने वाली विद्युत कम कर दी गई। धीरे धीरे इन कठिनाइयों को दूर करके उत्पादन में वृद्धि होने लगी। सूती कपड़ा उद्योग में श्रमिक तथा मालिकों के सम्बन्धों में सुधार हुआ, उत्पादन शक्ति में वृद्धि की गई और देश में कपास की उत्पत्ति में वृद्धि से कच्चे माल की पूर्ति में वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप १९५१ में सूती कपड़े और सूत का उत्पादन क्रमशः ४०७६० लाख गज और १३०४० लाख पौण्ड और १९५२ में ४५९८० लाख गज और १४५०० लाख पौण्ड हो गया। मिलों द्वारा कपास के क्रय पर से नियंत्रण के हटजाने के कारण, रुई और कपड़ों के यातायात के लिये मालगाड़ियों के मिलने तथा माँग की वृद्धि से उत्पादन में और अधिक वृद्धि हुई है। इसके परिणाम स्वरूप सूती कपड़ों और सूत का उत्पादन बढ़कर १९५७ में क्रमशः ५३१५० लाख गज और १७७९० लाख पौण्ड हो गया।

भारत की सूती मिलों में पहले मोटे कपड़े का ही अधिकतर उत्पादन किया जाता था परन्तु प्रशुल्क मण्डल (टेरिफबोर्ड) की सिफारिशों के अनुसार उत्तम प्रकार के कपड़े का उत्पादन घटाने के लिए १९२५ से १९४० तक काफी रुपया लगाकर अनेक टेकनिकल सुधार किये गये परन्तु उद्योग का पुनर्संङ्गठन कार्य पूर्ण होने के पूर्व ही द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध के लिए सैनिक मांगों तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उद्योग को फिर मोटे तथा माध्यम वर्ग के कपड़े का उत्पादन करना पड़ा। इसमें कुछ और रुपया लगाना पड़ा जिससे उद्योग पर काफी भार पड़ा। परन्तु इधर कुछ वर्षों से मोटे और अत्युत्तम प्रकार के कपड़े के स्थान पर मध्यम और उत्तम प्रकार के कपड़ों के उत्पादन में वृद्धि की गई। यह एक वान्छनीय प्रवृत्ति है और हम यह आशा कर सकते हैं कि भविष्य में देश की माग पूरी करने तथा निर्यात के लिए इस उद्योग को महीन और मध्यम श्रेणी के कपड़ों की उत्पत्ति बढ़ानी पड़ेगी।

कच्चा माल—अपनी पूर्ण वास्तविक उत्पादन शक्ति के बराबर उत्पादन करने के लिये भारतीय सूती का कपड़ा उद्योग को लगभग ५२५ लाख गाठ कपास की आवश्यकता होती है। विभाजन होने से देश में कपास का पर्याप्त मात्रा में उत्पादन होता था। भारतीय मिलों की आवश्यकता पूरी करने के साथ ही विदेशों को भी कपास निर्यात किया जाता था जिससे उद्योग को कच्चे माल के अभाव की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। देश विभाजन के पश्चात् स्थिति में परिवर्तन हो गया। देश में कपास का उत्पादन गिर गया। १९४७-४८ में २२ लाख और १९४८-४९ में १८ लाख गांठों का उत्पादन किया जा सका। इससे

उद्योग के सम्मुख कच्चे माल के अभाव का गंभीर संकट उत्पन्न हो गया। सामान्य स्थिति में कपास का आयात करके इस संकट को दूर किया जा सकता था परन्तु पाकिस्तान ने भारत को आवश्यकता के अनुसार कपास नहीं दिया। पाकिस्तान के अतिरिक्त अन्य देशों की कपास का भाव बहुत अधिक था और भारतीय सूती कपड़ा उद्योग के अनुकूल नहीं था। परन्तु १९५७-५८ में कपास का उत्पादन ५० लाख गाठें से कुछ ही कम था और इस प्रकार अशत कच्चे माल की कमी पूरी हो गई। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अतर्गत कपास के उत्पादन में और भी वृद्धि होने की सम्भावना है। इससे सूती कपड़ा उद्योग के कच्चे माल की कठिनाई को बहुत कुछ दूर किया जा सकेगा।

निर्यात—१९४८-४९ के विपरीत १९५०-५१ में सूती कपड़े और सूत के निर्यात में अपेक्षाकृत वृद्धि हुई है। १९४८-४९ में ३४१० लाख गज कपड़ा और ७४ लाख पौण्ड सूत देश से बाहर भेजा गया। १९५०-५१ में १२६६५ लाख गज कपड़ा और ७४५ लाख पौण्ड सूत विदेश भेजा गया इस वृद्धि का कारण यह है कि भारतीय माल का मूल्य अपेक्षाकृत कम रहा और साथ ही विदेशी बाजार पर अधिकार जमाने के लिये भारतीय मिल मालिकों ने जोरदार प्रयत्न किये।

परन्तु बाद में स्थिति फिर बदली और निर्यात को इसी स्तर पर स्थिर नहीं रखा जा सका। १९५२ ५२ में निर्यात की मात्रा घटकर ४२३७५ लाख गज कपडे और ६२५ लाख पौण्ड सूत तक पहुँच गई। इस कमी के कारण निम्नलिखित हैं —(१) सूती कपडे और सूत के उत्पादन में कमी आजाने से अधिक माल का निर्यात नहीं किया जा सका और सरकार ने कपडे-के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये। (२) निर्यात कर लगाने से भारतीय सूती माल का मूल्य बढ गया। भारतीय सूती उद्योग ने बराबर यह माग की है कि निर्यात की मात्रा बढ़ाने के लिये सरकार निर्यात कर को समाप्त कर दे। (३) भारतीय माल को विदेशों जापान, ब्रिटेन और अन्य देशों की बढती प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। भारतीय सूती मिलें सरकार की अनिश्चित नीति के कारण अपने निर्यात की मात्रा पूर्ण नहीं कर सकीं और भारतीय माल की प्रकार, पैकिंग इत्यादि निर्यात की शर्तों के अनुकूल नहीं हो सके। इसके परिणाम स्वरूप विदेशी बाजार में भारतीय उद्योग की प्रतियोगिता शक्ति गिरती चली गई। निर्यात के बढ़ाने के सम्बन्ध में अनेकों उपायों का अनुसरण किया गया जैसे निर्यात कर की दरों में कमी करना, निर्यात किये जाने वाले कपड़ों के बनाने में काम आने वाली विदेशी रुई पर लगाये गये आयात कर में छूट देना, १ मार्च १९५४ से आयात-कर को ही बद कर देना और निर्यात पर नियन्त्रण कम करना इत्यादि। इनके

परिणाम स्वरूप सूती कपड़ों का निर्यात बढ गया है। १९५६ व १९५७ में भारत ने क्रमशः ६८४० लाख गज तथा ८५४० लाख गज कपडे का निर्यात किया। किन्तु विश्वबाजार में प्रति स्पर्धा बढने तथा आयात करने वाले देशों में लगे प्रतिबन्धों के कारण १९५८ में निर्यात घटकर ६५०० लाख गज रह जाने की संभावना है। मुख्य प्रकार के कपडे जो भारत से निर्यात किये जाते हैं वे चादरें, कमीज और कोट के कपडे, वायल ननजेब और छींट आदि हैं।

कर—केन्द्रीय सरकार सूती कपडे पर उत्पादन कर और निर्यात कर लगाती है। सितम्बर १९५६ में उत्पानकर में बहुत वृद्धि कर दी गई। इससे उत्पादन-लागत बढ गई। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारें सूती कपडे और सूत पर बिक्री कर लगाती हैं। इससे उत्पादन लागत में अधिक वृद्धि हो गई है।

१९५२ में केन्द्रीय सरकार ने हथकर्घा उद्योग अथवा बुनकरों की सहायता के लिये ६ करोड़ रुपये का कोष एकत्र करने के लिये मिल के बने सभी कपड़ों पर ३ पाई प्रति गज की दर से एक उप-कर लगा दिया। यह वास्तव में अपनी प्रकार का बिल्कुल नवीन उपाय था। इसके अनुसार यह पहले ही स्वीकार कर लिया गया है कि उद्योग को बहुत अधिक लाभ हो रहा है और वह इस नवीन कर का भार वहन कर सकने में समर्थ है। इन सभी प्रकार के करों से सूती मिल उद्योग को अपना उत्पादन व्यय कम करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। इस-स्थिति में सुधार करने के लिये यह आवश्यक है कि कर कम किये जायँ और मशीनों की टूट फूट के लिए जिस दर से धनराशि दी जाती है उसके प्रति उदार नीति अपनाई जाय जिससे सूती मिल उद्योग पुरानी और टूटी मशीनों के स्थान पर नवीन मशीनें लगा सके और कारखानों में आधुनिक टेकनिकल सुविधाएँ प्रदान कर सकें। मशीनो की टूट फूट के लिये जो धनराशि निश्चित की गई है वह अपर्याप्त है। नवीन मशीनों को लगाने के लिये इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि सरकार कम ब्याज पर उद्योग को ऋण दे और मशीनों की टूट फूट के लिये निश्चित धन के प्रति उदार नीति अपनाये। भारतीय सूती कपड़ा उद्योग में युक्तीकरण की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु यह निम्न तीन बातों पर निर्भर हैं, (१) आवश्यक धन की प्राप्ति, (२) आवश्यक मशीनों की प्राप्ति और (३) इस समस्या के प्रति श्रमिकों का विचार। फिर भी सरकारी कर नीति इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विचारणीय है क्योंकि वही युक्तिकरण के लिये आवश्यक धन प्राप्त करने का श्रोत है।

एकत्रित सामग्री का संकट—१९५७ के प्रारम्भ से सूती वस्त्र उद्योग गम्भीर संकट का सामना कर रहा है। लगभग २६ मिलें, जिनमें से १६ उत्तर प्रदेश में हैं,

बन्द होगई है तथा ३७ मिले केवल अंशत कार्य कर रही हैं। अप्रैल १९५८ के अन्त में मिलों के पास बिना बिके कपडे की एकत्रित सामग्री ५०५३०० गाँठे तथा मार्च १९५८ के अन्त में बिना बिके सूत की एकत्रित सामग्री १११,८०० गाँठे थीं। अनेक मिलों को हानि उठानी पड़ी है तथा, मिलों के अनेक मजदूर बेकार हो गये हैं। इस संकट के मुख्य कारण निम्न हैं : (१) खाद्यान्न तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं के मूल्य अत्यधिक ऊँचे होने के कारण लोगों की क्रय शक्ति घट गयी जिसके फल स्वरूप बिक्री कम होगई। साथ ही १९५८ में निर्यात में भी कमी आगई। (२) कपडे पर लगे उत्पादकर की ऊँची दर के फलस्वरूप उत्पादन-लागत बराबर ऊँची बनी हुई है। (३) उद्योग का मजदूरी-बिल बहुत अधिक है। लागत के घटने का कोई सहज उपाय भी नहीं दिखाई देता क्योंकि मशीनें घिसी पिटी तथा पुरानी हैं तथा उत्पादन के युक्तीकरण में देर होती रहती है। उद्योग को बरबादी से बचाने के लिये यह आवश्यक है कि उत्पादन कर १९५५-५६ के स्तर पर कर दिया जाय तथा उत्पादन का युक्तीकरण किया जाय।

उद्योग के सम्मुख दो कठिनाइयाँ हैं। एक ओर उत्पादन पर नियन्त्रण लगा दिया गया है तथा दूसरी ओर हथकर्घा उत्पादकों के हित में मिल उद्योग पर १ ली दिसम्बर १९५२ से प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं जिनके अनुसार धोतियों के उत्पादन के १९५१-५२ के मासिक औसत के ६०% पर मिलों का धोतियों का उत्पादन निश्चित किया गया है तथा साड़ियों का रगना निषिद्ध घोषित कर दिया गया है।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सूती कपड़ा उद्योग की उत्पादन शक्ति को १९५५-५६ तक ४७७८० लाख गज कपडे और १७२२० लाख पोंड सूत तक बढ़ाने का अनुमान था और वास्तविक उत्पादन ४७००० लाख गज कपडे और १६४०० लाख पोंड सूत का करने का था। इसका लक्ष्य प्रति व्यक्ति को १५ गज कपड़ा प्राप्त हो सकने का था। प्रथम योजना के अन्त तक वास्तविक उत्पादन और उत्पादन शक्ति दोनों ही लक्ष्य से आगे बढ गये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत यह प्रस्ताव किया है कि कुल कपडे के उत्पादन की मात्रा (मिल और हथकर्घे और शक्ति संचालित कर्घे से बने कपडे मिलाकर) को ६८५ करोड़ गज से, जितना कि १९५५-५६ में था, १९६०-६१ तक ८५० करोड़ गज कर दिया जाय और सूत का उत्पादन १६३ करोड़ पौंड से १६५ करोड़ पौंड कर दिया जाय। इसका उद्देश्य प्रति व्यक्ति कपडे का उपभोग १८ गज तक बढा देने का है और लगभग १ अरब गज़ कपडे का निर्यात

करना है। द्वितीय योजना में कपड़ा उद्योग के सम्बन्ध में दो मुख्य दोष हैं—(१) भविष्य की कपड़े की माँग का कम अनुमान करना, क्योंकि बम्बई के मिल मालिकों की एसोसियेशन के मतानुसार यह माँग ८५० करोड़ गज नहीं वरन् १००० करोड़ गज होगी; और (२) मिलों के विस्तार पर इस विश्वास से प्रतिबन्ध लगाना कि इससे हथकर्घों के प्रयोग को सहायता मिलेगी। हथकर्घा उद्योग को सहायता मिलों की उत्पत्ति को कार्वे कमेटी के अनुसार ५०० करोड़ गज तक अथवा किसी अन्य मात्रा तक सीमित कर देने में नहीं मिलेगी वरन् हथकर्घे से बने कपड़े अधिक अच्छे बनाने और उसके मूल्य के घटाने से मिलेगी।

जूट उद्योग

भारत में जूट की ११२ मिलें हैं जिनमें लगभग ७२,३६५ कर्घे चलते हैं। इनमें से ४५% कर्घे जूट के टाट और ५५% बोरे इत्यादि बनाने के लिये हैं। अनुमान लगाया गया है कि यदि उद्योग में केवल एक शिफ्ट में कार्य चलाया जाय और प्रति सप्ताह ४८ घंटे उत्पादन किया जाय तो प्रतिवर्ष १२ लाख टन उत्पादन किया जा सकता है। जूट उद्योग अधिकतर पश्चिमी बंगाल में केन्द्रित है। भारत की कुल रजिस्टर्ड ११२ जूट मिलों में से १०१ मिलें पश्चिमी बंगाल ही में स्थित है। शेष मिलों में से ४ आन्ध्र में, ३ बिहार में ३ उत्तर प्रदेश में और १ मध्य प्रदेश में हैं।

भारतीय जूट उद्योग अन्य सब उद्योगों से अधिक सुसगठित है परन्तु दुर्भाग्यवश इसकी मशीन इत्यादि आधुनिक नहीं है और साथ ही यह मशीनें बनाये हुये माल की वर्तमान माँग के दृष्टिकोण से अधिक भी हैं। भारतीय उद्योग की प्रतियोगिता शक्ति में वृद्धि करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी पुरानी मशीनों के स्थान पर आधुनिक मशीनें लगाई जाँय और इस प्रकार उत्पादन व्यय घटाया जाय। परन्तु मुख्य कठिनाई यह है कि उद्योग का युक्तीकरण करने में ४० से ४५ करोड़ रुपये तक की पूँजी लगानी पड़ेगी और वर्तमान में उद्योग इतनी पूँजी लगा सकने की क्षमता नहीं रखता। "अभिनवीकरण (modernisation) के लिये राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम द्वारा ऋण दिये जा रहे हैं। मार्च १९५८ के अन्त तक ६ मिल कम्पनियों के लिये ऋण स्वीकृत हो चुके हैं जिनमे से ७ को १.१६ करोड़ रु० दिया भी जा चुका है। वर्तमान स्थित यह है कि ८२ जूट मिल कम्पनियों में से ४४ ने ३० सितम्बर १९५७ तक कताई सम्बन्धी आधुनिक मशीनों को स्थापित कर लिया था। कुछ ने पूर्णतः तथा कुछ ने अंशतः अभिनवीकरण कर लिया था। पुराने तकुओं में से ४% के स्थान पर नये तकुये लगाये जा चुके तथा लगाये जा रहे हैं।

उत्पादन की प्रवृत्ति—जूट उद्योग में उत्पादन १६४५-४६ में उच्चस्तर तक पहुँच चुका था जबकि ११·४ लाख टन माल का उत्पादन किया गया। इसके पश्चात् १६४६ तक उत्पादन दस लाख टन प्रतिवर्ष के लगभग रहा। परन्तु १६४६-५० में उत्पादन ८६ लाख टन तक गिर गया। इसके पश्चात् उत्पादन में कुछ सुधार अवश्य हुआ परन्तु फिर भी उत्पादन पूर्व स्तर तक नहीं पहुच पाया। १६५४-५५ में उत्पादन बढ़ कर १०, ४३,४०० टन हो गया था। उत्पादन में कमी का मुख्य कारण कच्चे माल की कमी थी क्योंकि देश का विभाजन हो जाने के पश्चात् जूट का उत्पादन करने वाले अधिकाश क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। इस अभाव को पूरा करने के लिये देश में ही जूट उत्पादन की वृद्धि पर जोर दिया गया। तब से देश में जूट के उत्पादन में वृद्धि हुई है जिसके परिणाम स्वरूप जूट के माल के उत्पादन मे भी वृद्धि हुई है। जूट उद्योग में प्रति सप्ताह केवल १२½ घन्टे उत्पादन कार्य हो रहा था और उद्योग के कुल कर्घे के १२½ प्रतिशत बन्द पडे हुये थे। परन्तु अक्टूबर १६५४ से ४८ घन्टे प्रति सप्ताह कार्य आरम्भ हो गया और १६५६ के मार्च तक बन्द कर्घों में से ७½ प्रतिशत चालू हो गये थे। १६५६-५७ में उत्पादन १,०२५,२०० टन था तथा आशा की जाती है कि १६५७ ५८ में भी लगभग इतना ही होगा।

कच्चा माल—उद्योग की इस समय सबसे बड़ी कठिनाई कच्चे माल की कमी है। यदि सब मिलें शक्ति भर कार्य करें तो भारतीय जूट उद्योग के लिये प्रतिवर्ष पटसन की ७५ लाख गाँठों की आवश्यकता है। परन्तु भारत में १६४७ ४८ में १५ लाख गाँठों से कुछ अधिक, १६४८-४६ में २० लाख गाँठ, १६४६-५० में ३० लाख गाँठ और १६५० ५१ में ३३ लाख गाँठ से कुछ अधिक का उत्पादन किया गया। भारत सरकार ने पाकिस्तान सरकार से समझौता कर पटसन के आयात की व्यवस्था की, परन्तु आयात का यह कार्यक्रम कार्यान्वित नहीं किया जा सका। पाकिस्तान से बहुत थोड़ी मात्रा में जूट का आयात किया गया। फलस्वरूप भारतीय जूट उद्योग के कच्चे माल की आवश्यकता पूर्ण नहीं की जा सकी। इधर हाल के वर्षों में भारत में कच्चे जूट का उत्पादन बढ गया है। १६५६-५७ में इसका उत्पादन ४२ ५ लाख गाँठे थी। १६५७-५८ में इससे घट-कर ४० लाख गाठे (४०० पो० की एक गाँठ) रह जाने की आवश्यकता है। कच्चे जूट के विषय में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिये किये जाने वाले गहन प्रयत्नों के सदर्भ में १६५७-५८ में उत्पादन की यह कमी शोचनीय विषय है। द्वितीय योजना के अन्त तक भारत को पाकिस्तान से जूट मगाना ही पडेगा। किन्तु उन पर हमारी निर्भरता बहुत कुछ कम हो जायगी और यह सम्भव हो

सकेगा कि भारत में जूट उद्योग पाकिस्तान से जूट बिना पाये भी संतोषप्रद ढग में चले।

निर्यात—भारतीय जूट उद्योग अधिकतर अपने माल के निर्यात पर निर्भर करता है। १९४८-४९ में भारत में ११ लाख टन उत्पादित माल में से ९,३०,००० टन माल का विदेशों को निर्यात कर दिया गया। यद्यपि निर्यात की मात्रा पूर्व की अपेक्षा घटकर १९५६-५७ में ८५९००० टन हो गई है फिर भी यह कुल उत्पादन का बहुत बड़ा भाग है

भारतीय जूट के टाट के दो बड़े बाजार यूनाइटेड स्टेटस तथा यू० के० हैं। १९५६-५७ में इन देशों को गये निर्यात में क्रमशः ५% और ५०% की कमी हुई। यद्यपि यूनाइटेड स्टेट्स को किये जाने वाले निर्यात की कमी से ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी अमेरिका में व्यापारियों ने टाट सामग्री कुछ कम कर दी थी; किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। अधिक महत्व की बात तो यह है कि १९५६-५७ में टाट के उपभोग में (यू० एस० में) १२% की कमी हुई। उपभोग की यह कमी थैले बनाने के लिये टाट का प्रयोग कम करने के कारण हुई। सन्तोष का विषय है कि औद्योगिक तथा अन्य उद्देश्यों के लिये जूट का प्रयोग बढ़ता रहा। यू० के० में जूट के उपभोग में हुई भारी कमी वहाँ पर लागू जूट-नियन्त्रण के कारण हुई।

जूट से बनने वाले थैलों से यह लाभ होता है कि यह अपेक्षाकृत सस्ते होते हैं और इनका अनेक बार उपयोग किया जा सकता है जब कि पैकिंग के लिये कागज के थैलों तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुओं का केवल एक ही बार प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु जूट के थैलों के स्थान पर कागज तथा अन्य प्रकार की वस्तुओं के प्रयोग से जूट के माल की माँग काफ़ी गिर गई है और यह जूट उद्योग के लिये चिन्ता का कारण बन चुकी है। फिर भी यदि उचित प्रयत्न किये जाँय तो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा जूट का माल अपने लिये आवश्यक स्थान बना सकता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि भारतीय जूट उद्योग का उत्पादन व्यय घटाया जाय, उत्पादन बढाया जाय और उत्पादित माल की प्रकार में सुधार किया जाय।

भारत सरकार ने जूट के माल पर बहुत अधिक निर्यात कर लगाया जिस से कि माल के भारतीय तथा विदेशी मूल्य का अन्तर सरकारी खजाने में जमा हो जाय। यदि यह कर न लगाये गये होते तो उद्योग अपने आधुनिकीकरण तथा पुरानी घिसी पिटी मशीनों के बदले नई मशीनें लगाने के लिये पर्याप्त सुरक्षित कोष का संग्रह कर सकता था। निर्यातकर से बहुत हानि उठानी पड़ रही थी। कोरिया युद्ध के कारण हुई महगी के काल में जूट के बने कपड़ों पर तो यह कर

१५०० रु० प्रति टन और बोरों पर ३५० रु० प्रति टन तक बढ गया था। अगस्त १९५५ मे पाकिस्तानी रुपये की विनिमय दर घटने पर यह कर हटा लिया गया। हटाते समय टाट पर यह कर १२० रु० प्रति टन और बोरों पर ८० रु० प्रति टन था। निर्यात कर के हटा देने का परिणाम यह हुआ कि मूल्यों में कमी हो गई और निर्यात बढ गया तथा घरेलू माँग भी बढ गई।

जूट जाँच आयोग—जूट जाँच आयोग ने जिसके अध्यक्ष के० आर० पी० आयगर थे अपनी १९५४ में प्रकाशित रिपोर्ट में यह पाया कि ७५% मिलें लगभग १२ मैनेजिंग एजेन्सियों के हाथ में थी, जिनमें से चार के अन्तरर्गत ४५% करघे थे। मैंनेजिग एजेन्टों के हाथ में सारे व्यवसाय के केन्द्रित होने और जूट उद्योग के भूतकाल में ऊँची दर पर आय प्राप्त करने के कारण इन मैनेजिंग एजेन्सियों के शेयर बहुत ही आकर्षक हो गए थे और उनके खरीदारों की सख्या बढ गई थी। चूँकि जूट उद्योग के वर्तमान सयत्र की उत्पादन शक्ति वर्तमान और भविष्य की सम्भावित माँग से कहीं अधिक है इसलिये आयोग ने और नई मिलों की स्थापना को पसन्द नहीं किया। उसने मिलों को अपने सयत्रों को आधुनिक बनाने की सिफारिश की। इन्डियन जूट मिल एसोसिएशन की यह योजना होते हुए भी, चूँकि इसका परिणाम विनाशकारी प्रतिद्वन्द्विता और उद्योग की अव्यवस्था होगी, आयोग ने यह सिफारिश की कि काम के घन्टों के सम्बन्ध में जो समझौता हुआ है जिसके अनुसार सप्ताह के अन्दर कार्य के घन्टे सीमित कर दिये गये हैं और मशीनों को अशतः चालू करना बन्द कर दिया गया है उसे आगे लागू नहीं रखना चाहिये। इस समझौते के अनुसार अकुशल मिलें भी चलती रही हैं और कुशल मिलों को अपना उत्पादन व्यय कम करने में बाधा पहुँची है। इससे पाकिस्तान तथा अन्य विदेशी मिलों को लाभ पहुँचा है। आयोग की यह सिफारिश सर्वथा युक्तिसगत है और इससे आशा की जाती है कि कुशल मिलें अधिक अच्छा कार्य कर सकेगी। आयोग ने सिफारिश की है कि भारत को कच्चे जूट की पूर्ति के लिये निरपेक्ष के बजाय सापेक्षिक आत्मनिर्भरता का लक्ष्य सामने रखना चाहिये। हमें पाकिस्तान से उस प्रकार का जूट आयात करना चाहिये जिसका उत्पादन देश में पर्याप्त मात्रा में नहीं हो सकता और अन्य प्रकार के जूट को स्वय उत्पादित करना चाहिये। जूट की विस्तृत खेती के बजाय गहन खेती तथा किस्म के सुधार पर अधिक जोर देना चाहिये।

आयोग इस परिणाम पर पहुँचा कि नियमित बाजारों में नियमों का लागू करना, सहकारी समितियों की व्यवस्था करना, तथा अन्य सिफारिशों को कार्यान्वित करना दीर्घकालीन दृष्टि कोण से उत्पादकों के लिए अधिक लाभकारी सिद्ध

होगा। मूल्य नियन्त्रण के उपायों के प्रयोग को अस्वीकार करते हुए भी निर्यात बढ़ाने के लिए तथा घरेलू माँग बढ़ाने के लिये आयोग ने मूल्य स्थिर रखने का प्रयत्न करने की सलाह दी।

योजना के अन्तर्गत—जूट उद्योग के सम्बन्ध में समस्या उत्पादन शक्ति बढ़ाने की नहीं है क्योंकि बाजार की माँग की तुलना में तो भारतीय जूट मिलों के साधन आवश्यकता से कहीं अधिक है। वास्तविक समस्या तो कच्चे माल की पूर्ति बढ़ाने और उद्योग को उत्पादन में अपनी वर्तमान शक्ति के अनुकूल वृद्धि करने की है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इसीलिये औद्योगिक प्रसाधनों की वृद्धि के बजाय उत्पादन में वृद्धि करने की सिफारिश की गई थी।

जूट उद्योग की (rated) प्रत्यंकित उत्पादन शक्ति १२ लाख टन थी परन्तु कच्चे माल के अभाव के कारण इसका पूर्ण उपयोग नहीं हो सका है। प्रथम योजना में जूट के उत्पादन को ५१ लाख गाँठों तक और जूट के बने माल का सम्पूर्ण प्रत्यङ्कित शक्ति भर अर्थात् १२ लाख टन तक बढ़ाने का प्रबन्ध किया गया था, जिसमें से १० लाख टन विदेशों को भेज दिया जायगा। परन्तु ये लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके।

द्वितीय योजना में भी जूट मिलों की प्रत्यंकित शक्ति बढ़ाने की सिफारिश नहीं की गई है। केवल आसाम में १½ करोड़ रुपयों के व्यय से एक मिल खोलने का प्रस्ताव है। प्रयत्न यह होगा कि जूट के बने माल की १९५५-५६ की १,०४,००० टन की उत्पत्ति को बढ़ाकर १९६०-६१ में १,२००,००० कर दिया जाय। जूट का उत्पादन ४० लाख गाँठों से जो कि १९५५-५६ में था बढ़ा कर १९६०-६१ में ५० लाख गाँठ कर दिया जाय। इस प्रकार भारतीय मिलों को आयात किये हुये जूट पर भविष्य में कुछ काल तक निर्भर रहना ही पड़ेगा।

चीनी उद्योग

निराकम्य (Tariff) संरक्षण तथा सरकारी नियोजन के फलस्वरूप भारत में चीनी की मिलों की संख्या १९३१-३२ में ३२ से बढ़कर १९५५-५६ में १६० हो गई। इनमें से १३६ तो १९५४-५५ में उत्पादन कार्य कर रही थीं और उन्होंने १६ लाख टन से कुछ ही कम चीनी का उत्पादन किया। १९५५-५६ में १३७ मिलें उत्पादन कार्य कर रही थीं और उन्होंने १७ लाख टन चीनी का उत्पादन किया। १९४८ में सरकार ने चीनी उत्पादन शक्ति में वृद्धि करने का निश्चय किया और नवीन मिलों की स्थापना की स्वीकृत दी। ५५ नई फैक्टरियों, जिनमें ३८ सहकारी इकाइयाँ भी सम्मिलित हैं, की स्थापना तथा वर्तमान ६६ मिलों की उत्पादनशक्ति के विस्तार के लिये अनुज्ञा पत्र (लाइसेन्स) दे दिये गये हैं।

लाइसेन्स दी हुई उत्पादन इकाइयों में चार ने १९५५-५६ में उत्पादन प्रारम्भ किया तथा पाँच ने १९५६-५७ में। १९५७ के अन्त में प्रत्यकित उत्पादन शक्ति २,०१०,००० टन थी। १९५७-५८ में नौ और इकाइयों ने भी उत्पादन प्रारम्भ कर दिया है। इसके परिणाम स्वरूप फैक्ट्री निर्मित चीनी की उत्पत्ति १९५६-५७ के २०½ लाख टन से बढ़कर १९५७-५८ में २१½ लाख टन होने की सम्भावना है।

चीनी उद्योग के विकास की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(१) चीनी उद्योग विशेषकर उत्तर प्रदेश और बिहार में केन्द्रित है परन्तु देश के अन्य भाग जैसे बम्बई, मद्रास, मैसूर और हैदराबाद आदि भी चीनी उद्योग के लिए उपयुक्त हैं क्योंकि यहाँ गन्ने का प्रति एकड़ उत्पादन अधिक है और गन्ना पेरने का कार्य भी वहाँ अपेक्षाकृत अधिक समय तक किया जा सकता है। (२) प्रचलित कारखानों ने कभी भी अपनी पूर्ण शक्ति से उत्पादन नहीं किया। इनमें से कुछ तो बिल्कुल बन्द रहे जिसके फलस्वरूप उत्पादन सदा वास्तविक उत्पादन शक्ति से कम रहा। (३) चीनी उद्योग में बहुत से ऐसे कारखाने हैं जो अनुकूलतम शक्ति से नीचे हैं। एक औसत कारखाने को अपनी पूर्ण उत्पादन शक्ति का लाभ उठाने के लिये प्रतिदिन ८०० टन गन्ना पेरना चाहिये परन्तु अनुमान लगाया गया है कि लगभग ८० कारखाने इस स्तर से नीचे हैं। इससे भारत में चीनी का उत्पदान व्यय अधिक होता है और आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त कारखानों का लाभ भी कम हो जाता है।

उत्पादन की प्रवृत्तियाँ—भारत में चीनी के उत्तपादन में काफी उतार-चढाव आता रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि चीनी का उत्पादन गन्ने की पूर्ति की मात्रा, गन्ना पेरने की अवधि और गन्ने से प्राप्त चीनी के प्रतिशत पर निर्भर करता है। चीनी का उत्पादन, १९४८-४९ में १०·०६ लाख टन था जो गिरकर १९४९-५० में ९.७६ लाख टन हो गया क्योंकि (अ) १९४७-४८ में मिलों के लिये गन्ने का भाव २ रुप्ये प्रतिमन से घटाकर १९४८-४९ में उत्तर प्रदेश में १ रुपया १० आना प्रति मन और बिहार में १ रुपया १३ आना प्रतिमन कर दिया गया। गन्ने का मूल्य घटाने का उद्देश्य चीनी का भाव ३५ रुपया ७ आना प्रतिमन से घटाकर २८ रुपना ८ आना प्रतिमन करना था। गन्ने के भाव में इस कमी से १९४९-५० में कारखानों के लिये गन्ने की पूर्ति में कमी हो गई और परिणाम स्वरूप उत्पादन भी गिर गया, (ब) गन्ने से प्राप्त चीनी की प्रतिशत मात्रा १९४८-४९ में ९·९७ से गिरकर १९४९-५० में ९·८९ हो गई और गन्ना पेरने की औसत अवधि भी १०१ दिन से घटकर ९१ दिन तक आगई। इस कारण चीनी के उत्पादन में कमी हुई जबकि कारखानों की सख्या १३४ से बढ़कर १३९ होगई थी।

परन्तु क्रमशः स्थिति बदली और उत्पादन बढ़कर १९५०-५१ में ११·०१ लाख टन और १९५१-५२ में १४·८३ लाख टन हो गया। १९५०-५१ और १९५१-५२ में चीनी का अधिक उत्पादन होने के तीन मुख्य कारण हैं, (१) मिलों को खुले बाजार में चीनी बेचने की छूट दे दी गई। इसके अनुसार कारखानों को १९४८-४९ या १९४९-५० में से जिस वर्ष का उत्पादन कम हो उसके १०७ प्रतिशत से अधिक उत्पादित चीनी को खुले बाजार में उस समय के भाव के अनुसार विक्रय करने की अनुमति दे दी गई। इसके पूर्व कारखानों को अपना सम्पूर्ण उत्पादन नियन्त्रित भाव पर बेचना पड़ता था जिससे उन्हें अधिक लाभ नहीं हो पाता था। इस कारण उत्पादन वृद्धि की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं रही। खुले बाजार में अतिरिक्त चीनी का विक्रय करने की छूट देने के फलस्वरूप कारखाने अधिक उत्पादन का लाभ उठा सकते थे इसलिए स्वाभाविक ही उत्पादन में वृद्धि हुई, (२) चीनी के मूल्य में थोड़ी सी वृद्धि की गई परन्तु गन्ने का भाव १९४८-४९ के स्तर पर ही रहा। कारखाने से बाहर चीनी का नियन्त्रित भाव २८ रुपया ८ आना स्थिर रखा गया परन्तु पहले यह डी० २४ नम्बर की चीनी का भाव था और अब ई० २७ नम्बर की चीनी इस भाव से विक्रय होने लगी। चूँकि ई० २७ नम्बर की चीनी डी० २४ नम्बर की चीनी से घटिया प्रकार की है इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि कारखानों ने गत वर्षों की अपेक्षा चीनी का अधिक मूल्य वसूल किया। उत्तर प्रदेश में १९५०-५१ में गन्ने का भाव २ आ० प्रतिमन बढ़ाकर १ रुपया १२ आना प्रतिमन निश्चित किया गया। कारखाने के बाहर ई० २७ नम्बर की चीनी का भाव बढ़ाकर २९ रुपया १२ आ० प्रतिमन कर दिया गया परन्तु इसका मिल मालिकों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि एक मन चीनी का उत्पादन करने में १० मन गन्ना लगता है और इस आधार पर उत्पादन व्यय १ रुपया ४ आना प्रतिमन बढ़ा और मूल्य भी इतना ही बढ़ा, (३) गन्ना पेरने की अवधि में भी वृद्धि की गई। १९४९-५० में गन्ना पेरने की अवधि ९१ दिन थी जो १९५०-५१ में बढ़कर १०१ और १९५१-५२ में १३३ दिन हो गई। यद्यपि यह सत्य है कि गन्ने से प्राप्त चीनी की प्रतिशत मात्रा १०·०३ से घटकर ९·५७ हो गई परन्तु कारखानों को अधिक समय तक चालू रखने के कारण चीनी के उत्पादन में वृद्धि हुई।

चीनी की उत्पत्ति १९५२-५३ में गिरकर १३·१४ लाख टन और १९५३-५४ में १०·०१ लाख टन हो गई। इसके कारण निम्न हैं, (१) उत्पादन करने वाली फैक्ट्रियों की संख्या जो कि १९५१-५२ में १३९ थी १९५२-५३ और १९५३-५४ में घटकर १३४ हो गई और कार्य करने के दिनों की औसत संख्या १३३ से

घटकर क्रमश: ११३ और ८६ हो गई, (२) १९५२-५३ में कारखानों में पिछला बचा हुआ माल अधिक मात्रा में था और अनेकों मिलें समय से कार्यारम्भ भी न कर सकी जिसके फलस्वरूप जितना उत्पादन करने की उनमें शक्ति थी उतना भी उत्पादन न हो सका, (३) बहुत सी मिलों में यन्त्रादि घिसे पिटे और प्राचीन ढंग के थे जिनके कारण उत्पादन शक्ति का पूर्ण प्रयोग होना सम्भव नहीं था, और (४) अवैध रूप से शराब खींचने के कार्य में लाने के लिए बढ़ी हुई गुड़ की माँग को पूर्ण करने के लिये कुछ गन्ने का प्रयोग गुड़ बनाने में कर लिया गया। १९५२-५३ की फसल के लिए गन्ने का मूल्य घटाकर १ रु० ५ आना प्रति मन और चीनी का नियन्त्रित मूल्य २७ रु० प्रतिमन कर दिया गया। गन्ने का प्रतिमन मूल्य इतना कम हो जाने से कारखानों को पर्याप्त मात्रा में गन्ना ही न मिल सका। १९५३-५४, १९५४-५५ और १९५५-५६ की फसलों के लिये भारत की सरकार ने गन्ने का मूल्य १ रु० ७ आ० प्रतिमन कर दिया। इस समय चीनी के मूल्य पर कोई नियन्त्रण नहीं हैं, केवल यह प्रतिबन्ध है कि फसल की उत्पत्ति का २५% 'सुरक्षित माल' समझा जाय जिसमें से सरकार चीनी पिछले नियन्त्रित मूल्य पर अर्थात् २७ रु० प्रतिमन पर बेचती है। कृषकों के दृष्टिकोण से गन्ने का १ रु० ७ आना प्रति मन मूल्य अपर्याप्त है और इसी कारण फैक्ट्रियों को पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल मिलने में कठिनाई पड़ती है।

१९५६-५७ में चीनी की उत्पत्ति २०$\frac{1}{2}$ लाख टन थी। १९५७-५८ में इससे बढ़कर २१$\frac{1}{2}$ लाख टन होने की सम्भावना है। इसका कारण वर्तमान फैक्ट्रियों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि तथा नई फैक्ट्रियों की स्थापना है।

उत्पादन क्षमता—चीनी उद्योग की मुख्य समस्या उत्पादन व्यय की अधिकता है। उत्पादन व्यय अधिक होने से उपभोक्ता पर अनावश्यक भार पड़ता है और अन्य देशों की अपेक्षा भारतीय चीनी का मूल्य अधिक होने के कारण निर्यात की मात्रा भी नहीं बढ़ पाती। भारतीय चीनी का उत्पादन व्यय अधिक होने के अनेक कारण हैं। इसको कम करके चीनी का मूल्य घटाने के लिये काफी प्रयत्न करने की आवश्यकता है। चीनी-उद्योग के सम्बन्ध में प्रथम कठिनाई यह है कि कृषकों के हितों की रक्षा के लिये सरकार गन्ने का मूल्य अधिक निश्चित करती है और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें उद्योग पर अनेक कर लगाती हैं। गन्ने का अधिक मूल्य, अधिक मजदूरी और अधिक कर का फल यह होता है कि चीनी का उत्पादन व्यय कम होने की अपेक्षा बढ़ता जाता है। चीनी के मूल्य को घटाने के लिये यह आवश्यक होगा कि गन्ने के मूल्य को घटाया जाय। चीनी उद्योग की जाँच करने वाले प्रशुल्क मण्डल ने सुझाव दिया था कि

१९४९-५० में गन्ने के मूल्य में ३ आना प्रतिमन कमी की जाय, १९५०-५१ में भी इतनी कमी और की जाय जिससे भाव १ रुपया ४ आना प्रतिमन तक आ जाय। यदि सुझाव को लागू किया जाता तो इससे प्रतिमन चीनी में गन्ने का मूल्य ३ रुपया १२ आना कम हो जाता। यदि प्रशुल्क मण्डल के सुझाव के अनुसार माल तैयार करने की मद मे भी २ रुपया ८ आने की कमी कर दी जाती तो इससे १९५०-५१ मे चीनी का भाव २२ रुपया ४ आना प्रतिमन हो जाता। यह खेद की बात है कि सरकार ने प्रशुल्क मण्डल के सुझावों के अनुसार कार्य नहीं किया और गन्ने का भाव घटाने के बजाय बढ़ा दिया। इसके परिणाम स्वरूप चीनी के मूल्य में और वृद्धि हो गई। १९५२-५३ में गन्ने का मूल्य उत्तर प्रदेश और बिहार में घटाकर १ रुपया ५ आना प्रतिमन कर दिया गया परन्तु इसके पश्चात् भारत सरकार द्वारा फिर से बढ़ाकर १ रुपया ७ आना प्रतिमन कर दिया गया।

गन्ने की उत्पत्ति—गन्ने के मूल्य की समस्या सन्तोषजनक ढङ्ग से तभी सुलझाई जा सकती है जबकि प्रति एकड़ गन्ने की उत्पत्ति में वृद्धि की जाय। भारत में प्रति एकड़ गन्ने की उत्पत्ति ससार भर मे सब से कम है और निरन्तर कम होती जा रही है। क्यूबा में प्रति एकड़ उत्पत्ति १७'१२ टन, मारिशस में १९'६३ टन, आस्ट्रेलिया में २१'३४ टन, प्युरटोरीको में २४'१६ टन, जावा में ५६ टन, और हवाई में ६२'०५ टन है जब कि भारत में केवल १४ टन है। गन्ने के प्रत्यादान की प्रतिशत क्यूबा में १२'२५, मारिशस में १२'०८, आस्ट्रेलिया में १४'३३, प्युरटोरीको में १२ २३, जावा मे ११'४९ और हवाई में १०'४६ है और भारत में १०% है। कृषक को तो भूमि से अपनी साधारण आय चाहिये और यदि गन्ने का मूल्य घटा दिया जाय और यदि गन्ने से प्राप्त प्रति एकड़ आय बढ़ जाय तो कृषक के लिये चिन्ता की कोई बात न होगी।

वर्तमान समय में चीनी तैयार करने के लिये कुछ कारखाने सल्फीटेशन प्रोसेस और कुछ कारबोनेशन प्रोसेस का प्रयोग करते हैं। दोनों ही प्रकार के विधायन में गन्धक का उपयोग होता है जिससे चीनी के कारखानों का व्यय बढ़ता है क्योंकि गन्धक का भारत बहुत अधिक मूल्य पर आयात करता हैं। कारबोनेशन प्रोसेस में ०'०२%से० ०३५%तक गन्धक लगता है और सल्फीटेशन प्रोसेस में इसकी मात्रा ०'०५%से ० ०८%तक है। इसलिये इन दोनों में से कारबोनेशन प्रोसेस का प्रयोग करना आवश्यक है क्योंकि इससे उत्पादन व्यय घटेगा। इण्डियन इन्स्टीट्यूट आव शुगर टैकनालाजी के सचालक श्री जे० एम० साहा ने बिना गन्धक का प्रयोग किये चीनी बनाने की नई प्रक्रिया खोज निकाली है। इस नई

प्रक्रिया से अधिक मात्रा में चीनी उत्पन्न होती है और चीनी का प्रकार भी अपेक्षा-कृत अच्छा है। पटना साइन्स कालेज के श्री डी० एन० घोष ने एक नई रीति निकाली है जिससे बिना किसी रसायनिक या ताप की सहायता के बिजली के द्वारा गन्ने का रस साफ किया जा सकता है। इन दोनों प्रणालियों का अभी तक व्यवसायिक पैमाने पर प्रयोग नहीं किया गया है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इनसे चीनी बनाने के व्यय में कमी अवश्य होगी। चीनी उद्योग में अच्छी मशीनों के लगाने से भी उत्पादन व्यय में कमी की जा सकती है।

स्थिति—उत्पादन व्यय अधिक होने का एक कारण कारखानों का अनुपयुक्त स्थानों पर स्थित होना भी है। यद्यपि वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश और बिहार में अधिकतर कारखाने स्थित हैं परन्तु यदि कारखाने बम्बई या दक्षिण भारत में होते तो अधिक उपयुक्त होता। बम्बई तथा दक्षिण के अन्य क्षेत्रों में गन्ने का प्रति एकड़ उत्पादन अधिक है और वहाँ गन्ने की पिराई भी अधिक समय तक होती है। यदि उत्तर भारत की अपेक्षा उद्योग दक्षिण में ही विकसित होता तो चीनी का उत्पादन व्यय अवश्य कम होता। परन्तु अब यह है कि चीनी-उद्योग अधिकतर उत्तर प्रदेश और बिहार में केन्द्रित हो गया है। १९५१ के उद्योग (विकास एवम् नियमन) कानून के अतर्गत नियुक्त लाइसेंसिन्ग समिति ने कुछ कारखानों को एक साथ नये स्थानों में ले जाने की सिफारिश की थी परन्तु यह समस्या का उपयुक्त हल सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि (१) यदि यह योजना लागू की जाय तो एक कारखाने को एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाने में १० से १५ लाख रुपया व्यय हो जायगा और यातायात की व्यवस्था में व्यय होगा। इसके साथ ही कारखाने को हटाने की अवधि में उत्पादन बन्द रहेगा; (२) जिन क्षेत्रों से कारखाने हटाये जायँगे उनकी आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायगी और उनका अन्य क्षेत्रों से सम्बन्ध टूट जायगा। इसलिये उद्योग की स्थिति में सुधार करने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि नवीन और उपयुक्त स्थानों में धीरे-धीरे नवीन कारखाने स्थापित किये जायँ और अनुपयुक्त स्थानों में स्थित कारखाने जब पुराने पड़ जायँ और पुनर्निर्माण की आवश्यकता हो तब उनका पुनर्निर्माण न करने दिया जाय।

निर्यात—अतीत में चीनी के लिये भारत विदेशों पर निर्भर था। १९२९-३० मे भारत ने लगभग ९½ लाख टन चीनी का आयात किया। परन्तु हाल में चीनी के उत्पादन में वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप अब आयात केवल नाम मात्र को होता है। यह बहुत सभव है कि भविष्य में भारत चीनी का आयात करने की अपेक्षा निर्यात करने लगेगा। हवायन अतर्राष्ट्रीय चीनी सम्मेलन के कथनानुसार "बहुत

समय तक भारत को चीनी का निर्यात करने की अनुमति नहीं दी गई, यहाँ तक कि १६३६-४० में जब देश में चीनी का उत्पादन आवश्यकता से कहीं अधिक हुआ था, अतिरिक्त चीनी का भारत से निर्यात नहीं किया जा सका। कुछ समय से यद्यपि भारत चीनी का निर्यात कर सकता है परन्तु निर्यात की मात्रा पर नियन्त्रण है। कुछ पड़ोस के देशों को भारत केवल कुछ हजार टन चीनी प्रतिवर्ष भेज सकता है।"

चीनी का निर्यात बढ़ाने में सबसे बड़ी कठिनाई भारतीय चीनी का अपेक्षाकृत अधिक मूल्य है। भारत में कारखाने के बाहर चीनी का भाव (ex-factory price) २७ रुपया प्रति मन है जब कि अन्य देशों में २१ से २३ रुपया प्रति मन है। इसलिए जब तक सरकार या तो चीनी के निर्यात के लिये आर्थिक सहायता नहीं देती या विदेशों को कम मूल्य पर निर्यात करने और घाटा पूर्ति के लिये देश में अधिक मूल्य पर बेचने की अनुमति नहीं देती तब तक चीनी का निर्यात बढ़ा सकना असमव है। परन्तु वर्तमान स्थिति में उक्त दोनों साधन अव्यवहारिक हैं। इन कारणों से चीनी का निर्यात बहुत कम होता है और जब तक चीनी का उत्पादन व्यय नहीं घटाया जाता तब तक भविष्य में भी निर्यात में वृद्धि की कोई आशा नहीं दिखाई देती।

योजना के अन्तर्गत—प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के आरम्भ में चीनी के वार्षिक उत्पादन में वृद्धि का कोई भी प्रबन्ध नहीं किया क्योंकि यह आशा की जाती थी कि १५·५ लाख टन की उत्पादन शक्ति का अनुमान और १६५५-५६ तक १५ लाख टन का वास्तविक उत्पादन उपयुक्त होगा। परन्तु १६५४-५५ में ही चीनी का उत्पादन १६ लाख टन के लगभग हो गया, अर्थात् योजना के लक्ष्य से १ लाख टन अधिक हो गया। इसलिए प्रथम पञ्चवर्षीय योजना का लक्ष्य १८ लाख टन कर दिया गया। इस ध्येय से सरकार ने ३७ नई मिलों को और ४० पुरानी मिलों के विस्तार के लिये लाइसेन्स प्रदान किये। इससे ५½ लाख टन तक की उत्पादन शक्ति बढ़ने और वास्तविक उत्पादन ३⅓ लाख टन बढ़ने की आशा है।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में यह प्रस्ताव किया गया है कि उत्पादन शक्ति १७·४ लाख टन से जितने का १६५५-५६ में अनुमान किया गया है, १६६०-६१ तक २५ लाख टन कर दी जाय और चीनी का उत्पादन १६५५-५६ के १७ लाख टन से बढ़ाकर १६६०-६१ तक २२½ लाख टन कर दिया जाय। उत्पादन की इस वृद्धि में से सहकारी चीनी के कारखाने ३½ लाख टन उत्पादित करेंगे। द्वितीय योजना में उत्पादन की बढ़ी हुई मात्रा का लक्ष्य उपयुक्त है। इण्डियन

शुगर मिल्स एसोसिएशन ने अपने स्मारकपत्र में जो उसने सरकार को भेजा था यह लिखा था कि वर्तमान चीनी के कारखाने पहिले से लाइसेन्स प्राप्त कारखानों को सम्मिलित करते हुये १९६०-६१ तक २७ लाख टन तक चीनी का उत्पादन करने में समर्थ हैं जबकि योजना का लक्ष्य केवल २२½ लाख टन ही उत्पादन करने का है। यदि भविष्य की कठिनाइयों जैसे वर्षा का न होना, बाढ़ का आना इत्यादि को विचाराधीन रख लिया जाय तब १९६०-६१ तक वर्तमान कारखाने पहिले से लाइसेन्स प्राप्त कारखानों को मिलाकर प्रति वर्ष २५ लाख टन चीनी का उत्पादन कर सकेंगे जो कि लक्ष्य से २½ लाख टन अधिक होगा। इस बात को सोचते हुये सरकार के लिए यह आवश्यक है कि नई फैक्ट्रियों को लाइसेन्स देने में सावधानी करें नहीं तो भारतीय चीनी उद्योग में उत्पादन शक्ति का आधिक्य हो जायगा और सम्भवत उत्पादन भी आवश्यकता से अधिक होगा।

कोयला उद्योग

भारत में कोयले के उत्पादन में विशेष प्रगति हुई है। १९३० का २४० लाख टन का उत्पादन १९५७ में बढ़कर ४३५ लाख टन हो गया। सन् १९५० तक कोयले का उत्पादन लगभग ३०० लाख टन तक बढ़ पाया था पर १९५० में सर्व प्रथम उत्पादन बढ़कर ३२३ ३ लाख टन हो गया था। आगामी वर्षों में उत्पादन उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। १९५१ में ३४६.६५ लाख टन, १९५२ में ३६३ ३४ लाख टन, १९५५ में ३८० लाख टन तथा १९५७ में ४३५ लाख टन हुआ था। उत्पादन में यह वृद्धि वर्तमान खानों की अधिक घनी खुदाई करने तथा कोयले की माँग में वृद्धि होने के कारण नई खानों की खुदाई का कार्य आरम करने के कारण हुई है।

उत्पादन क्षमता—यद्यपि भारत में कोयले के कुल उत्पादन में वृद्धि हुई है परन्तु कोयले की खानों के उद्योग की उत्पादन क्षमता बहुत कम है। बहुत सी खानें इतनी छोटी हैं जिन्हें आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। खानों के यन्त्रीकरण में भी विशेष प्रगति नहीं की गई है। कोयला उद्योग में जितने श्रमिक कार्य करते हैं उनकी सख्या आवश्यकता से अधिक है। साथ ही अन्य देशों के विपरीत भारतीय खदान-श्रमिक की कार्य क्षमता कम है और प्रति श्रमिक उत्पादन भी कम होता है। उद्योग में कार्य करने वाले श्रमिकों की सख्या १९४१-५१ के मध्य ५८% बढ़ गई है परन्तु कोयले के उत्पादन में केवल ३२% की ही वृद्धि हो पाई है इससे श्रमिकों की उत्पादकता में ह्रास प्रगट होता है। यह प्राविधिक (टैक्निकल) पिछड़ापन और कार्यक्षमता में कमी, कोयले के उद्योग की स्पर्धा शक्ति और लाभ को नीचे स्तर पर रखने के लिये उत्तरदायी है।

ज्योलोजिकल, माइनिंग और मैटालर्जीकल सोसाइटी की २८ वीं वार्षिक बैठक में यह बताया गया कि भारत में प्रति श्रमिक आठ घंटे की एक शिफ्ट में २.७ टन कोयले का उत्पादन होता है जब कि ब्रिटेन में ६.२६ टन, जर्मनी में ८.६६ टन और अमरीका में २१.६८ टन कोयले का उत्पादन होता है। इसका तात्पर्य यह है कि उत्पादन व्यय कम करने के लिए और उद्योग की वित्तीय स्थिति दृढ़ बनाने के लिए भारतीय कोयला उद्योग का अभिनवीकरण करने की आवश्यकता है। कोयला उद्योग का यन्त्रीकरण करने में दो कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है—(१) इस प्रक्रिया में बहुत अधिक धन की आवश्यकता होती है और (२) श्रमिक इस प्रक्रिया का विरोध करते हैं क्योंकि इस योजना को लागू करने से अनेक श्रमिक बेरोजगार हो जायँगे। उद्योग की उत्पादन-क्षमता में सुधार करने के लिए इन दोनों कठिनाइयों को दूर करना आवश्यक है।

परिरक्षण (Conservation)—वर्तमान समय में धातुशोधन के कार्य में आने वाले उत्तम श्रेणी के कोयले की काफी क्षति हो रही है। इस कोयले का कुल जितना उत्पादन होता है उसका ४० प्रतिशत भाग रेलवे के कार्य में आता है, २१ प्रतिशत के लगभग लोहे और इस्पात उद्योग में और १३ प्रतिशत का निर्यात और जहाजों में प्रयोग होता है। इस्पात उद्योग में इस प्रकार के कोयले की बहुत आवश्यकता होती है इसलिये इस उद्योग के उपयोग के लिये इसका सरक्षण करना पड़ेगा। मेटालर्जीकल कोल कमेटी (१९४९) अपनी जांच पड़ताल के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँची कि प्रत्येक वर्ष पूर्व की कुल खपत में से (उद्योग को बिना कुछ हानि पहुँचाये) आगामी ५ वर्षों में धीरे धीरे १० प्रतिशत की कमी की जा सकती है और इस प्रकार धातुशोधन के कार्य में आने वाले उत्तम श्रेणी के कोयले का उत्पादन घटाया जा सकता है। इस समिति ने सुझाव दिया है कि (अ) किसी भी परिस्थिति में इस प्रकार के कोयले की खानें न खोली जायँ। यदि पुनः प्रचलित करने में अधिक धन न लगे तो उत्तम श्रेणी के कोयले की कुछ खानों को बन्द किया जा सकता है, (ब) कोयले के चट्टे लगाने, मिलाने और धोने को कानूनी रूप से अनिवार्य कर देना चाहिए, और (स) खराब कोयला छोड़कर अच्छा कोयला निकालने की रीति को बन्द कर देना चाहिए। योजना आयोग ने सुझाव दिया है उत्तम श्रेणी के कोयले का सरक्षण किया जाय और कोयले तथा कोयला समिति से सम्बन्धित सभी विषयों पर परस्पर उचित संबन्ध स्थापित करने वाली नीति अपनाई जाय। सरकार ने धातु शोधन के कार्य में आनेवाले कोयले के उत्पादन की अधिकतम मात्रा निर्धारित कर दी है। १९५३ उत्पादन की अधिकतम मात्रा १५१.८ लाख टन, १९५४-५५ में १४३.८ लाख टन, १९५६

में १९५४ १ लाख टन तथा १९५७ में १६० लाख टन कर दी गई।

सरकार की इस नीति की दो आधारों पर आलोचना की गई है। यह कहा गया है कि (अ) उत्तम प्रकार के कोयले के उत्पादन की मात्रा पर प्रतिबन्ध लगाना समस्या का उचित हल नहीं है। सरक्षण करने का अर्थ है रोकी जा सकने वाली क्षति होने की सारी संभावनाएँ समाप्त करना, उत्पादन में अधिक उपयुक्त साधनों तथा उपायों का प्रयोग करना और कोयले के व्यय मे बचत करना इत्यादि। इसके साथ ही सरकार की नीति को व्यापक होना भी आवश्यक है, (ब) कोयले के चट्टे लगाने, मिलाने और धोने मे और सरक्षण की नीति को लागू करने में अतिरिक्त व्यय करना पड़ता है जिसका उत्पादन व्यय पर प्रभाव पड़ता है। सरकार न तो उद्योग को आवश्यक वित्त की सहायता देती है और न अतिरिक्त व्यय का धन वसूल करने के लिये कोयले के मूल्य में वृद्धि करने देती है। उद्योग पर उक्त प्रतिबन्ध लगाना सरकार की न्यायसगत कार्यवाही नहीं कही जा सकती। इस अभाव की पूर्ति किये बिना सरकार की कोयला सरक्षण नीति से उद्योग को और अधिक हानि होने की सभावना है।

परिवहन—कोयला उद्योग की एक सबसे बड़ी कठिनाई परिवहन के साधनो का अभाव है। कोयले को अन्यत्र भेजने के लिए पर्याप्त सख्या में गाड़ियाँ या मालगाड़ी के डिब्बे नहीं मिलते हैं। गाड़ियाँ मिलने में बहुत देर होती है जिससे खानों के समीप कोयले के ढेर लग जाते हैं। इससे खानों के कार्य में बहुत कठिनाई होती है। बंगाल और बिहार के कोयले की खानों के क्षेत्र में (जो देश के ८०% कोयले के उत्पादन के लिये उत्तर दायी है) प्रतिदिन लादी जाने वाली मालगाड़ियों के डिब्बे की औसत सख्या १९५७ में ३६६७ थी, जब कि १९५६ तथा १९५२ में यह सख्या क्रमश: ३४०५ तथा ३१६३ थी। इससे उन्नति की प्रवृत्ति प्रदर्शित होती है परन्तु खेद है कि कोयले की खानों को उपलब्ध माल गाड़ियों की सख्या न तो आवश्यकता के अनुकूल ही रही है और न रेल विभाग की शक्ति के ही अनुकूल।

कोयले के लिये मालगाड़ियों के डिब्बों की पूर्ति में वृद्धि आवश्यक है ताकि उद्योग द्वारा कोयला शीघ्रता से और कम मूल्य पर बेचा जा सके। मालगाड़ी के डिब्बों की पूर्ति में वृद्धि के लिये रेलवे के प्रसाधनों में वृद्धि आवश्यक होगी। इसमें निश्चय ही समय लगेगा। परन्तु कुछ अन्य भी उपाय हैं जिनसे कोयले की खानों के लिये मालगाड़ी के डिब्बों की पूर्ति मे वृद्धि की जा सकती है। वर्तमान मालगाड़ी के डब्बों के आवेदन की प्रणाली बड़ी ही जटिल है जिससे देर भी लगती है और खानों पर अत्यधिक कोयला भी एकत्रित हो जाता है। दूसरी

समस्या ढोने की दर की है। भारत सरकार ने कोयले के भाड़े की दर में ३० प्रतिशत वृद्धि कर दी है। भाड़े की वृद्धि कोयला उद्योग के सम्बन्ध में नियुक्त की गई वर्किंग पार्टी के सुझाव के अनुसार की गई है। इस वृद्धि से कोयले के परिवहन व्यय में वृद्धि हो गई और इस प्रकार कोयले का प्रयोग करने वाले उद्योगों का उत्पादन व्यय भी बढ़ गया। भारतीय उद्योगों का विकास करने के लिए कोयले का परिवहन व्यय कम करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

कोयले के निर्यात में कमी की समस्या भारत सरकार ने १९५४ में नियुक्त एक कमेटी के सम्मुख रक्खी थी जिसने यह रिपोर्ट दी कि भारत के कोयले के मुख्य बाजार पड़ोसी देशो मे ही हैं। इस लिये बरमा, लका, पाकिस्तान, दक्षिणी पूर्वी एशिया के कुछ देशों को ही भारत को अपना स्वाभाविक बाजार समझना चाहिये। १९५१-५२ मे जो यूरुप को अधिक निर्यात हुआ था वह यूरुप में कोयले के अभाव, दक्षिणी अफ्रीका में यातायात की कठिनाईयों, आस्ट्रेलिया में नियन्त्रित उत्पादन और कोरिया के युद्ध जनित कारणों से था। १९५३ में ये १९५१-५२ की अपवादी स्थिति समाप्त हो गई और जो नवीन बाजार भारत को प्राप्त हो गये थे वे सामान्य स्थिति होने पर फिर समाप्त हो गये। कोयले का निर्यात बढ़ाने के विचार से कमेटी ने निम्न सिफारिशें कीं : (१) कोयले का सरकारी क्रय विक्रय बन्द होना चाहिये, (२) कोयले की विभिन्न प्रकारों पर जो नियन्त्रण लगा हुआ है उसे कम करना चाहिये, (३) कोल ग्रेडिंग बोर्ड को वे ही ग्रेड बनाने चाहिये जो कन्ट्रोल आर्डर में दे दिये हैं, और (४) कलकत्ते के बन्दरगाह पर अधिक सुविधाओं के देने के उपाय करने चाहिये।

योजना के अन्तर्गत—द्वितीय पच वर्षीय योजना में कोयला उद्योग को प्रमुख स्थान दिया गया है। धीरे धीरे इसे सरकारी क्षेत्र में ले आया जायगा। कोयले का उत्पादन ३६७.७ लाख टन से जो कि १९५४ मे था बढ़ाकर १९६०-६१ मे ५९७.७ लाख टन कर दिया जायगा।

१९४८ के औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव मे यह कहा गया था कि प्रत्येक कोयले की नवीन खान सरकारी क्षेत्र में ही आरम्भ होगी, ऐसी स्थिति के अतिरिक्त जहाँ कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सरकार व्यक्तिगत व्यवसायियों का सहयोग आवश्यक समझती है। आरम्भ मे इस नीति के व्यवहार में कुछ शिथिलता दिखाई गई परन्तु अब यह निश्चय कर लिया गया है कि भविष्य में कोयले के उद्योग के नवीन उपक्रमों को सरकारी क्षेत्र में ही रखने का प्रयत्न किया जायगा और बढ़ी हुई माँग को पूर्ण करने के लिए अतिरिक्त कोयले का उत्पादन द्वितीय योजना काल मे अधिकतम स्तर तक सरकारी क्षेत्र मे ही किया जायगा।

लोहा और इस्पात उद्योग

भारतीय लोहे और इस्पात उद्योग के क्षेत्र में तीन मुख्य उत्पादक हैं, टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (इसमें स्टील कारपोरेशन आफ बंगाल भी सम्मिलित है) और मैसूर आयरन स्टील वर्क्स। इन कारखानों में कच्चे लोहे का इस्पात बनाया जाता है और इस्पात से आवश्यक वस्तुयें तैयार की जाती हैं। इनके अतिरिक्त लगभग ६४ छोटे कारखाने हैं जो व्यर्थ लोहे से और लोहे के छड़ों से जो उत्पादकों द्वारा प्राप्त होते हैं या आयात होते हैं, इस्पात तैयार करते हैं।

भारतीय इस्पात उद्योग एशिया में सबसे बड़ा है और संसार के सर्वोत्तम इस्पात उद्योगों में से एक है। १९२४ में संरक्षण मिलने के पश्चात् इसने महत्वपूर्ण प्रगति की है। उद्योग की उत्पादन क्षमता में इतनी वृद्धि हुई कि १९४१ में संरक्षण की कुछ आवश्यकता नहीं रही। इस्पात का उत्पादन १९४७ में ८९ लाख टन था जो बढ़कर १९५२-१९५५ तथा १९५७ में क्रमशः ११ लाख टन, १२ लाख टन और १३ लाख टन हो गया। १९५८ में उत्पादन की मात्रा ४५ लाख टन अनुमानित की गई है। १९५३ में इस्पात और ढले हुए लोहे का उत्पादन १९५२ की अपेक्षा कम हो गया। इसका कारण किसी सीमा तक तो श्रमिकों के झगड़े थे और किसी सीमा तक यन्त्रों के अभिनवीकरण के कारण उत्पन्न वह अव्यवस्था थी जिसके फलस्वरूप कुछ समय के लिए कारखानों को बन्द रखना आवश्यक हो गया था। इसके अनन्तर उत्पादन में वृद्धि हुई और भविष्य में इसके और अधिक बढ़ने की संभावना है। भारत के इस्पात और लोहे के उद्योग की मुख्य समस्याएँ (अ) इस्पात के उत्पादन में वृद्धि करना, (ब) ढले हुए लोहे के उत्पादन को फाउन्ड्रीयों के लिये बढ़ाना है।

लोहे और इस्पात उद्योग के लिए आवश्यक कच्चा माल भारत में ही प्राप्त है। जितना कच्चा माल वर्तमान समय में प्राप्त है उतने से ही उद्योग के लिए इस्पात बढ़ा लेना सम्भव है।

इस्पात का मूल्य—देशी इस्पात का मूल्य आयात किये हुये इस्पात से बहुत कम है। मूल्यों में समानता लाना बहुत आवश्यक है। यह मूल्य के नियन्त्रण द्वारा ही (युद्धकाल से आज तक) सम्भव हो सका है। १ अक्टूबर १९३९ से ३० जून १९४४ तक युद्ध के लिये क्रय किये जाने वाले इस्पात के मूल्य पर नियन्त्रण था। परन्तु इस्पात के व्यवसायिक मूल्य पर कोई नियन्त्रण नहीं था। इस्पात के व्यवसायिक मूल्य पर परिनियमित रूप से नियन्त्रण १ जुलाई १९४४ से आरम्भ हुआ। इस सम्बन्ध में सरकार जिस प्रणाली का अनुसरण करती है उसके

अनुसार प्रत्यारक्षण मूल्य (retention price) नियत कर दिया जाता है जिस पर मुख्य-मुख्य उत्पादक इस्पात विक्रय करते हैं, और उपभोक्ताओं के लिये मूल्य की एक अन्य ऊँची दर नियत होती है जिस पर वे क्रय करते हैं। दोनों मूल्यों के अन्तर से प्राप्त धन समानता स्थापित करने वाले कोष (equalisation method) में जमा कर दिया जाता है जिसमें से इस्पात के आयात में सहायता प्रदान की जाती है और इस्पात उत्पादकों के अभिनवीकरण तथा विकास के कार्यक्रमों में आर्थिक सहायता दी जाती है। एक जुलाई १६४४ और ३१ मार्च १६४६ के मध्य इस्पात के दो प्रत्यारक्षण मूल्य निर्धारित किये गये थे। एक युद्ध के लिये क्रय किये जाने वाले इस्पात के लिये और दूसरा व्यवसायिक प्रयोग के लिये, परन्तु १ अप्रैल १६४६ से केवल एक ही प्रत्यारक्षण मूल्य निर्धारित है। परिस्थिति के परिवर्तन के साथ प्रत्यारक्षण मूल्य और विक्रय मूल्य बदलते रहते हैं।

प्रशुल्क मण्डल की सिफारिशों के अनुसार सरकार ने यह बात स्वीकार कर ली है कि १६५५-५६ से १६५६-६० तक की अवधि के लिये ३६३ रु० प्रति टन के प्रत्यारक्षण मूल्य की एक ही दर टाटा कम्पनी और इन्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के लिये नियत की जानी चाहिये। इस पुनर्निश्चित मूल्य के लागू करने के लिये सरकार का प्रस्ताव फरवरी १६५६ में पास हुआ। इसी समय १६५४-५५ के लिये पुनर्परिक्षित प्रत्यारक्षण मूल्य ३४३ रु० प्रति टन का टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के लिए और ३८६ रु० प्रति टन का इन्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के लिए नियत किया गया। इस बात को सब ने स्वीकार कर लिया कि १६५४-५५ का समायोजित प्रत्यारक्षण मूल्य और ३६३ रु० प्रति टन के समान प्रत्यारक्षण मूल्य का अन्तर प्रत्येक कम्पनी अपने विकास कोष में दे देगी।

भूतकाल में इस्पात का मूल्य बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, जमशेदपुर और बरनपुर में ५०० रुपये प्रति टन था, और अन्य स्थानों पर उपभोक्ताओं को उसके साथ परिवहन व्यय मिला कर देना पड़ता था। इसका अर्थ यह था कि (१) उत्तर प्रदेश, पंजाब और उत्पादन केन्द्रों तथा बन्दरगाहों से दूर स्थित नगरों के उपभोक्ताओं को अधिक मूल्य देना पड़ता था, और (२) बन्दरगाहों के निकट उद्योग केन्द्रित होते जा रहे थे क्योंकि उन्हें वहाँ इस्पात सस्ता मिलता था। सरकार की जून १६५६ की नई नीति के अनुसार इस्पात का एक ही मूल्य (५२५रु० प्रति टन) जिसमें रेल का किराया सम्मिलित होगा रेल के सभी प्रमुख स्टेशनों पर लागू होगा। इस प्रकार ऊपर बताये हुए पाँचो स्थानो पर उपभोक्ताओं को २५ रु० प्रति टन अतिरिक्त मूल्य देना पड़ेगा और उन उपभोक्ताओं को जो अमृतसर और कानपुर ऐसे स्थानों में हैं लगभग ३५ रु० प्रतिटन कम देना पड़ेगा। पहले मूल्य

में समानता लाने के लिये सिद्धान्त का प्रयोग केवल इस्पात के सम्बन्ध में ही लागू किया गया था। अब यह सिद्धान्त ढाले हुए लोहे के सम्बन्ध में भी लागू किया जायगा। इस नई नीति के कारण इस्पात और लोहे के मूल्य में भारत के उत्तरी भाग में रहने वाले व्यक्तियों के लिये कमी हो जायगी और दुर्लभ वस्तुयें प्रत्येक को युक्ति संगत मूल्य पर प्राप्त हो सकेंगी।

इस्पात के मूल्य पर सरकारी नियन्त्रण उपभोक्ताओं के लिये लाभकारी सिद्ध हुआ है क्योंकि बिना इस नियन्त्रण के उन्हें ये वस्तुयें अधिक मूल्य पर प्राप्त होती। परन्तु कम प्रत्यारक्षण मूल्य के नियत किये जाने से उत्पादकों को हानि हुई है। यदि उत्पादकों को ऊँचा मूल्य मिला होता तो वे अवश्य उद्योग के विस्तार करने में तथा अभिनवीकरण में व्यय किया जाता। अब उन्हें इस काय के लिये सरकार से ऋण लेना पड़ा है और सरकार ने मूल्य समीकरण कोप (equalisation fund) से यह ऋण दिया है। दूसरे शब्दों मे हम यह कह सकते हैं कि सरकार ने टाटा कम्पनी और स्टील कारपोरेशन आफ बंगाल को तथा अन्य इस्पात के उत्पादकों को वह धन ऋण के रूप मे दिया है जो कि न्यायत: उन्हीं का था। यदि इस्पात कम्पनियों को ऐसे अवसर पर जब कि इस्पात का मूल्य बढ़ा हुआ है अधिक मूल्य का लाभ न उठाने दिया जायगा तो आर्थिक मन्दी के समय जब मूल्य उत्पादन व्यय से कम होता है वे हानि का सामना कैसे करेंगे।

भविष्य की मांग—लोहा और इस्पात मेजर पेनेल ने १९४६ में अनुमान लगाया कि भारत में २० लाख टन इस्पात की खपत है, जब कि युद्ध के पूर्व केवल दस लाख टन की खपत थी। परन्तु १९४७ में परामर्शदात्री नियोजन परिषद ने अनुमान लगाया कि देश में सामान्य स्थिति में १५ लाख टन इस्पात की खपत है। कृषि तथा औद्योगिक विकास पर विचार करते हुये योजना आयोग ने अनुमान लगाया कि १९५२ में कुल ३२ लाख टन की आवश्यकता होगी और १९५७ तक २८ लाख टन की आवश्यकता हो जायगी। लोहा और इस्पात पेनल ने अनुमान लगाया है कि भारत को फाउन्ड्रियों के लिये प्रतिवर्ष ३ लाख टन ढले हुये लोहे की आवश्यकता होगी। वाणिज्य मन्त्रालय के छोटे और बड़े इजीनिरिंग उद्योग के जाँच करने वाले पेनेल ने १९५१ में बताया कि भारत को ४ लाख से ४·२ लाख टन तक ढले हुये लोहे की आवश्यकता थी। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना का अनुमान है कि १९६०-६१ में इस्पात की माँग लगभग ४५ लाख टन की और फाउन्ड्रियों के लिये ढले लोहे की माँग लगभग ७५ लाख टन की होगी। मुख्य उत्पादकगण ढला लोहा अपने प्रयोग के लिये तथा फाउन्ड्रियो के लिये ही

उत्पादित करते हैं। इसलिये फाउन्ड्रियों के लिये ढले लोहे की पूर्ति में वृद्धि करने के लिये प्रमुख उत्पादकों को अपने उत्पादन में वृद्धि करनी पड़ेगी।

योजना के अन्तर्गत—द्वितीय पचवर्षीय योजना ने भारत में इस्पात के उत्पादन के विकास पर विशेष महत्व दिया है। उद्योगीकरण की वर्तमान बढ़ी हुई प्रगति को बनाये रखने के लिये और भारत मे यन्त्रों के निर्माण करने वाले उद्योग की स्थापना करने के लिये यह आवश्यक होगा कि इस्पात के उत्पादन की मात्रा बढ़ाई जाय। द्वितीय योजना में १९६० ६१ तक ४३ लाख टन इस्पात के उत्पादन का प्रबन्ध किया गया है। इसमें से वर्तमान तीन प्रमुख उत्पादक अपने विस्तार के कार्य क्रम को पूर्ण कर लेने के पश्चात् लगभग २३ लाख टन की पूर्ति कर सकेंगे। सरकारी क्षेत्र में तीन नये स्थापित प्रमुख उत्पादक लगभग २० लाख टन का उत्पादन १९६०-६१ तक कर सकेंगे यद्यपि उनके उत्पादन की चरम सीमा कहीं अधिक होगी।

लोहे और इस्पात के उत्पादन को प्रधानता देने के निर्णय के अनुकूल द्वितीय पचवर्षीय योजना में सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत तीन इस्पात के कारखानों की स्थापना का निश्चय है जिनमें से प्रत्येक की उत्पादन शक्ति १० लाख टन होगी, और इन तीन में से एक को ३.५ लाख टन फाउन्ड्रियो के प्रयोग में आने वाला ढला हुआ लोहा तैयार करने की सुविधायें प्राप्त होंगी। रूरकेला में खोले गये कारखाने में १९५६-६१ में १२८ करोड़ रुपये के विनियोग का अनुमान है। यह आशा की जाती है कि ७.२ लाख टन इस्पात की चपटे आकार की वस्तुओं का उत्पादन करेगा। दूसरा कारखाना, जो कि मध्य-प्रदेश में भिलाई स्थान पर स्थापित किया गया है, उस पर लगभग ११० करोड़ रुपया व्यय किये जाने का अनुमान है। उससे हम आशा करते हैं कि ७.७ लाख टन विक्रय योग्य इस्पात तथा वजनी और मध्य श्रेणी की वस्तुओं का उत्पादन हो सकेगा जिसमें १.४ लाख टन पत्रक का भी रि-रोलिङ्ग उद्योग के लिये उत्पादन सम्मिलित होगा। तीसरा कारखाना दुर्गापूर में, जो कि पश्चिमी बगाल में स्थिति है, खोला गया है जिसमें लगभग ११५ करोड़ रुपये के व्यय होने की आशा है। यह कारखाना ऐसे प्रसाधनों से युक्त होगा कि वह हल्की और मध्य श्रेणी की इस्पात तथा पत्रक की वस्तुओं का निर्माण ६.६ लाख टन तक प्रतिवर्ष कर सकेगा।

सरकारी क्षेत्र के समान ही व्यक्तिगत क्षेत्र में भी इस्पात और लोहे का स्थान औद्योगिक योजना में एक बहुत बड़ी महत्ता रखता है। इस उद्योग पर व्यक्तिगत क्षेत्र में लगभग ११५ करोड़ रुपये के विनियोग का विचार किया गया है। प्रथम योजना के अन्तर्गत व्यक्तिगत क्षेत्र मे लोहे और इस्पात उद्योगो के

विस्तार सम्बन्धी विनियोग तथा जो कुछ व्यय द्वितीय योजना के अन्तर्गत किया गया है उस सब का फल १९५८ के मध्य से मिलना प्रारम्भ होगा जबकि टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की संयुक्त उत्पादन शक्ति वर्तमान १२ ५ लाख टन के स्थान पर २३ लाख टन के लगभग हो जायगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने इस्पात और लोहे के उत्पादन के बढ़ाने पर उचित ही ध्यान दिया है। इस्पात अधिक मात्रा में औद्योगीकरण का आधार है और इस्पात के उत्पादन की वृद्धि औद्योगिक उन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। लोहे का उत्पादन बढ़ाने में सरकारी क्षेत्र पर बहुत अधिक विश्वास है। २८ मई, १९५५ को केन्द्रीय सरकार ने लोहे और इस्पात के लिये एक मंत्रालय की नियुक्ति की जिस पर लोहे और इस्पात के उत्पादन सम्बन्धी सरकारी कार्यों का तथा सरकारी फाउन्ड्रीयों की देखभाल का भार रखा गया। कुछ लोगों के मत में यह अधिक अच्छा होता यदि इस्पात के उत्पादन में वृद्धि करने का भार मुख्य रूप से वर्तमान उत्पादकों के ऊपर ही छोड़ दिया गया होता क्योंकि उन्हें इस बात का आवश्यक अनुभव था और सम्भवतः वे अधिक शीघ्रता से और कम लागत पर उत्पादन की वृद्धि करने में सफल भी हुये होते।

सीमेन्ट उद्योग

सीमेन्ट के उत्पादन में भारत ने उल्लेखनीय प्रगति की है। १९४८ में केवल १५ लाख टन का उत्पादन था जो १९५७ में बढ़ कर ५६ लाख टन हो गया। १९५२ में भारत में केवल २३ फेक्ट्रियाँ थीं, जिनकी उत्पादन शक्ति ३७ ६ लाख टन थी। १९५७ में २९ फैक्ट्रियाँ थी जिनकी स्थापित सामर्थ्य ६६ ३ लाख टन थीं। भारतीय सीमेन्ट उद्योग की वास्तविक उत्पादन शक्ति में नई फेक्ट्रियों की स्थापना तथा पूर्व की फैक्ट्रियों के विस्तार के कारण वृद्धि हुई है। सीमेन्ट उद्योग को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, (१) भूतकाल में उत्पादन की मात्रा उनकी वास्तविक उत्पादन शक्ति से बहुत कम थी और १९५० में जब कि वास्तविक उत्पादन शक्ति ३१ २ लाख टन थी उस समय उत्पादन केवल २६ १ लाख टन था। परन्तु इधर हाल में इस दोष का किसी सीमा तक निराकरण कर दिया गया है, (२) बहुत फक्ट्रियाँ अनुकूलतम उत्पादन शक्ति से बहुत नीचे स्तर पर हैं, नवीन फैक्ट्रियाँ उपयुक्त आकार की हैं और श्रेष्ठतम यन्त्रों का प्रयोग कर रही हैं। (३) सीमेन्ट उद्योग को आवश्यक संख्या में मालगाड़ी के डिब्बे नहीं प्राप्त होते जिनसे कच्चा माल लाया जा सके और तैयार सीमेन्ट उपभोग केन्द्रों को शीघ्रता पूर्वक भेजा जा सके, और (४) सीमेन्ट का नियन्त्रित मूल्य सब फैक्ट्रियों के

दृष्टिकोण से न्यायोचित नहीं रहा है, क्योंकि अन्य फैक्ट्रियों मे तन्तनायें जो अधिक व्यवस्थित थीं कुछ फैक्ट्रियों का उत्पादन व्यय अधिक रहा है ।

इधर हाल में स्थिति में घोर परिवर्तन हुआ है। सीमेन्ट दुर्लभ ही नहीं वरन् बहुत महगा भी हो गया है। इस बात को विचाराधीन करते हुये सरकार ने सीमेन्ट का क्रय विक्रय अपने हाथों मे ले लिया है और उसके लिये एक विक्रय मूल्य १ जुलाई १९५६ से लागू कर दिया है। सब सीमेन्ट के उत्पादकों को अब अपना सीमेन्ट स्टेट ट्रेडिङ्ग कारपोरेशन आफ इन्डिया (प्राइवेट लि०) के हाथ फैक्ट्री के बाहर उपभोग केन्द्रों तक पहुँचाने मे लगे रेलवे के किराये के आधार पर नियत मूल्य पर बेचना होगा। यह कारपोरेशन सीमेन्ट १०२ रु० ८ आने प्रति टन के मूल्य पर बेचता है। मई १९५७ मे सीमेन्ट पर लगा उत्पादन कर ५ रु० प्रति टन से बढाकर २० रु० प्रति टन कर दिया गया। सीमेन्ट का मूल्य भी इतना ही बढ गया।

देश के विभाजन के फलस्वरूप कुछ सीमेन्ट की फैक्ट्रियाँ पाकिस्तान में चली गई। यही कारण था कि १९४७ में उत्पादन घट कर १५ लाख टन हो गया जब कि १९४५ मे २२ लाख टन था। परन्तु देश ने बहुत शीघ्र ही विभाजन के प्रभावों से मुक्ति पा ली और उत्पादन में वृद्धि आरम्भ हो गई जो आज तक निरन्तर चल रही है। युद्धोत्तर काल में सीमेन्ट उद्योग की विकास सम्बन्धी उल्लेखनीय विशेषताएँ यह हैं, (१) १९३६ मे सीमेन्ट उद्योग प्राय मध्य प्रदेश और मध्य भारत मे ही केन्द्रित था। परन्तु एसोशियेटेड सीमेन्ट कम्पनी द्वारा युक्तिकरण की योजना के लागू किये जाने के फलस्वरूप कुछ फैक्ट्रियों को नये स्थानों पर स्थापित किया गया। युद्धोत्तर काल मे इस उद्योग का विकास अधिक सन्तुलित ढग पर हुआ और नवीन स्थानो पर कारखाने स्थापित हुये। इसका परिणाम यह हुआ कि सीमेन्ट के कारखाने सम्पूर्ण देश मे फैले हैं। इससे देश के विभिन्न भागों मे प्राप्त होने वाले कच्चे माल का भी उचित प्रयोग सम्भव हो गया है। साथ ही यातायात में बहुत सा व्यर्थ व्यय जो उद्योग के किसी एक स्थान पर केन्द्रित होने के कारण करना पड़ता वह भी बच गया। (२) भूत काल मे सिमेन्ट उद्योग व्यक्तिगत उपक्रम था, परन्तु अब सरकार ने भी इस उपक्रम मे भाग लेना आरम्भ कर दिया। मैसूर राज्य की फैक्ट्री के अतिरिक्त, जिसकी उत्पादन शक्ति ३६ हजार टन से बढा कर ६० हजार टन कर दी जायगी, उत्तर प्रदेश की राजकीय फैक्ट्री पिपरी में स्थापित की है जिसकी उत्पादन शक्ति २½ लाख की है। (३) भूतकाल मे अधिकाँश कारखाने ८००० टन ही के अनार्थिक से भी कम उत्पादन वाले थे। परन्तु हाल मे जो कारखाने स्थापित किये गये हैं वे आर्थिक

दृष्टि से उपयुक्त हैं और प्राय सभी कम मात्रा में उत्पादन करने वाले कारखानों ने अपनी उत्पादन शक्ति में वृद्धि की है।

सीमेन्ट की आन्तरिक माँग उसकी पूर्ति से अधिक होगई। देश में उत्पादन की वृद्धि के अलावा १९५६ के प्रारभ में यह निश्चय किया गया कि उस वर्ष विदेशों से ७ लाख टन सीमेन्ट का आयात किया जाय। राज्य-व्यापार निगम (State Trading Corporation) ने इस मात्रा के आयात के लिये दृढ व्यवस्था कर रखी थी किन्तु बीच में स्वेज का सकट उपस्थित हो जाने पर १९५६ मे केवल १०८,००० टन सीमेन्ट ही आ सका। १९५७ में ३२१,००० टन सीमेन्ट और आया। १९५८ में आयात और कम होगा। इसका कारण विदेशी विनियम का सकट तथा देश में उत्पादन का तीव्रता से बढना है।

योजना के अन्तर्गत—प्रथम योजना में यह प्रस्ताव किया गया था कि सिमेंट के कारखानों की सख्या १९५०-५१ में २१ से बढाकर १९५५-५६ में २७ कर दी जाय। साथ ही इनकी ३३ लाख टन की उत्पादन शक्ति तथा २७ लाख टन उत्पादन बढाकर १९५५ ५६ में क्रमश ५३ लाख टन और ४८ लाख टन कर दिया जाय। मध्य प्रदेश, मध्यभारत और ट्रावनकोर कोचीन में सिमेंट के कारखानों की अनुगणित शक्ति में वृद्धि का कोई नियोजन नहीं किया गया। उत्तर प्रदेश, उड़ीसा और बम्बई में नवीन कारखाने खोले जाने वाले थे। बिहार, राजस्थान और मद्रास के कारखानों की शक्ति में वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक था जो पूर्व के कारखानो में अतिरिक्त नवीन मशीनों के प्रयोग से ही सम्भव था। इस कार्य के करने में प्रधान कठिनाई धन के अभाव की थी। कारखानों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करने और उन्हें १½ लाख टन प्रति वर्ष उत्पादन करने योग्य बनाने के लिए बहुत अधिक मात्रा में धन की आवश्यकता है। उत्तर प्रदेश की सिमेंट फेक्ट्री की स्थापना में, जो कि मिर्जापुर जिले में चुर्क में है, ४½ करोड रुपये की लागत लगी थी। उसकी उत्पादन शक्ति २ ५२ लाख टन प्रतिवर्ष की है। यद्यपि उत्तर प्रदेश की फैक्ट्री का कुल व्यय सरकारी कर्मचारियों की अनुभवहीनता के कारण बहुत अधिक हो गया है, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि भारत की वह सर्वोच्चम फैक्ट्रियों में से एक है।

प्रथम योजना में अनुगणित उत्पादन शक्ति तथा वास्तविक उत्पादन के लक्ष्य पूर्ण नहीं हो पाये थे, परन्तु काफी हद तक सफलता अवश्य मिली थी। १९५५-५६ में सीमेंट की उत्पादन शक्ति और उत्पादन क्रमश ४७ ४ लाख टन और ४४ लाख टन थी जबकि प्रथम योजना में क्रमशः ५३ लाख टन और ४८ लाख टन का लक्ष्य था। देश के औद्योगीकरण मे उन्नति हो जाने पर सीमेंट

की माँग में वृद्धि होगी। इसलिये द्वितीय योजना ने १९६०-६१ तक उत्पादन शक्ति को १६० लाख टन तक (जिसमें से ५ लाख टन सरकारी क्षेत्र में बढ़ेगा) और वास्तविक उत्पादन को १३० लाख टन बढ़ाने का लक्ष्य बनाया है। अब तक भारत सरकार द्वारा ५४ स्कीम जिनमें २५ नई हैं तथा २९ वर्तमान उत्पादन इकाइयों के विस्तार से सम्बन्धित हैं, मंजूर की गई हैं। यह स्कीम प्रगति के विभिन्न स्तरों पर हैं। इनमें से १५ स्कीम (४ नई तथा ११ विस्तार सम्बन्धी) जिनकी कुल उत्पादन शक्ति १८ लाख टन है १९५८ के अन्त तक पूरी हो जायगी। १९५९ के अन्त तक ११ और स्कीम पूरी हो जाँयगी तथा आशा की जाती है कि इस समय तक कुल उत्पादन शक्ति १०४ लाख टन हो जायगा। शेष स्कीम १९६० ६१ तक पूरी होगी।

कागज उद्योग

वर्तमान समय में भारत में कागज की १९ मिलें हैं जिनकी स्थापित उत्पादन शक्ति २५०,००० टन है। कागज उद्योग को १९२५ से १९४७ तक संरक्षण दिया गया था। इस उद्योग ने निःसन्देह उल्लेखनीय प्रगति की। १९५२ में भारत में केवल ६ मिलें थीं जिनकी उत्पादन-शक्ति २७ हज़ार टन थी। १९५६ में २१ मिलें थी तथा उनकी उत्पादन शक्ति २११,६०० टन थी। १९५७ में मिलों की संख्या घटकर १९ होगई क्योंकि उत्पादन की दो इकाइयाँ जो बन्द सी ही थीं सूची में से हटा दी गईं। किन्तु विस्तार की योजनाओं के पूरी हो जाने के कारण उद्योग की स्थापित उत्पादन शक्ति बढ़कर २½ लाख टन हो गई है। कागज उद्योग की तीन श्रेणियाँ हैं (१) कागज और पट्ठा, (२) अखबारी कागज की सूखी दफ्ती तथा अन्य प्रकार की दफ्तियाँ। कागज तथा पट्ठे के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। सूखी दफ्तियों तथा अन्य प्रकार की दफ्तियों के उत्पादन में विशेष प्रगति हुई है। परन्तु देश में अखबारी कागज का बहुत अभाव है। भविष्य में कागज़ उद्योग का विकास करते समय अखबारी कागज़ के उत्पादन में वृद्धि करने की समस्या पर विशेष ध्यान देना पड़ेगा। युद्ध के उत्तर काल में (अ) यह उद्योग नवीन स्थानों पर भी आरम्भ हो गया है और अधिकांश प्रदेशों में आज कागज़ बनाने वाली मिल हैं, (ब) अब अनेक प्रकार के कागज तथा दफ्तियों का उत्पादन होने लगा है यहाँ तक की डुप्ले और ट्रिप्ले दफ्तियों तथा क्राफ्ट लपेटने के कागज के उत्पादन में तो विशेष प्रगति हुई है।

कागज उद्योग की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उत्पादन शक्ति की बहुत अधिक प्रतिशत मात्रा का उत्पादन हुआ है। १९४८, १९४९ और १९५० में क्रमशः ९७,००० टन, १०३,२०० टन और १०८,९१२ टन का उत्पादन

हुआ था जो कि उत्पादन शक्ति का लगभग ८६%, ६४% और ८३% होता है। १९५७ में २१०,१२५ टन का उत्पादन हुआ जो कि उत्पादन शक्ति का ८३% था। यह सब होते हुये भी कागज उद्योग को श्रमिकों के झगडे तथा पर्याप्त मात्रा में कच्चे माल के न्यायोचित मूल्य पर न मिल सकने की कठिनाइयों का सामना करना पडा है और निम्न स्तर के कोयले का जिसके लिये इन्जनों के बायलर अनुपयुक्त हैं, प्रयोग करना पड़ता है। बाँस और घास के मैदानों के न्यायोचित मूल्य पर दीर्घकालीन पट्टों पर न उठाये जाने के कारण हानि उठानी पडी है। इसके अतिरिक्त जब से रेल विभाग ने अपनी अधिमान्य पद्धति (Preferential System) को माल के यातायात सुविधा के सम्बन्ध में परिवर्तित कर दिया है कागज उद्योग को जो प्रधानता मिलनी थी उसका अन्त हो गया है और अन्य विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के साथ उसे भी यातायात सुविधा पाने में प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इन कठिनाइयों के कारण ही कागज उद्योग की उत्पादन लागत तथा उत्पादन मात्रा कम हो गई है।

कच्चा माल—कागज और पट्टा अथवा दफ्ती उद्योग अपने कच्चे माल के लिये बाँस और सबई घास का उपयोग करता है। इसके अतिरिक्त कुछ कारखाने चिथडे, रद्दी कागज, चीनी की सीठी इत्यादि का उपयोग करते हैं। भारत मे ऐसे कच्चे माल का कुछ अभाव नहीं, परन्तु उद्योग के उपयोग के लिये इनकी पूर्ति का सगठन करने की आवश्यकता है। कागज उद्योग में अनेक रसायनों जैसे चूना, कास्टिक सोडा, सोडा ऐश, क्लोरीन, गधक आदि का भी उपयोग किया जाता है। गधक को छोड़ कर अन्य सब रसायनिक भारत मे ही मिल जाते हैं। कुछ सीमा तक कास्टिक सोडा और सोडा ऐश का विदेशों से आयात करना पड़ता है। मध्य प्रदेश के कागज के कारखाने सबाई की लकडी का प्रयोग करते हैं। परन्तु इसके साथ ही चीड़, देवदार, और एक प्रकार के सरो के वृक्ष की कोमल लकडी का भी उपयोग किया जा सकता है जिसकी भारत में बहुतायत है। यदि मुलायम लकड़ी के वनों का विकास किया जाय, लकड़ी को कारखानों तक पहुँचाने के लिये यातायात की उचित व्यवस्था की जाय और एक कारखाना अखबारी कागज और केमिकल पल्प बनाने के लिये स्थापित किया जाय तो अखबारी कागज उद्योग के लिये आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति को बढा सकना सम्भव है। कच्चे माल की पूर्ति के सम्बन्ध मे योजना आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये थे, (१) कागज उद्योग के काम आने वाले पेडों के वनों की सुरक्षा की जाय और इनका उपयोग कर सकने के लिये उद्योग को दीर्घकालीन पट्टे के अधिकार दिये जाँय (२) बाँस और सबई घास के सारे देश मे एक तर्क सगत आधार पर मूल्य

निर्धारित किये जाँय जिससे उद्योग को कच्चा माल निरंतर प्राप्त हो सके। राज्य
सरकारों के हितों की रक्षा करने के लिये कच्चा माल एक निश्चित मूल्य पर
उद्योगों को दिया जाय और इसके साथ ही उनके तैयार माल की विक्रय मूल्य से
सम्बन्धित प्रव्याजि (premium) की कोई मात्रा लाभांश में से उनसे वसूली
जाय, (३) यातायात की सुविधा के लिये जंगलों में सड़कें बनाई जाँय, और (४)
कपड़ों की कतरन, पटसन और जूट तथा रद्दी कागज का निर्यात बिल्कुल बन्द
कर दिया जाय।

यह खेद की बात है कि वन विकास के संबन्ध में राज्य सरकारों की कोई
सुसम्बद्ध नीति नहीं है और कागज की मिलों को जंगल पट्टे पर देने में बहुत अधिक
मूल्य वसूल करती हैं। रेल परिवहन के भाड़े की दर भी अधिक है। भारत सर-
कार पुराने अखबारों की रद्दी के आयात पर भारी आयात कर वसूल करती है
और अपनी रद्दी का स्टाक बिना किसी बात का ध्यान किये ठेकेदारों को बेच
देती है, जो उसे पैकिंग इत्यादि के लिए बाजार में बेच देते हैं। केन्द्रीय तथा
राज्य सरकारों की नीति में परिवर्तन करने से उद्योगों को कच्चा माल पर्याप्त मात्रा
में दिया जा सकता है।

योजना के अन्तर्गत —विभिन्न कागज की मिलों के प्रसार कार्यक्रम को
लागू करने से यह आशा की जाती है कि प्रथम योजना काल में उद्योग की उत्पा-
दन शक्ति २११,००० टन कागज और दफ्तियाँ और ३०,००० टन अखबारी
कागज की हो जायगी और १९५५-५६ तक २००,०००टन कागज और दफ्तियाँ
और २७,००० टन अखबारी कागज का वास्तविक रूप से उत्पादन हो जायगा।
भूसे इत्यादि से बनने वाली दफ्तियों के उत्पादन सम्बन्ध में अनुमानतः १९५५-५६
तक उद्योग की वार्षिक उत्पादन शक्ति ५८,५०० टन हो जायगी और वास्तविक
उत्पादन ५२,००० टन होगा।

कागज और कागज की दफ्तियों के उद्योग के सम्बन्ध में प्रथम योजना के
लक्ष्य लगभग पूरे हो गये। अखबारी कागज का उत्पादन करने वाली सर्वप्रथम
मिल ने १९५५ में कार्य आरम्भ किया। यद्यपि इसका उत्पादन अभी बहुत कम है
पर आशा की जाती है कि जब यह मिल शक्ति भर उत्पादन करेगी तब ३०,०००
टन अखबारी कागज का उत्पादन सम्भव हो सकेगा। द्वितीय योजना में यह प्रस्ताव
किया गया है कि १९६०-६१ तक स्थापित उत्पादन शक्ति तथा कागज और कागज
की दफ्तियों का वास्तविक उत्पादन बढ़ा कर क्रमशः ४.५ लाख टन और ३.५
लाख टन कर दिया जाय और अखबारी कागज के स्थापित उत्पादन शक्ति तथा
वास्तविक उत्पादन बढ़ाकर ६०,००० टन तक कर दिया जाय। द्वितीय योजना के

उत्पादन लक्ष्य को पूर्ण कर सकने के लिये यह आवश्यक होगा कि (१) कागज उद्योग के कार्य को सरलता से चलाने के लिये देश का आर्थिक वातावरण अनुकूल बनाया जाय, (२) कच्चे माल तथा तैयार माल के यातायात के लिये मालगाडी के डिब्बों की पूर्ति बढाई जाय, और (३) कच्चे माल की पूर्ति बढाई जाय। भारत में चीनी उद्योग के पूर्ण रूप से विकसित अवस्था में होने के कारण गन्ने की सीठी का कागज बनाने के लिए प्रयोग बडे लाभ के साथ किया जा सकता है। १९५५ के अन्त में जर्मनी के विशेषज्ञों का एक दल भारत में इस विषय का परीक्षण करने तथा रिपोर्ट देने के लिये आया था। पश्चिमी जर्मनी की एक फर्म से सीठी पर आधारित १०० टन प्रतिदिन का उत्पादन करने वाली उत्पादन इकाई की स्थापना पर बातचीत चल रही है।

अन्य उद्योगों की भाँति कागज उद्योग के उत्पादन के प्रकार तथा उत्पादन व्यय कम करने के लिये उपाय करना अत्यन्त आवश्यक है। योजना आयोग ने यह अभिस्ताव किया है कि कागज उद्योग को अपने उत्पादन की प्रविधि को आधुनिक बनाना चाहिये जिससे वह निम्न लक्ष्यों को प्राप्त कर सके, (१) ईंधन तथा कच्चे माल के प्रयोग में कमी करके कागज की उत्पादन लागत में कमी, और (२) विभिन्न प्रकार के कागजों, विशेषकर रैपिंग और क्राफ्ट कागज, की प्रकार में उन्नति। यदि यह सुधार सम्भव हो सके तो कागज उद्योग मे स्थायित्व आ जायगा।

अध्याय २०

छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले तथा कुटीर उद्योग

भारत की औद्योगिक व्यवस्था में छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले और कुटीर उद्योगों का स्थान सदा से ही महत्वपूर्ण रहा है। शिल्पकारों की एक बहुत बड़ी संख्या सदैव इन उद्योगों पर ही अपनी जीविका के लिये निर्भर रही है। परन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले तथा कुटीर उद्योगों को भारत में बेकारी की कठिन समस्या को हल करने के साधन के रूप में रख कर इनकी ओर अधिक ध्यान आकर्षित किया है। इसके पूर्व कि द्वितीय योजना के अन्तर्गत इन उद्योगों के विकास कार्यक्रम पर विचार करें यह आवश्यक होगा कि इन उद्योगों की कठिनाइयों का परीक्षण किया जाय।

उद्योगों को प्रायः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है, (१) बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले अथवा बड़े उद्योग, (२) छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले अथवा छोटे उद्योग, (३) कुटीर उद्योग। इन उद्योगों को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है। एक मत के अनुसार कुटीर उद्योग वे उद्योग हैं जो शिल्पियों द्वारा स्वयं अपने आप ही अथवा किसी कारखानेदार के निर्देशन में घर पर ही किये जाते हैं। यदि कार्य छोटे कारखाने में किया जाता है और उसका निर्देशन उद्योगपति द्वारा किया जाता है तो उसे हम छोटा उद्योग कह सकते हैं चाहे शक्ति सञ्चालित मशीनों का प्रयोग न भी किया जाय। एक अन्य मत के अनुसार घरेलू उद्योग वह है "जो अंशतः अथवा पूर्णतः परिवार के ही सदस्यों की सहायता से चलाया जाता है चाहे वे सम्पूर्ण दिन कार्य करें या थोड़ी देर ही नित्य कार्य करें"। श्री चिन्तामणि देशमुख के मतानुसार "घरेलू उद्योग" प्रायः हम उन सब उत्पादन के उपक्रमों को कहते हैं जो बड़े-बड़े व्यवस्थित कारखानों के अतिरिक्त हैं। जो व्यक्ति इन उपक्रमों में लगे हुये हैं मुख्यतः अपने ही प्रयत्न और कौशल पर निर्भर रहते हैं, सीधे-सादे औजारों का प्रयोग करते हैं और अपने घर पर ही कार्य करते हैं। विशिष्ट आवश्यकताओं के कारण इस प्रकार के कुछ उद्योग हाल में आरम्भ हुये हैं। ये उद्योग प्रधानतः परम्परागत हैं और वर्तमान उत्पादन प्रविधि से स्पर्धा करते हुये अपनी रक्षा में प्रयत्नशील हैं। छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले उद्योग "घरेलू तथा ग्राम्य उद्योगों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि उनको सञ्चालित करने वाले उद्योगपति होते हैं जो पारिश्रमिक पर रक्खे हुये श्रमिकों से कार्य लेते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं को विचाराधीन रखते हुये हम यह कह सकते हैं कि घरेलू उद्योग की निम्न विशेषतायें हैं, (१) ऐसे उद्योगों को घर पर ही बिना श्रमिकों की सहायता के स्वय चलाया जाता है, (२) इनमें परम्परागत ढग का ही अनुसरण किया जाता है, और (३) इनका स्वतत्र तथा पूर्ण समय का कार्य होना आवश्यक नहीं हैं, ये कृषि तथा किसी अन्य व्यवसाय के सहायक हो सकते हैं। छोटे उद्योग अथवा थोड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों की मुख्य विशेषता यह है कि ये कार्य करने वालों के घर में नहीं चलाये जा सकते और कार्यकर्त्ता के आवश्यक स्रोत नितान्त सीमित होते हैं। थोड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों के कार्य करने वाले श्रमिकों की सख्या १० से ५० तक सीमित है। हमारे देश में उपर्युक्त दोनों वर्गों में आनेवाले अनेक उद्योग हैं जैसे कर्घा, ऊन, रेशम, गुड, राब, तेल पेरने, ताले बनाने के कार्य इत्यादि। इन उद्योगों में काम में सहायता देने वाले परिवार के सदस्यों और समय पर इनमें कार्य करने वाले उन व्यक्तियों की सख्या को छोड़कर जो कृषि आदि अन्य मुख्य व्यवसाय में सलग्न है, लगभग २० लाख व्यक्ति कार्य करते हैं। इन दोनों प्रकार के उद्योगों का ग्रामों और नगरों दोनों में ही पूर्ण अथवा आंशिक समय के लिये अनुसरण किया जाता है। हैण्डी क्रैफ्ट का उद्योग जैसे बेल-बूटे काढने का कार्य, पीतल का कार्य, रेशम बनाने का कार्य इत्यादि पूर्ण समय के कार्य हैं और इन कार्यों में सलग्न व्यक्तियों ने उत्कृष्ट क्षमता भी प्राप्त कर ली है।

लाभ—(१) घरेलू उद्योग और छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों का सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि वे बहुत बड़ी सख्या में कार्य का अवसर प्रदान करते हैं। कितने व्यक्ति कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों में कार्य करते हैं और वे कितना कितना उत्पादन करते हैं इस सम्बन्ध में ठीक ठीक आँकडे प्राप्त नहीं हैं। राष्ट्रीय आय समिति ने यह अनुमान लगाया था कि १६५०-५१ में छोटे उद्योगों का उत्पादन ६१० करोड़ रुपये का हुआ था और लगभग ११५ लाख व्यक्ति उनमें कार्य करते थे जबकि फैक्ट्रियों में लगभग ३० लाख व्यक्ति कार्य करते थे और उनके कुल उत्पादन का मूल्य लगभग ५५० करोड रुपया था। इन छोटे उद्योगों में कुटीर उद्योग भी सम्मिलित थे पर वे छोटे छोटे कारखाने जो फैक्ट्री एक्ट के अतर्गत आते थे। इनमें सम्मिलित नहीं किये गये थे। समिति ने उन्हें फैक्ट्रियों में सम्मिलित किया था। यदि हम इन छोटे छोटे कारखानों को भी घरेलू और छोटी मात्रा मे उत्पादन करने वाले उद्योगों में सम्मिलित कर लें और हाल में जितने लोग इनमें कार्य कर रहे हैं उनकी बढी हुई सख्या को भी विचाराधीन रख लें तो कुल कार्य करने वालों की सख्या लगभग २०० लाख और

कुल वार्षिक उत्पादन का मूल्य लगभग १२०० करोड़ रुपये के हो जायेगा। पर यह सब गणना अनुमान मात्र है इसलिये विश्वस्त नहीं कही जा सकती। इन आँकड़ों से घरेलू और छोटे उद्योगों के विस्तार और भावी सम्भावना का ही कुछ अनुमान ही मिल सकता है।

(२) कुटीर उद्योग की यह विशेषता है कि इसमें मूल्यवान् मशीनें नहीं लगाई जाती हैं, इसके लिये किसी बड़ी इमारत इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती है इसलिये इसको चलाने में अधिक पूँजी नहीं लगानी पड़ती। भारत में पूँजी का अभाव है और हमें कुछ ऐसे उद्योगों की आवश्यकता है जिनमें पूँजी कम लगे और श्रमिक अधिक।

(३) इसके विपरीत बड़े पैमाने के उद्योग में वैज्ञानिक और टेकनिकल ज्ञान की विशेष आवश्यकता होती है। परन्तु वर्तमान समय में (टेकनिशियन) प्राविधिज्ञों का भारत में अभाव है। कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योगों में यही लाभ है कि इनमें अधिक प्राविधिक (टेकनिकल) ज्ञान और प्रविधिज्ञो की आवश्यकता नहीं होती है।

(४) छोटे पैमाने के और कुटार उद्योग बड़े पैमाने के उद्योगों की तरह किसी विशेष स्थान पर केन्द्रित नहीं हैं बल्कि सम्पूर्ण देश में विस्तृत हैं। इनमें इमारत, सफाई, स्वास्थ्य इत्यादि की समस्या नहीं होती है, जिनका बड़े पैमाने के उद्योगों को सामना करना पड़ता है। इसके साथ ही युद्ध के समय इनके विनाश का भय भी कम रहता है। बड़े पैमाने के और छोटे पैमाने के उद्योगों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय और इनके लाभ-हानियों का विवेचन करते समय हमें उक्त सामाजिक व्यय का भी विचार करना चाहिये।

(५) बड़े पैमाने के उद्योगों की अपेक्षा छोटे पैमाने और कुटीर उद्योगों में रोजगार में अस्थिरता बहुत कम होती है। हमारे देश के ग्रामीण व्यक्तियो का मुख्य उद्यम कृषि करना है और वे सहायक व्यवसाय के रूप में रस्सी बनाने, गुड़ बनाने, कपड़ा बुनने इत्यादि कार्यों को करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि इन सहायक उद्योगों में मंदी आ जाय तो श्रमिक अथवा कारीगर को उतनी अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पडेगा जितना किसी औद्योगिक श्रमिक को मदी के कारण नौकरी छूट जाने पर करना पड़ता है।

कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों से बड़े पैमाने के उद्योगों की अपेक्षा कुछ अधिक लाभ होते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न प्रकार के उद्योगों को कौन सा स्थान देना चाहिए। वित्त आयोग (१६४६-५०) के अनुसार इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातों पर विचार करना आवश्यक है;

(१) उद्योग के प्रकार,

(२) उद्योग में टेकनिकल व्यवस्था,

(३) उद्योग के संगठन के लिए आवश्यक श्रम और पूँजी,

(४) आर्थिक दृष्टि से उत्पादन का किस सीमा तक उचित इकाइयों में विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है केवल व्यक्तिगत व्यय को ही नहीं वरन् सामाजिक व्यय को भी विचाराधीन रखते हुए।

जहाँ तक उद्योग के प्रकार का प्रश्न है उसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है, (१) ऐसे उद्योग जिनमें बड़ी मात्रा में उत्पादन करने से कुछ निश्चित लाभ है और जिनको छोटे पैमाने पर नहीं चलाया जा सकता है, जैसे लोहा और इस्पात उद्योग, सीमेंट, भारी रसायनिक और खदान उद्योग इत्यादि। इन उद्योगों को कुटीर में अथवा छोटे पैमाने पर नहीं चलाया जा सकता है इसलिए इस क्षेत्र में चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता है, (२) ऐसे उद्योग जिनका छोटे पैमाने पर उत्पादन करके कुछ निश्चित लाभ उठाया जा सकता है, जैसे ताला मोमबत्ती, बटन, चप्पल, खाद्यान्न इत्यादि उद्योग। इनमें से कुछ में छोटे पैमाने पर उत्पादन करने में उत्पादन व्यय कम होता है। खाद्यान्न के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जब वस्तुएँ हाथ से तैयार की जाती हैं तो उनमें पौष्टिक तत्व अधिक रहते हैं, (३) ऐसे उद्योग जिन्हें बड़े और छोटे पैमानों पर चलाया जा सकता है। इन उद्योगों के सम्बन्ध में चुनाव का प्रश्न उठता है।

टेकनिकल व्यवस्था के आधार पर उद्योग को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) ऐसे उद्योग जिनमें बड़े पैमाने के उद्योगों और कुटीर तथा छोटी मात्रा के उद्योगों में कोई प्रतियोगिता नहीं है, जैसे मधु मक्खी पालन, गुड़ बनाना तथा अन्य दस्तकारी के कार्य इत्यादि। (२) ऐसे उद्योग जिनमें छोटी मात्रा के और कुटीर उद्योग बड़े पैमाने के उद्योगों के सहायक हैं, इनमें उन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनकी बड़े पैमाने के उद्योगों को अपनी उत्पादन प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिये आवश्यकता होती है। बड़े पैमाने के उद्योग अनेक छोटी छोटी वस्तुओं का उत्पादन स्वयं न कर छोटे उद्योगों के उत्पादन में सहायता देते हैं या उत्पादन की लम्बी प्रक्रिया में कुछ अंशों का उत्पादन छोटे उद्योगों में किया जाता है, और (३) ऐसे उद्योग जिनमें बड़े पैमाने के और छोटे पैमाने के उद्योगों में प्रतियोगिता होती है, जैसे, करघों में बुना कपड़ा, खाण्डसारी चीनी, चमड़े का सामान इत्यादि। प्रथम वर्ग के अंतर्गत आने वाले उद्योगों के सम्बन्ध में कोई समस्या नहीं है परन्तु दूसरे वर्ग के अन्तर्गत छोटे तथा बड़े पैमाने के उद्योगों में परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित करके इनकी किसी भी

समस्या को सुगमता पूर्वक सुलझाया जा सकता है। तीसरे वर्ग के उद्योगों के सम्बन्ध में वास्तविक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

कठिनाइयाँ

कच्चे माल, उत्पादन की प्रविधि, वित्त, विक्रय, कर इत्यादि के सम्बन्ध में कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन उद्योगों को प्रायः उन वस्तुओं की आवश्यकता होती है जिनका बडे उद्योगो में उत्पादन किया जाता है। कर्घा उद्योग पूर्णतया सूती मिल द्वारा उत्पादित सूत पर निर्भर करता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय सूत मिलने में बहुत कठिनाई हुई, क्योंकि जितने सूत का उत्पादन किया जाता था उसका अधिकाँश मिलों की ही आवश्यकता पूर्ति में लग जाता था। उस समय अधिकतर मिलों मे कताई और बुनाई साथ-साथ होती थी। केवल कताई करने वाली मिलो की सख्या बहुत कम है। कर्घा उद्योग को अधिक सूत उपलब्ध कराने के लिए सूत की कताई करने वाली कुछ और मिलो की स्थापना की गई हैं और इनमें उत्पादित सूत का कुछ प्रतिशत कर्घा उद्योग के लिए सुरक्षित रखा जाता है। दलालों के कारण कुटीर उद्योग को आवश्यक कच्चे माल का अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। इस कठिनाई को सहकारी समितियो की स्थापना करके दूर किया जा सकता है।

प्रविधि और प्रणाली—इन उद्योगों में जिस ढग से और जिन साधनों से उत्पादन किया जाता है वह प्राचीन हो चुके हैं और वर्तमान में उनकी उपयोगिता बहुत घट गई है। खोज कार्य करने और कारीगरों के शिक्षण की उपयुक्त व्यवस्था न होने से उत्पादन के प्रकार मे बहुत क्षति हुई हैं। श्रमिकों को उचित शिक्षा देने और उत्पादन के प्रकार में सुधार करने के लिए बहुत थोड़ी ऐसी सस्थाएँ हैं जो अच्छा कार्य कर रही हैं, जैसे अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ, अखिल भारतीय कताई संघ, खादी प्रतिष्ठान और हाल ही में स्थापित खादी और ग्राम उद्योग विकास बोर्ड।

अन्तर्राष्ट्रीय योजना टीम ने, जिसको फोर्ड फाउन्डेशन ने नियुक्त किया था, जिसने छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले तथा कुटीर उद्योगों का अध्ययन करने के लिये तथा उनके पुनरुत्थान के सुझाव देने के लिये भारत का दौरा किया, १६५४ में अपनी रिपोर्ट दी जिसमें उसने यह सिफारिश की कि चार शिल्प कला ज्ञान सम्बन्धी सस्थायें स्थापित की जानी चाहिये जिनकी भौगोलिक स्थिति ऐसी होनी चाहिये कि वे सम्पूर्ण भारत की सेवा कर सकें। भारत सरकार ने यह

सिफारिश स्वीकार करली है। पर खोज का कार्य करेंगी और अपनी खोज के परिणामों को तथा नई उत्पादन विधियों, नये औजारों, और नई प्रविधियों की सूचना उत्पादकों तक पहुँचायेंगी।

कार्य करने वालों को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है जो कि उचित शिक्षा प्रचार तथा प्रत्येक दस्तकारी के लिये स्थानीय परिषद के स्थापित करने से सम्भव हो सकता है।

वित्त व्यवस्था—छोटे उद्योगों और उद्योगपतियों की बड़ी कठिनाइयों में वित्त की कठिनाई प्रमुख है। मशीन और आवश्यक औजार क्रय करने के लिए उसे दीर्घकालीन पूँजी की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही कच्चा माल क्रय करने के लिए और पारिश्रमिक इत्यादि चुकाने के लिए अल्पकालीन पूँजी की आवश्यकता होती है। छोटे उत्पादकों में अधिकतर निर्धन हैं और ऋण के लिए आवश्यक प्रतिभूति नहीं दे पाते। साथ ही ऐसे उत्पादकों की आवश्यकताएँ भी कम होती हैं, इन्हें अधिक धन की आवश्यकता नहीं होती है इसलिए बड़े उद्योगों को वित्तीय सहायता देने वाले व्यवसायी बैंक इनको ऋण इत्यादि देने में कुछ लाभ नहीं समझते। बहुत कम ऐसी संस्थाएँ हैं जिनसे इन उत्पादकों को वित्त की सहायता मिल सकती है। इन्हें अधिकतर ग्रामीण साहूकारों और कारखानादारों पर निर्भर करना पड़ता है। कारखानेदार इस शर्त पर ऋण देते हैं कि उत्पादित माल उनको बेचा जायगा। उत्पादित माल का मूल्य ऋण देते समय निश्चित कर लिया जाता है। इससे उत्पादक को अपने माल का उचित मूल्य नहीं मिल पाता।

अन्तर्राष्ट्रीय योजना टीम ने यह सिफारिश की कि (१) व्यापारिक बैंकों को अपनी शाखाओं को अधिक ऋण देने की अनुमति देकर इन्हें दिये जाने वाले ऋण की मात्रा बढ़ा देना चाहिये, (२) सहकारी बैंकों को इन उद्योगों की वित्त सहायता करने की ओर और अधिक ध्यान देना चाहिये, (३) प्रत्येक प्रदेश में एक राज्यीय वित्त निगम स्थापित किया जाना चाहिये जिसके कोष को इन छोटे उद्योगों की ही सहायता के लिये सुरक्षित कर देना चाहिये, और (४) वास्तविक सम्पत्ति की प्रतिभूति पर ऋण देने की प्रणाली प्रचलित की जानी चाहिये।

व्यक्तिगत क्षेत्र की वित्त सहायता के लिये श्रॉफ कमेटी ने भी रिजर्व बैंक को जून १९५४ में दी हुई अपनी रिपोर्ट में उन छोटे उद्योगों के विषय में विचार किया है जिनकी सम्पत्ति १० हजार रुपये और ५ लाख रुपये के अन्दर है। कमेटी ने कृषि के सहायक उद्योगों को अपनी परीक्षण परिधि के अन्दर सम्मिलित नहीं

किया। चालू पूँजी के सम्बन्ध में कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि इन उद्योगों से सरकार द्वारा क्रय किए गये माल के मूल्य का भुगतान करने में देर नहीं होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि व्यक्तिगत सस्थाओं द्वारा लिखे हुये इकरारनामों की रजिस्ट्री की फीस भी कम कर देनी चाहिये ताकि उनको बैंकों से ऋण लेने में अधिक सुविधा मिले। दीर्घ कालीन पूँजी की आवश्यकताओं के लिये यह सिफारिश की कि प्रादेशिक सरकारों को इन उद्योगों को 'स्टेट एड टु इण्डस्ट्रीज एक्ट' के अन्तर्गत अधिकाधिक सहायता देनी चाहिये। इसलिये इन उद्योगों को अधिक ऋण देने की सुविधा प्रदान करने के लिये यह आवश्यक होगा कि प्रादेशिक बजट में इस पर व्यय करने के लिये अधिक धन का अनुदान किया जाय और ऋण देने की प्रणाली को अधिक सरल बनाया जाय। कमेटी ने यह सुझाव दिया है कि 'प्रादेशिक वित्त कारपोरेशन' को छोटे उद्योगों को ऋण देना चाहिये। इसके साथ ही उसने यह सिफारिश की कि छोटे उद्योगों की सहायतार्थ एक विशिष्ट विकास निगम की भी स्थापना होनी चाहिये जिसकी प्रारम्भिक शेयर पूँजी ५ करोड़ रुपया हो जो कि भारत के रिजर्व बैंक, व्यवसायिक बैंकों, बीमा कम्पनियों, तथा व्यक्तिगत लोगों द्वारा प्राप्त होनी चाहिये।

बाजार—द्वितीय युद्ध के समय और युद्ध के पश्चात् कुछ वर्षों तक बहुत से उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के विक्रय की कोई समस्या नहीं थी क्योंकि माँग पूर्ति से अधिक थी परन्तु फिर भी दलालों के कारण और उत्पादित माल घटिया होने के कारण उत्पादक को अपने परिश्रम का उचित मूल्य नहीं मिलता था। इधर कुछ वर्षों से इन उद्योगों की विक्रय समस्या गम्भीर होती जा रही है। काश्मीर का शाल और बनारस की सिल्क जैसे मूल्यवान सामानों का उपभोग नहीं हो पा रहा है क्योंकि राजाओं तथा जमींदारों की अब पहले जैसी स्थिति नहीं रही। राजाओं की गद्दी और जमींदारी का उन्मूलन हो चुका है। जनता की क्रयशक्ति में कमी होने के कारण माँग घट गई है। समस्या यह है कि बाजार में उत्पादित माल की माँग बढ़ाई जाय और उचित मूल्य वसूला जाय। माँग में वृद्धि तभी की जा सकती है जब या तो निर्यात किया जाय या बड़े उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के बदले इनका उपभोग किया जाय। कुटीर उद्योगों में उत्पादित माल का उपभोग कनाडा, अमरीका, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया और मध्य पूर्वी देशों में बढ़ाया जा सकता है। यह देश पूर्व से ही माल क्रय करते रहे हैं और दस्तकारी की वस्तुओं, कलापूर्ण कपड़ों, लाख तथा खेल के सामान इत्यादि के विषय में पूछताछ करते रहे हैं परन्तु इन देशों को बड़ी मात्रा में एक साथ और नमूने के

अनुरूप माल की आवश्यकता है। उत्पादित माल का बड़ी मात्रा में और ठीक नमूने के अनुरूप निर्यात करने के लिए विक्रय समितियों का विकास करने की आवश्यकता है।

राज्य सरकारें छोटे पैमाने के और कुटीर उद्योगों पर कर कम लगाने की नीति अपनाती हैं। उदाहरणस्वरूप खण्डसारी चीनी पर कारखानों द्वारा उत्पादित चीनी की अपेक्षा कम उत्पादन कर देना पड़ता है। इस समस्या का एक दूसरा पक्ष भी है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह सुझाव दिया गया है कि छोटे पैमाने के और कुटीर उद्योंगो का विकास करने के लिए बड़े पैमाने के उद्योगों पर कर लगाया जाय। कर्धा उद्योग का विकास करने के लिए ६३ करोड़ रुपया एकत्र करने के लिए सूती मिलों में तीन पाई प्रति गज के हिसाब से यह कर लगा भी दिया गया है। बड़े पैमाने के उद्योगो पर पूर्व ही से बहुत कर लगे हुए हैं यदि यह नया कर और लगा दिया गया तो इससे उद्योग के विकास में बाधाए उत्पन्न हो जायेंगी। सभी प्रकार के बड़े, छोटे और कुटीर उद्योगों के विकास का उद्देश्य इस प्रकार की कर-नीति से पूर्ण नहीं हो सकता है।

छोटे और कुटीर उद्योगों के सामने विद्युत और यातायात के अभाव की भी समस्या है। इनकी स्थिति सुधारने के लिए सस्ती विद्युत और सस्ते यातायात की सुविधा देना आवश्यक है।

कार्वे कमेटी रिपोर्ट—योजना आयोग ने कार्वे कमेटी, अथवा ग्राम्य उद्योग और छोटे उद्योग कमेटी, की नियुक्ति जून १९५५ में इन उद्योगों की समस्याओं का परीक्षण करने और एक ऐसी योजना प्रस्तुत करने के लिए की जिससे (१) द्वितीय योजना काल में उपभोग की वस्तुओं की बढ़ी हुई मांग का अधिकाश इन्हीं उद्योगों से पूर्ण किया जा सके, (२) उनसे उत्तरोत्तर कार्य करने के अधिक अवसर प्राप्त हो सकें और (३) उत्पादन और विनिमय की व्यवस्था सहकारिता के आधार पर व्यवस्थित हो सके।

कमेटी को यह स्पष्ट हो गया था कि ग्राम्य तथा छोटे उद्योगों की उपेक्षा बहुत दिनों से होती आ रही है। प्रथम योजना में जो उनके प्रति ध्यान दिया गया था वह पर्याप्त न था। प्रथम योजना के परिणामस्वरूप इन उद्योगों के विकास के लिये छः विशिष्ट बोर्डों की स्थापना है। इन बोर्डों ने १९५१-५२ में १४ ३२ लाख रुपया व्यय किया था जो कि १९५४-५५ में बढ़कर ९ ७३ करोड़ रुपया हो गया और १९५५-५६ में १५·४२ करोड़ रुपया, परन्तु यह भी अपर्याप्त सिद्ध हुआ। कमिटी ने २६० करोड़ रुपये के विनियोग की सलाह दी अर्थात् द्वितीय योजना काल में प्रति वर्ष ५२ करोड़ रुपया व्यय किया जाय।

कार्वे कमेटी ने उन छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले और कुटीर उद्योगों के विकास की सिफारिश की थी जो नित्यकार्य में आने वाली वस्तुओं का उत्पादन करते थे जैसे सूती कपड़े, ऊनी कपड़े, हाथ के कुटे चावल, वनस्पति तेल, गुड़ और खण्डसारी, चमड़े के जूते और दियासलाई इत्यादि। साथ ही रेशम के कीड़े पालना, रेशम बुनना, हथकर्घा उद्योगों की नारियल की जटा का कातना और बुनना, आदि उद्योगों की ओर कमेटी ने अपना ध्यान दिया। कमेटी द्वारा द्वितीय योजना के अन्तर्गत प्रस्तावित कुल २६० करोड़ रुपए के व्यय से आशा की जाती है कि अधिक समय के लिये, थोड़े समय के लिये, पूर्ण समय के लिये और वर्ष के विशेष महीनों के लिये यह उद्योग ५० लाख व्यक्तियों को कार्य करने का अवसर प्रदान करेंगे। कपड़े के उद्योगों को कमेटी ने सब से अधिक महत्त्व दी है। इनमें विकेन्द्रित सूत कातने और बिनने का काम भी सम्मिलित है। इस उद्योग पर लगभग कुल व्यय का ८४% अर्थात् ११३ करोड़ रुपया व्यय किया जायगा। आशा की जाती है कि यह उद्योग लगभग ३० लाख व्यक्तियों को कार्य प्रदान कर सकेगा।

कमेटी ने तीन मुख्य ध्येय अपने समक्ष रक्खे थे। (१) द्वितीय योजना काल में यथासम्भव औद्योगिक बेरोज़गारी में वृद्धि न होने देना जो कि प्रायः परम्परागत ग्राम्य उद्योगों में हुआ करती है; (२) अधिक से अधिक संख्या में लोगों को योजना काल में ग्राम्य और छोटे उद्योगों द्वारा कार्य करने का अवसर प्रदान करना, और (३) विकेन्द्रित समाज की स्थापना के लिये एक आधार प्रदान करना तथा वृद्धि-मान गति से आर्थिक विकास करने की सुविधा देना। कमेटी ने समृद्धि का जो काल्पनिक चित्र अपने मन में रक्खा था उसको प्राप्त कर लेने के विचार से निम्न सुझाव दिये हैं—

(१) प्रादेशिक सरकारों को सहकारी समितियों को धन तथा प्रत्याभूति द्वारा सहायता देनी चाहिये जिससे वे ग्राम्य और छोटे उद्योगों की अधिक सहायता कर सकें। कमेटी ने रिज़र्व बैंक और स्टेट बैंक आफ इण्डिया को ग्राम्य और छोटे उद्योगों की सहायता देने के अनेक ढंगों का सुझाव दिया। उसने यह भी सिफा-रिश की कि जब तक इन उद्योगों के लिये एक नई सपूरित संस्थागत ऋण की व्यवस्था न हो जाय तब तक अखिल भारतीय बोर्डों, प्रादेशिक वित्तीय निगमों तथा राजकीय विभागों को आवश्यक सहायता देते रहना चाहिये।

(२) प्रादेशिक सरकारों द्वारा दिये हुये अनुदानों का ग्राम्य और छोटे उद्योगों की सहायता करने के स्थान पर कमेटी ने यह अधिक अच्छा समझा कि सरकार द्वारा सहकारिता के आधार पर उत्पादित कुछ वस्तुओं का निम्नतम

मूल्य निश्चित कर दिया जाय जिस पर वे बेची जांय। मूल्य से कम पर बेचने में जो घाटा हो उसे राज्य को पूरा करना चाहिये।

(३) ग्राम्य और छोटे उद्योगों को विस्तार का अवसर प्रदान करने के विचार से कमेटी ने यह विचित्र सुझाव दिया कि फैक्ट्री उद्योगों के अधिकतम उत्पादन की मात्रा नियत कर देनी चाहिये और जितनी भी माँग इसके उपरान्त बढ़े उसे पूर्णत. अथवा अशत ग्राम्य उद्योगों से पूर्ण करना चाहिये।

(४) सभी फैक्ट्री उद्योगों के सम्बन्ध में कमेटी ने एक उपकर आरोपित करने की सिफारिश की जिसका प्रयोग ग्राम्य और छोटे उद्योगों के विकास और उत्पत्ति के लिये किया जाय।

(५) कमेटी ने सुझाव दिया कि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में एक पृथक मंत्री ग्राम्य और छोटे उद्योगों के लिये नियुक्त किया जाना चाहिये। इस मंत्री को सहयोग देने के लिये मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की एक कमेटी होनी चाहिये जिसका काम भारत सरकार की औद्योगिक नीति में सामजस्य स्थापित करना होगा।

समालोचना—कार्वे कमेटी की सिफारिशों में निम्न गंभीर दोष हैं।

(अ) कमेटी ने ग्राम्य और छोटे उद्योगों का आधुनिकीकरण तथा अभिनवीकरण तभी करने की सिफारिश की है जब कि उससे बेकारी न बढ़े परन्तु यह असम्भव है।

(ब) मिल उद्योगों के उत्पादन की अधिकतम सीमा निर्धारित करने का अर्थ यह है कि ग्राम्य और छोटे उद्योग उपयोग की वस्तुओं की बढ़ी हुई माँग को पूर्ण करने में समर्थ होंगे, जो कि जनसख्या के बढ़ने तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि के कारण होगी'। जिन व्यक्तियों को ग्राम्य और छोटे उद्योगों का ज्ञान है वे यह अच्छी प्रकार जानते हैं कि असम्भव है।

(स) कार्वे कमेटी का अन्तर्हित विचार यह है कि ग्राम्य और छोटे उद्योगों की मिल उद्योगों की स्पर्धा से रक्षा होनी चाहिये और उनको अपने माल को बेचने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। परन्तु इस सम्बन्ध में केवल देश के मिल उद्योग का ही विचार नहीं करना है वरन् विदेशी मिले भी स्पर्धा करेंगी।

(द) कमेटी की इस सिफारिश के फलस्वरूप कि राज्य सहकारिता के सिद्धान्त पर उत्पादित वस्तुओं के क्रय और विक्रय मूल्य का अन्तर सहन करे और एक नया मन्त्रालय स्थापित करे, भारत में राज्यों का व्यय बढ़ जायगा। केन्द्रीय तथा प्रादेशिक राज्यों के इतने बड़े व्यय तथा आय स्रोतों को देखते हुये इस सुझाव को व्यवहारिक नहीं माना जा सकता।

योजना के अन्तर्गत—यह बड़े सौभाग्य की बात है कि योजना आयोग

और सरकार ने कार्वे कमेटी की सब सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया विवाद ग्रस्त प्रश्न मिल उद्योगों के उत्पादन की अधिकतम मात्रा नियत करने का था, उस पर अभी निर्णय नहीं किया गया है। यह बडे दुर्भाग्य की बात है कि उपकर कुछ उद्योगों पर तो लगा ही दिया गया है और अन्य पर लगाये जाने की सम्भावना है। परन्तु अभी तक तो कार्वे कमेटी की शिफारिशे उस सीमा तक स्वीकार नहीं की गई हैं कि भारतीय आर्थिक व्यवस्था को असाध्य हानि पहुँच जाय।

प्रथम पचवर्षीय योजना मे दस उद्योगों के लिये एक योजना निर्माण की गई थी—ग्राम्य तेल उद्योग, नीम के तेल का साबुन बनाना, धान कूटना, खजूर का गुड़ बनाना, गुड़ और खण्डसारी उद्योग, चमड़े का उद्योग, ऊन के कम्बल बनाना, हाथ से अच्छे प्रकार का कागज बनाना, शहद की मक्खी पालना और कुटीर दियासलाई उद्योग। यह योजना इस विश्वास पर निर्माण की गई थी कि इन उद्योगों के विकास कार्यक्रम पर केन्द्रीय सरकार १५ करोड़ रुपया और प्रादेशिक सरकारें १२ करोड़ रुपया व्यय करेगी। प्रथम योजना काल मे जो धनराशि वास्तव में इन उद्योगों पर व्यय की गई है वह ३१ २ करोड रुपये है। इसमें से हथकर्घा उद्योग पर ११.१ करोड़ रुपये, खादी पर ८.४ करोड रुपये, ग्राम्य उद्योगों पर ४.१ करोड़ रुपये और छोटे उद्योगो पर ५.२ करोड़ रुपये व्यय हुये।

दो बडे महत्वपूर्ण कार्य प्रथम योजना काल में किये गये। उनमें से एक तो केन्द्रीय सरकार द्वारा ग्राम्य और छोटे उद्योगो के विकास के लिए एक बड़ी मात्रा में धनराशि का अलग निकाल देना था और दूसरा विभिन्न उद्योगों के लिये अखिल भारतीय बोर्डों की स्थापना था। केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों द्वारा विशेष ध्यान देने के कारण, तथा अखिल भारतीय बोर्डो की कार्य परिधि के विस्तृत हो जाने के कारण, अनेकों उद्योगों का उत्पादन तथा उनमें कार्य करने वालों की सख्या मे वृद्धि हुई है।

तीसरी महत्वपूर्ण बात सरकार द्वारा स्टोर्स परचेज कमेटी की उन सिफारिशों की स्वीकृति है जो स्टोर्स की कुछ प्रकार की वस्तुओ का केवल ग्राम्य और उद्योगों से ही खरीदा जाना अनिवार्य करते है, और बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगो की तुलना मे उन वस्तुओ के मूल्य के अन्तर को ग्राम्य उद्योगों को देने के लिये बाध्य करते हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना मे प्रथम योजना की अपेक्षा छोटे उद्योगो पर अधिक धन मुख्यतः इसलिये व्यय किया जायगा कि उससे भारत में बेकारी की समस्या हल होगी। कार्वे कमेटी की २६० करोड रुपया व्यय किये जाने की

सिफारिश के विपरीत द्वितीय योजना ने केवल २०० करोड़ रुपयों के व्यय की व्यवस्था की है। आशा यह की जाती है कि जब प्रादेशिक योजनाओं का पुनर्परीक्षण होगा तो यह धनराशि अवश्य बढ़ जायगी।

२०० करोड़ रुपया के विनियोग में से केन्द्रीय सरकार २५ करोड़ रुपये व्यय करेगी और प्रादेशिक सरकार १७५ करोड़ रुपया व्यय करेंगी। योजना में ग्राम्य और छोटे उद्योगों के लिये निश्चित किये हुए २०० करोड़ रुपयों के अतिरिक्त ११ करोड़ रुपया कुटीर और मध्यवर्ती उद्योगों के विकास के लिये और औद्योगिक ऋण के लिये, और ७ करोड़ रुपया विभिन्न लोगों के पुनर्वास के कार्यक्रम के अन्तर्गत औद्योगिक तथा व्यवसायिक शिक्षा के लिये निश्चित किया गया है। सामुदायिक विकास क्षेत्रों के बजट में ऐसे उद्योगों के लिये प्रत्येक क्षेत्र में १½ लाख रुपये के व्यय किये जाने की व्यवस्था की गई है। पिछड़ी जातियों की सुख सुविधा के लिये बनाये कार्य-क्रम में भी कुछ चुने हुये उद्योगों से सम्बन्धित व्यवसायिक और औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के पहले दो वर्षों में छोटे पैमाने के उद्योगों तथा कुटीर उद्योगों में कुछ प्रगति हुई है। इन पर ५६ करोड़ रुपया व्यय हो चुका है और आशा की जाती है कि तीसरे वर्ष की समाप्ति तक यह ६१ करोड़ रुपया हो जायगा। इस व्यय का ४० प्रतिशत खादी और ग्रामोद्योगों के लिये, २५% से कुछ अधिक छोटे पैमाने के उद्योग तथा औद्योगिक बस्तियों (Industrial estates) के लिये तथा २०% के लगभग हाथ के करघे तथा शक्तिचालित करघों के लिये था। पहली दो योजनाओं में की गई व्यवस्था राज्य तथा केन्द्र की अनुमानित व्यय-क्षमता पर आधारित थी। १९५८-५९ एक अन्य कारण भी महत्त्वपूर्ण हो गया। केन्द्र और राज्यों के पास योजनाओं को लागू करने के लिये धनराशि सीमित थी।

६२ औद्योगिक बस्तियों में से, ११ पहले दो वर्षों में पूरी हो गई तथा अन्य १९ के १९५८-५९ तक पूरी होने की आशा है। १९५७-५८ के अन्त तक छोटे उद्योगों का प्राविधिक तथा विक्रय सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करने के लिये, ४ प्रादेशिक लघु उद्योग सेवा संस्थान (Small Industries Services Institutes), १½ बड़े संस्थान, २ उप संस्थान तथा २७ प्रसार-केन्द्र स्थापित किये जा चुके थे। १९५८-५९ के एक और प्रादेशिक लघु उद्योग संस्थान तथा ३३ प्रसार केन्द्र स्थापित किये जायेंगे।

१९५६-५७ में हथकर्घे का उत्पादन १६००० लाख गज था जो १९५५-५६ के उत्पादन से १३०० लाख गज अधिक था। १९५७-५८ में अनुमानित उत्पादन

१६५००लाख गज था। अब तक की प्रगति लक्ष्य से कहीं कम है। १९५७ के अन्त तक अम्बर सूत से उत्पादित कपड़ा ७० लाख गज था। ऐसा प्रतीत होता है कि १५०० लाख गज का संशोधित लक्ष्य योजना काल के अन्त तक पूरा नहीं होगा। पुरानी ढंग की खादी का उत्पादन ३५० लाख गज के आधार भूत उत्पादन से ५० लाख गज प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ रहा है। खादी उत्पादन के लिये कई निश्चित लक्ष्य नहीं रखा गया था। शक्तिचालित करघों की स्थापना के सम्बन्ध में प्राप्त लक्ष्य भी अब तक नगण्य हैं।

अध्याय २१

औद्योगिक उत्पादन और नियोजन

प्रथम पञ्चवर्षीय योजना मे राजकीय तथा निजी उद्योग क्षेत्र में औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करने की व्यवस्था की गई थी। अतर केवल इतना था कि राजकीय उद्योग क्षेत्र में उत्पादन मे वृद्धि करने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सरकार ने अपने ऊपर ले लिया था परन्तु निजी उद्योगों के सम्बन्ध में उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित कर दिये गये थे। यह आशा प्रकट की गई थी कि निजी उद्योग योजना की अवधि समाप्त होने तक इन लक्ष्यों तक पहुँच जायेंगे। पुर्नपरीक्षित योजना को कार्यान्वित करने के लिये निर्धारित २३५६ करोड़ रुपयों में से १७६ करोड़ रुपया अर्थात् कुल व्यय का ७.६% उद्योगों और खान खोदने पर व्यय करना था जिसमें से बडे और मध्यम श्रेणी के उद्योगों पर १४८ करोड़ रुपया, खानों के सुधार पर १ करोड़ रुपया और छोटे उद्योगों पर ३० करोड़ रुपया व्यय करना था। इञ्जन बनाने के चितरजन कारखाने और रेल के लिये इस्पात की कोच बनाने के कारखाने में जो कुछ धनराशि लगाई गई वह रेलवे विकास योजन का एक अग थी। इस प्रकार आधार भूत उद्योगों और यातायात के लिये निर्धारित ५० करोड़ की धनराशि पृथक करके सम्पूर्ण राजकीय विकास कार्य क्रम मे ५ वर्ष के अन्दर ६४ करोड़ रुपया निर्धारित किया गया। राजकीय औद्योगिक क्षेत्र मे जो रुपया लगाया गया उससे लोहे तथा इस्पात के नये कारखाने, इञ्जन बनाने के चितरञ्जन कारखाने, मैसूर में मशीन औजार बनाने के कारखाने, सिन्द्री के रसायनिक खाद के कारखानों और पेनिसिलिन, डी० डी० टी०, यन्त्र, टेलीफोन इत्यादि बनाने के कारखाने की विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित किया गया। जितने उद्योगों की सरकार सरलता से व्यवस्था कर सकती थी उन पर अधिकार कर लिया गया और शेष निजी क्षेत्र के लिये छोड़ दिये गये। इस मिश्रित अर्थ व्यवस्था से यह लाभ है कि राजकीय उद्योग क्षेत्र का उस सीमा तक प्रसार किया जा सकता है जितना व्यवहारिकता दृष्टि से सम्भव है और निजी उद्योग को अपने साधनों, कुशलता एवम् अनुभव के द्वारा देश का औद्योगिक विकास करने का अवसर मिलता है।

योजना आयोग ने अनुमान लगाया था कि योजना में उत्पादन के निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने के लिये निजी उद्योग क्षेत्र में पाँच वर्ष के अन्दर कुल २३३ करोड़ रुपया लगाना पडेगा। यदि इसमें मशीनों को परिवर्तन तथा उद्योग

का आधुनिकीकरण करने के लिये १५० करोड़ और चालू पूँजी के लिये ३२४ करोड़ की धनराशि सम्मिलित कर दी जाय तो पाँच वर्ष में निजी उद्योग क्षेत्र में कुल ७०७ करोड़ रुपया लगाया जायगा। भारतीय उद्योगपतियों ने इस योजना की आलोचना की। उनका कहना था कि (अ) उद्योग के आधुनिकीकरण के लिये १५० करोड़ रुपया अपर्याप्त है क्योंकि अधिकाश उद्योगों की मशीनें प्राय व्यर्थ हो गई हैं। योजना में निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के लिये आवश्यक मशीनों का प्रबन्ध करने में इससे कहीं अधिक रुपयों की आवश्यकता होगी, (ब) सरकार ने केवल आवश्यक धन की मात्रा बता दी है, परन्तु उसकी प्राप्ति की व्यवस्था नहीं की है। उद्योगों के पास ऐसे साधन नहीं हैं जिनसे यह कार्य किये जा सकें, भारतीय पूँजी बाजार की ऐसी स्थिति नहीं है कि इतना धन प्राप्त किया जा सके और विदेशी पूँजी भी प्राय. उपलब्ध नहीं है। इन सब बातों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि निजी उद्योगों का योजना में निर्धारित उत्पादन के लक्ष्यों को पूरा कर सकना सम्भव नहीं है।

योजना में उद्योगों को जिस क्रम से प्राथमिकता दी गई थी उससे स्पष्ट है कि आधारभूत एवम् प्रमुख उद्योगों के साथ ही ऐसे उद्योगों को अधिक महत्व दिया गया जिनका अपेक्षाकृत बहुत कम विकास हुआ था। यदि राजकीय तथा निजी उद्योग क्षेत्रों को एक साथ मिला कर देखा जाय तो यह ज्ञात होगा कि कुल व्यय का २६ प्रतिशत धातु शोधन उद्योगों के लिये, २० प्रतिशत पेट्रोल शोधशालाओं के लिये, १६ प्रतिशत इंजीनियरिंग उद्योगों के लिये, ८ प्रतिशत सूती उद्योगों के लिये, ५ प्रतिशत सीमेंट और लगभग ४ प्रतिशत कागज, पट्ठे तथा अखबारी कागज उद्योग के लिये निर्धारित किया गया था। इसका अर्थ यह था कि जिन उद्योगों का अभी विकास नहीं हो पाया था उन पर अधिक व्यय किया जाय। वर्तमान उद्योगों को छोड़ा नहीं गया था बल्कि उनके लिये कम धनराशि निर्धारित की गई थी। ऐसा उचित भी था। देश के सभी उपलब्ध साधनों का अच्छे से अच्छा उपयोग करने के उद्देश्य से ही यह व्यवथा की गई थी। औद्योगिक विकास कार्यक्रम के लिये योजना में निम्नलिखित प्राथमिकता-क्रम दिया गया है।

(१) जूट और प्लाइवुड जैसे उत्पादक वस्तु उद्योग और सूती कपड़े, चीनी, साबुन, वनस्पति, रंग और वार्निश जैसे उपभोग की वस्तुओं के उद्योगों की वर्तमान उत्पादन शक्ति का पूर्ण उपयोग किया जाय।

(२) लोहे तथा इस्पात, एल्यूमीनियम, सीमेंट, रसायनिक खाद, भारी

रसायनिक, मशीनों के औजार इत्यादि उद्योगों की वर्तमान उत्पादन शक्ति को बढ़ाया जाय।

(३) जिस उद्योग को आरम्भ करने के लिए कुछ पूँजी लगा दी गई है उसे पूरा किया जाय।

(४) देश के औद्योगिक ढाँचे को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए अपने साधनों को ध्यान में रखते हुए नये कारखाने स्थापित किये जायँ जैसे जिप्सम से गन्धक का उत्पादन किया जाय।

प्रथम योजना में उद्योगों के तीन वर्ग किये गये थे। (१) जूट ओटोमोबाइलस, मशीन व औजार कपड़े की मशीन तथा चूड़ी के उद्योगों के सम्बन्ध में जिनकी उत्पादन शक्ति प्रर्याप्त थी, इस बात पर महत्व दिया गया कि वे अपना उत्पादन बढ़ाकर अपनी अनुमानित शक्ति के स्तर पर ले आवें जो बदली नहीं जायगी, ढले हुये लोहे, इस्पात, चीनी, सीमेंट, कागज और कागज के पट्टे, दियासलाई तथा कुछ रसायनिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योग जिनके सम्बन्ध मे यह निर्णय किया गया था कि उनकी अनुमानित शक्ति बढ़ाई तो जायगी पर १०० प्रतिशत से कम। इनके अन्तर्गत सीमेंट, सलफ्यूरिक ऐसिड, ढला हुआ लोहा, तैयार इस्पात, कागज और कागज के पट्टे, दियासलाई, स्टोरेज बैटरी और बिजली के पखे बनाने वाले उद्योग भी सम्मिलित कर लिये गये थे, (३) बिजली से चलने वाले पम्पों, डिज़िल इजनों, सीने की मशीन, बाइसिकिलों इत्यादि उद्योगों का जिनकी वास्तविक उत्पादन शक्ति माँग के अनुपात में कम है काफी प्रसार करने की योजना बनाई गई थी। इसी श्रेणी में अन्य उद्योग भी आते हैं जैसे काटन लिन्टर्स, केमिकल पल्प, कुछ दवाइयाँ इत्यादि जिनका भारत में उत्पादन नहीं किया जाता था परन्तु अब इनके उत्पादन की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार पचवर्षीय योजना में देश के औद्योगिक विकास की कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया गया था।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक और खनिज पदार्थों के विकास को प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। वास्तव में द्वितीय योजना औद्योगिक विकास पर केन्द्रित है। द्वितीय योजना में ४८०० करोड़ रुपयों के व्यय में से ८९० करोड़ या १८.५% उद्योगों पर व्यय किया जायगा जब कि प्रथम योजना के कुल २,३५६ करोड़ रुपयो के व्यय में से उद्योग पर १७९ करोड़ रुपये या ७.६% व्यय किया जाना था। द्वितीय योजना प्रथम की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और इसमें व्यय भी बहुत अधिक किया जा रहा है। उद्योगों को अधिक महत्व देने का कारण देश

के आर्थिक विकास को अधिक सतुलित करना, राष्ट्रीय आय में वृद्धि और बेकारी आदि को कम करना है। द्वितीय योजना के अन्तर्गत कार्यक्रम मे प्राथमिकता निम्न प्रकार दी गई है।

(१) लोहे और इस्पात तथा भारी रसायनिक उद्योगों का निर्माण करना जिसमें नाइट्रोजन युक्त खाद और इन्जीनियरिंग तथा मशीनो के निर्माण सम्बन्धी उद्योग सम्मिलित है।

(२) विकास सम्बन्धी वस्तुओं तथा उत्पादन में कार्य आने वाली वस्तुओं, जैसे अलमोनियम, सीमेंट, रसायनिक पल्प, रग, फास्फेट युक्त खाद और अत्यन्त आवश्यक दवाईयाँ आदि की उत्पादन शक्ति में विस्तार करना।

(३) महत्वशाली राष्ट्रीय उद्योग, जो स्थापित हो चुके हैं, जैसे जूट और सूती कपड़े बनाने तथा चीनी उद्योग आदि, उनके प्रसाधनों की वृद्धि और उनका अभिनवीकरण।

(४) उन उद्योगो की उत्पादन शक्ति मे जिनकी उत्पादन शक्ति और वास्तविक उत्पादन मे अन्तर है वृद्धि करना।

(५) साधारण उत्पादन के कार्यक्रमों तथा उद्योगो के विकेन्द्रित अश के उत्पादन लक्ष्य के अनुसार उपभोग की वस्तुओ के उत्पादन में वृद्धि करना।

औद्योगिक विकास के कार्य क्रम के दृष्टिकोण से द्वितीय योजना की अनेकों विशेषतायें हैं :—

(१) इसमें राजकीय क्षेत्र को व्यक्तिगत क्षेत्र से अधिक महत्ता दी गई है। द्वितीय योजना की नवीनता इस बात में है कि राजकीय क्षेत्र में औद्योगिक और खनिज उद्योगों के विकास के कार्यक्रमो को प्रधानता दी गई है। भारत में कृषि, विद्युत शक्ति, यातायात, तथा सामाजिक सेवाओं के विकास के सम्बन्ध में राजकीय उपक्रमों पर निर्भरता आर्थिक योजना की विशेषता है। परन्तु अभी तक तो राजकीय क्षेत्र के अन्तर्गत किये गये विनियोग में उद्योगो और खनिज सम्बन्धी योजनाओं को कोई विशेष स्थान नहीं प्राप्त हुआ था। प्रथम योजना मे राजकीय क्षेत्र में बडे उद्योगों की स्थापना के लिये केवल ९४ करोड़ रुपयों के विनियोग का प्रबन्ध किया गया था, जबकि व्यक्तिगत क्षेत्र मे २३३ करोड़ रुपयों के विनियोग का अनुमान किया गया था। द्वितीय योजना के अन्तर्गत राजकीय क्षेत्र में बडे उद्योगों और खनिज के विकास के लिये (वैज्ञानिक अन्वेषण कार्य पर व्यय सम्मिलित करते हुये) ६९० करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई है जब कि व्यक्तिगत

क्षेत्र में उद्योगो और खानों पर व्यय किये जाने के लिये केवल ५७५ करोड़ रुपयों का ही प्रबन्ध है। व्यक्तिगत क्षेत्र को यद्यपि देश के औद्योगिक विकास में एक बहुत बड़ा भाग लेना है फिर भी यह प्रत्यक्ष है कि राजकीय क्षेत्र की योजनाओं पर व्यक्तिगत क्षेत्र की योजनाओं से अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया गया है।

(२) योजना की दूसरी विशेषता यह है कि मुख्य और आधार उद्योगों का विकास उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों की अपेक्षा अधिक किया जायगा। प्रतिष्ठापित उत्पादन शक्ति के आयोजित विकास तथा प्रस्तावित उत्पादन सम्बन्धी १९६०-६१ के आँकडे यह प्रकट करते हैं कि लोहे और इस्पात, इन्जीनियरिंग तथा रसायनिक उद्योगों के अधिकतम प्रसार का आयोजन किया गया है। भारत में प्रथम बार मशीन निर्माण उद्योग के विकास का आयोजन किया गया है। सूत तथा जूट बिनने की मशीनों के तथा सीमेंट और चीनी बनाने की मशीनों के और छोटे छोटे औजारों के उत्पादन के उद्योग तो भारत में पहिले से ही स्थित हैं, पर उनका बहुत अधिक विस्तार कर दिया जायगा। कागज तथा छपाई उद्योग के उत्पादन का मूल्य १९६०-६१ तक क्रमशः ४ करोड़ रुपये तथा २ करोड़ रुपये तक हो जायगा। वर्तमान समय मे तो इन वस्तुओं का उत्पादन नगण्य ही है।

बडे उद्योगों और खनिज उद्योग पर जो ६९० करोड़ रुपया व्यय किया जाने वाला है वह लगभग पूर्ण रूप से मूल उद्योगों के विकास के लिये है, जैसे लोहा इस्पात, कोयला, खाद, इन्जीनियरिंग तथा बड़े बडे बिजली के प्रसाधन इत्यादि। योजना में तीन इस्पात सयत्रों की स्थापना रूरकेला, भिलाई, और दुर्गापुर में होगी जिनमे से प्रत्येक की उत्पादन शक्ति १० लाख टन इस्पात पिण्डों की होगी। इसके अतिरिक्त इनमें से एक सयन्त्र तो ३५०,००० टन ढला हुआ लोहा बिक्री के लिये उत्पादित करेगा। राजकीय क्षेत्र के अन्तर्गत सब योजनाओं से आशा की जाती है कि कुल इस्पात की उत्पादित मात्रा लगभग २० लाख टन द्वितीय योजना के अन्त तक हो जायगी।

इन्जीनियरिंग के बडे बडे उद्योगों की स्थापना के कार्यक्रम में चित्तरन्जन लोकोमोटिव फैक्ट्री में एक बड़ी इस्पात फाउन्ड्री की स्थापना भी सम्मिलित है। इस बात का प्रबन्ध किया जा रहा है कि बडे बडे बिजली के प्रसाधनों का निर्माण राजकीय क्षेत्र में हो। इसलिये चित्तरन्जन लोकोमोटिव फैक्ट्री का विस्तार होना परमावश्यक है ताकि वर्तमान समय के १२५ इन्जिनो के वार्षिक उत्पादन के स्थान पर ३०० इन्जनों का प्रतिवर्ष उत्पादन हो जाय। दि इन्टीगरल कोच फैक्ट्री जिसने उत्पादन कार्य १९५५ में आरम्भ किया लगभग ३५० कोच प्रतिवर्ष १९५६

तक उत्पादित कर सकेगी। एक नई मीटर गेज कोच फैक्ट्री की स्थापना का भी प्रबन्ध कर दिया गया है।

(३) द्वितीय-योजना में ग्राम्य और छोटे उद्योगों को प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है और यह प्रस्ताव किया गया है कि उन पर प्रथम योजना के ३० करोड़ रुपये के व्यय के स्थान पर अब २०० करोड़ रुपया व्यय किया जाय। ग्राम्य और छोटे उद्योगों को इतना महत्व देने का मुख्य कारण यह है कि देश की आर्थिक व्यवस्था के विकेन्द्रित भाग में कार्य करने के अधिक अवसर प्रदान कर सकेंगे।

समालोचना—द्वितीय योजना प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक विचार पूर्ण है। इस योजना मे यह उचित ही है कि कृषि की तुलना में औद्योगिक विकास पर अधिक महत्व दिया गया है। इससे देश का सतुलित विकास सम्भव हो सकेगा और जो देश की आर्थिक व्यवस्था मे अभाव रह गए थे वे पूर्ण हो जायेंगे। यह भी बहुत उपयुक्त है कि बड़े मूल और मशीनों के निर्माण के उद्योगों के प्रति विशेष ध्यान दिया है। इन्ही के आधार पर भारत का भावी औद्योगिक विकास सम्भव हो सकेगा। यह सब होते हुए भी द्वितीय योजना मे अनेकों गम्भीर दोष रह गये हैं।

(१) राजकीय क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार कर दिया गया है। यदि सरकार के पास धन के स्रोत, औद्योगिक ज्ञान, उद्योगों के आरम्भ करने की क्षमता आदि होती तब तो इसमें कोई हानि की सम्भावना न होती, परन्तु सरकार के पास तो ये पर्याप्त मत्रा में नहीं हैं। इसके अतिरिक्त अनेकों उद्योग जो राजकीय क्षेत्र के अन्दर सम्मिलित कर लिये गये हैं उनमें राजकीय क्षेत्र से जितना साहस प्राप्त हो सकता है उसकी अपेक्षा अधिक जोखिम उठाने और साहस की आवश्यकता है। अन्त में यह भी कहा जाता है कि राजकीय क्षेत्र को आवश्यकता से अधिक विस्तृत कर देने से व्यक्तिगत क्षेत्र के लिये सुगमता पूर्वक कार्य करते रहने के लिये जितने साहस की आवश्यकता है उससे बहुत कम का अवसर छोड़ा गया है। इसमें स्पष्ट रूप से यह भय लक्षित होता है कि राजकीय क्षेत्र अपने निर्धारित लक्ष्य को पूर्ण न कर सकेगा।

(२) यद्यपि व्यक्तिगत क्षेत्र पर कुछ वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा के उत्पादन करने का उत्तरदायित्व डाल दिया गया है, परन्तु इसके लिये न तो पर्याप्त मात्रा में वित्त की उपलब्धि का कोई प्रबन्ध किया गया है और न ऐसी सुविधाये ही प्रदान की गई हैं जैसे अवक्षयण के लिये वृद्धि अथवा करों से छूट आदि, जो कि व्यक्तिगत क्षेत्र के सरलता से कार्य करते रहने के लिये आवश्यक

हैं। राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) जिसकी १९५४ में स्थापना की गई थी व्यक्तिगत क्षेत्र में उद्योगों के विकास में बहुत सहायता पूर्ण कार्य कर रहा है। द्वितीय योजना में भी यह संस्था व्यक्तिगत क्षेत्र में सहायता का कार्य करती रहेगी। यह सब होते हुये भी यह निश्चत रूप से कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत क्षेत्र को नित्त संकट उठाना पड़ रहा है, जिससे औद्योगिक विकास में बाधा पड़ रही है।

(३) भारत के औद्योगिक संगठन में महत्वपूर्ण स्थान रखने के कारण यह सर्वथा उपयुक्त है कि ग्राम्य और छोटे उद्योगों के विकास का प्रयत्न किया जाय, परन्तु यह कदापि न्यायसंगत नहीं है कि बड़े उद्योगों पर उपकर आरोपित किया जाय अथवा उनके उत्पादन की मात्रा पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय, जिससे कि ग्राम्य और छोटे उद्योगों की रक्षा हो सके। इससे कार्यारम्भ का साहस नष्ट हो जाता है और कोई प्रभावशाली सहायता भी ग्राम्य अथवा छोटे उद्योगों को नहीं मिलती। इन उद्योगों की समस्या को उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के गुणों की उन्नति करके, तथा उनके मूल्य को घटा कर करना चाहिये न कि बड़े उद्योगों पर प्रतिबन्ध द्वारा।

द्वितीय योजना के औद्योगिक विकास कार्यक्रम में उपर्युक्त दोषों के होते हुये भी यह आशा की जाती है कि इससे औद्योगिक विकास की गति में अवश्य वृद्धि होगी, तथा औद्योगिक विकास संगठन के अभावों को पूर्ण करके यह योजना संतुलन स्थापित करेगी और संसार में भारत का औद्योगिक स्तर ऊँचा उठायेगी।

योजना की प्रगति—"१९५७-५८ तक पहली योजना में प्रारम्भ की गई अनेक औद्योगिक योजनाएँ पूर्ण हो गईं। इन योजनाओं में अलवये का डी० डी० टी० का कारखाना, दिल्ली के डी० डी० टी० कारखाने का विस्तार, हिन्दुस्तान एन्टीबायोटिक्स (कारखाने) का विस्तार, मैसूर में सरकारी पोर्सलीन फैक्ट्री की पोर्सलीन इन्सुलेटर्स स्कीम, मैसूर आइरन एण्ड स्टील वर्क्स का spun-pipe का कारखाना, बिहार की सुपर फास्फेट फैक्ट्री तथा N E P A कारखाने में संतुलन उपस्कर की व्यवस्था आदि सम्मिलित थे। इन योजनाओं के पूर्ण होने के परिणामस्वरूप डी० डी० टी० निर्माण करने की शक्ति में २१०० टन की, पेन्सिलीन के सम्बन्ध में १९२ लाख मीगा इकाइयों की तथा सुपर फास्फेट की उत्पादन शक्ति में ३३,००० टन की वृद्धि हो गई। N E P A ने प्रतिवर्ष ३०,००० टन अखबारी कागज का उत्पादन करने की अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लिया। २५०० टन इन्सुलेटर्स के निर्माण की शक्ति अथवा सामर्थ्य की भी स्थापना हुई। द्वितीय योजना में इन स्कीमों पर ३ करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था थी।"

आशा की जाती है कि १६५८-५६ मे निम्न औद्योगिक स्कीम पूरी हो जाँयगी।

योजना	नयी अथवा अतिरिक्त शक्ति या सामर्थ्य
1. सिन्द्री (खाद) कारखाने का विस्तार	४७,००० टन नाइट्रोजन
2. मिलई और रुरकेला में पहली भट्टियाँ (Blast furnaces)	७००,००० टन प्रतिवर्ष ढला लोहा (pig iron)
3. दुर्गापुर, की योजना (Coke-oven project)	२८५,००० टन कोक (hard coke)
4. हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, (milling machines or lathes) के उत्पादन मे वृद्धि।	४०० (lathes, millingl और drilling machines)
5. Hindustan cables Co axial cables project	५३० मील केबिल और ३०० मील co axial cables.

इन योजनाओ की कुल लागत लगभग २१ करोड़ रु० है तथा १२ करोड़ रु० का विदेशी विनियम अपेक्षित है।

निम्न औद्योगिक योजनाएँ द्वितीय योजना काल मे पूरी हो जॉयगी।

योजना	नई अथवा अतिरिक्त सामर्थ्य
१ मिलाई, रुरकेला, और दुर्गापुर स्टील वर्कस	२२ लाख टन स्टील, तथा ६००,००० टन ढला हुआ लोहा (pig Iron)
२ नागल खाद योजना	७०,००० टन नाइट्रोजन (fixed)
३. लिग्नाइट योजना उत्खनन सम्बन्धी	३५ लाख टन लिगनाइट
४. हिन्दुस्तान एन्टीबायोटोक्सि की स्ट्रेप्टोमाइसीन योजना	४५,००० किलोग्राम स्ट्रेप्टोमाइसीन
५. मैसूर आइरन और स्टील वर्क्स का फैरो-सिलकिन का विस्तार	१५,००० टन फैरो-सिलीकन
६ बिहार की पोर्सलनि इन्सुलेटर्स की योजना	२००० टन इन्सुलेटर्स
७. हिन्दुस्तान शिपयार्ड	८-१२ जहाज प्रतिवर्ष बनाने की क्षमता के लिये विस्तार,
८. यू० पी० सरकार की सीमेन्ट फैक्ट्री का विस्तार	२३१००० टन सीमेन्ट,

अध्याय २२

सरकार की औद्योगिक नीति

भारत सरकार की औद्योगिक नीति का आधार १६५३ के औद्योगिक (विकास और नियमन) संशोधन कानून द्वारा संशोधित १६५१ का औद्योगिक (विकास और नियमन) कानून है। सरकार की नीति 'मिश्रित आर्थिक व्यवस्था' पर आधारित है जिसमे राजकीय उद्योग तथा निजी उद्योग दोनों का स्थान है। इस कानून मे भारत सरकार ने जिस औद्योगिक नीति का निरूपण किया है वह भारत सरकार के उस वक्तव्य से बिल्कुल भिन्न है जो उसने संसद द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के रूप में ६ अप्रैल १६४८ को दिया था।

औद्योगिक नीति का उद्देश्य देश के औद्योगिक साधनो का यथा सम्भव गति से सन्तुलित विकास करना होना चाहिये। यदि यह कार्य पूर्णतया निजी उद्योगों को ही समर्पित कर दिया जाय तो यह उद्देश्य पूर्णतः प्राप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि पूँजी का अभाव, उद्योग के लिये आवश्यक सामान और मशीनों का अभाव, औद्योगिक कुशलता का अभाव और उद्योगपति की शीघ्र लाभ उठाने की अभिलाषा इस दिशा मे बाधक बन जाते हैं। इस कारण अब तक उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों पर मशीनों इत्यादि का उत्पादन करने वाले उद्योगों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता रहा है इसीलिए निजी उद्योगों पर नियन्त्रण रखा जाना और साथ ही राज्य के क्षेत्र में उद्योग पर संचालन तथा प्रबन्ध आवश्यक प्रतीत होता है। बहुत समय से इस नीति का समर्थन किया जाता रहा है कि राज्य को निजी उद्योगों पर नियन्त्रण रखना चाहिये। परन्तु इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि निजी उद्योगों को सहायता दी जाय, उनको विकास के लिये प्रोत्साहित किया जाय, राजकीय उद्योग का क्षेत्र निश्चित किया जाय, निजी उद्योग को अनुचित कठिनाइयों और उलझनों में न पड़ने दिया जाय और एक औद्योगिक संस्था को दूसरी औद्योगिक संस्था का शोषण न करने दिया जाय। परन्तु भारत सरकार की औद्योगिक नीति इसके विपरीत है। इससे भारत के उपयुक्त औद्योगिक विकास की सम्भावना नहीं है। इस नीति को नकारात्मक नीति कहा जा सकता है। इसमे निजी उद्योगों के सम्बन्ध में उन बातो का उल्लेख किया गया है जिनको करने के लिये राज्य अनुमति नहीं देगा। इसमें यह निश्चित रूप से नहीं कहा गया है कि राज्य निजी उद्योगों को सहायता देने के लिए क्या करेगा। यह नीति यथार्थवादी नहीं है क्योंकि

इसमें भारत मे निजी उद्योग की वर्त्तमान स्थिति और उसके सगठन तथा आकार-प्रकार पर कुछ ध्यान नहीं दिया गया है। इसके विपरीत निजी-उद्योग क्षेत्र में कुछ ऐसी बाते लागू की गई हैं जिनकी उपयोगिता पर सन्देह प्रगट किया जा सकता है, जो देश के औद्योगिक विकास मे सहायक होने की अपेक्षा बाधक हो सकते हैं।

६ अप्रैल १९४८ का औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव— १९४८ में घोषित औद्योगिक नीति मे 'मिश्रित' अर्थ व्यवस्था के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। परन्तु राष्ट्रीयकरण का विषय इसमे विशेष रूप से सम्मिलित किया गया है। वास्तव मे 'मिश्रित अर्थ व्यवस्था' के सिद्धान्त में ही 'राष्ट्रीयकरण' का विचार निहित है। परन्तु सरकार ने अपनी घोषणा में इसकी चर्चा करके इसे अधिक स्पष्ट कर दिया। इस घोषणा में उद्योगो को तीन श्रेणियों मे विभाजित किया गया था। (१) प्रथम श्रेणी के उद्योगो मे हथियारो और गोला-बारूद का उत्पादन, अणु-शक्ति का उत्पादन और नियन्त्रण और रेलवे परिवहन का प्रबन्ध तथा स्वामित्व सम्मिलित किये गये थे। इन उद्योगों पर राज्य को पूर्ण एकाधिकार दिया गया। इस व्यवस्था से विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं हुई क्योंकि ये उद्योग पहले से ही राज्य के अधिकार में और इस बात की बहुत कम सम्भावना है कि भारत में निजी उद्योग इनमें से किसी एक को भी अपनाने के लिये तैयार होगा। वास्तव मे द्वितीय और तृतीय श्रेणी के उद्योगों पर ही इस औद्योगिक नीति का महत्व निर्भर करता है। (२) द्वितीय श्रेणी के उद्योगों में कोयला, लोहा, इस्पात, विमान-निर्माण जलयान-निर्माण, टेलीफोन, तार तथा बेतार के तार के यन्त्रों का निर्माण और पेट्रोल इत्यादि खनिज तेल सम्मिलित किये गये हैं। इन उद्योगों के सम्बन्ध में यह कहा गया था कि इस श्रेणी के नवीन कारखानों को स्थापित करने का पूर्ण उत्तरदायित्व केवल राज्य पर होगा और जो वर्तमान समय में चालू कारखाने है उनकी दस वर्ष मे पुन जॉच की जायगी और यदि आवश्यक हुआ तो इनका राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा। इस व्यवस्था का निजी उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ा। इससे उनका भविष्य अनिश्चित हो गया। उद्योग में सुधार करने के लिये जो कुछ रुपया लगाया जायगा उसका लाभ उठा सकने के लिये १० वर्ष का समय बहुत कम है। और चूँकि नये कारखाने स्थापित करने का पूर्ण भार राज्य ने स्वीकार कर लिया, इससे इस श्रेणी के उद्योगो मे निजी उद्योग के मालिको की रुचि कम हो गई इस क्षेत्र मे उनका सम्पूर्ण उत्साह समाप्त हो गया। परिणाम स्वरूप औद्योगिक उत्पादन घट गया, पूँजी निर्माण की प्रक्रिया धीमी पड़ गई और औद्योगिक क्षेत्र मे कुछ सीमा तक मन्दी आ गई। यदि

राज्य नवीन कारखाने स्थापित कर उत्पादन कार्य आरम्भ कर देता तो इससे विशेष हानि की सम्भावना नहीं थी। परन्तु भारत सरकार और राज्य सरकारों के पास इस कार्य के लिये आवश्यक धन, साहस और कुशल कर्मचारियों का अभाव है। फल स्वरूप देश की औद्योगिक स्थिति प्रगति करने की अपेक्षा अवनत होती गई। (३) शेष उद्योगों को तीसरी श्रेणी में रखा गया। यद्यपि इस श्रेणी के उद्योगों को निजी उद्योग क्षेत्र के लिये छोड़ दिया गया परन्तु यह भी कहा गया कि राज्य इस क्षेत्र में भी क्रमशः भाग लेगा। परन्तु साधनों के अभाव के कारण राज्य इस क्षेत्र में सक्रिय नहीं हो सका।

नवीन औद्योगिक नीति—३० अप्रैल १९५६ को घोषित नवीन औद्योगिक नीति १९४८ के औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव की रूपरेखा से मिलती जुलती है, और उद्योगों को राज्य द्वारा उनमें भाग लेने के आधार पर ३ वर्गों में विभाजित करती है। प्रथम वर्ग में १७ उद्योगों की गणना की गई है जिनमें कोयला, लोहा और इस्पात, खनिज-तेल, सामान्य और विद्युत इन्जीनियरिंग के कुछ अंश और परिवहन सम्बन्धी कुछ ऐसे उद्योग आते हैं जिनके भावी विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य के ऊपर है। द्वितीय वर्ग में लगभग एक दर्जन उद्योग सम्मिलित किये गये हैं, जैसे मशीन के यन्त्र, अलमुनियम, खाद, सड़क और समुद्री परिवहन इत्यादि जिनमें व्यक्तिगत और राजकीय उपक्रम साथ साथ चलेंगे परन्तु यह क्रमशः राजकीय अधिकार में आ जायेंगे, इस लिये इन में नवीन उपक्रमों के स्थापित करने में राज्य अग्रगणी होगा। शेष उद्योग जैसे सूती कपडे, सीमेंट, चीनी इत्यादि तीसरे वर्ग में रक्खे गये हैं। इनका भावी विकास सामान्यतः व्यक्तिगत क्षेत्र से उपलब्ध कार्यारम्भ साहस पर निर्भर करेगा। राज्य को यह भी अधिकार होगा कि इस वर्ग के उद्योगों को भी आरम्भ कर सके।

उद्योगों के इस त्रिवर्गीय विभाजन में कोई दोष नहीं है। १९४८ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अनुसार संतोष प्रद ढंग से कार्य हुआ है। परन्तु नवीन औद्योगिक नीति के त्रिवर्गीय विभाजन में कुछ दोष आ गये हैं।

(१) राजकीय क्षेत्र के विस्तार में बहुत अधिक वृद्धि कर दी गई है और व्यक्तिगत क्षेत्र को अत्यधिक संकुचित कर दिया गया है। इससे हानि यह होगी कि औद्योगिक ज्ञान वाले कर्मचारियों, संगठन करने की क्षमता, पूँजी तथा अनुभव के अभाव में राज्य उन उद्योगों का प्रबन्ध न पूर्णतः और न अधिकाँश ही कर सकेगा जिन्हें उसने अपने लिये सुरक्षित कर रक्खा है। व्यक्तिगत उपक्रम इस कठिनाई को सुधार सकने में असमर्थ होगा क्योंकि नवीन नीति के अनुसार उन्हें यह कर सकने का कोई अधिकार ही न होगा और यदि सरकार उन्हें आमन्त्रित

भी करेगी तो उनमें इतना आत्म विश्वास न होगा कि वे ऐसा कर सके। इस
नीति के निर्माता इस कठिनाई से अनभिज्ञ नही थे। जो व्यक्ति व्यक्तिगत उप-
क्रमों की कार्य प्रणाली और १९४८ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के प्रभाव से
परिचित हैं वे समझ सकते हैं कि इस प्रयोगात्मक परिस्थिति मे व्यक्तिगत उपक्रम
सम्मुख आने का साहस न कर सकेंगे। प्रथम दोनों वर्गों में सम्मिलित व्यक्तिगत
उद्योगों को सरलता से कार्य करते रहने के लिये आवश्यक वातावरण का अभाव
है। यदि गत पाँच वर्षों के अनुभव का भरोसा करें तो यह आशा करना कि यदि
राजकीय उपक्रम वाञ्छित लक्ष्य को पूरा न कर सके तो उनका स्थान व्यक्तिगत
उपक्रम ले लेंगे, युक्ति सगत नहीं है। यदि प्रथम वर्गो में गिने गये कुछ उद्योगो को
तीसरे वर्ग मे स्थानान्तरित कर दिया जाता, जिसमें कार्यारम्भ का भार व्यक्तिगत
उपक्रमों पर है, तो निश्चित रूप से यह सम्भव होता कि वे किसी न किसी प्रकार
औद्योगिक ज्ञान, पूँजी तथा अनुभव के अभाव को पूर्ण कर सकते जैसा कि गत
२०० वर्षों से देखने में आया है। यह कोई तर्क नहीं है कि औद्योगिक क्षमता,
पूजी, अनुभव आदि का सर्वथा अभाव है, और इस लिये राजकीय उपक्रम अथवा
व्यक्तिगत उपक्रम द्वारा इस समस्या को सुलझाने में कोई अन्तर नहीं पडता बहुत
बड़ा अन्तर तो यह है कि व्यक्तिगत उपक्रमो के पास उत्साह औद्योगिक क्षमता
और कार्य करने की शक्ति है और राजकीय उपक्रमों के पास इनका अभाव है।
नवीन औद्योगिक नीति के कारण विकास की गति बढ़ने के स्थान पर अवरुद्ध
जायगी।

(२) १९४८ की औद्योगिक नीति में वर्तमान उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिये
१० वर्ष की अवधि निश्चित की गई थी, और तीसरे वर्ग के उद्योगों के लिये यह
स्पष्ट रूप से कह दिया गया था राज्य उन्हीं उद्योगो को हस्तगत करेगा जिनकी
प्रगति सतोषप्रद नहीं रही है। इससे व्यक्तिगत उपक्रमों को कुछ आशा बन्धी।
परन्तु अब राज्य को अत्यधिक अधिकार देकर व्यर्थ में व्यक्तिगत उपक्रमों की
सुरक्षा की भावना का अपहरण कर लिया गया है। यह राज्य के विचार अथवा
अविचार से कार्य करने का प्रश्न नही है वरन् यह तो व्यक्तिगत उपक्रम में
विश्वास और सदेह की भावना उत्पन्न करती है तो उससे हम सतोषप्रद परिणाम
की आशा नहीं कर सकते।

(३) व्यक्तिगत उपक्रम को बहुत ही संकुचित क्षेत्र प्रदान किया गया है
जिसके कारण वे सरलता से कार्य नहीं कर सकते। भारत की औद्योगिक नीति में
जिस प्रकार राजकीय क्षेत्र का निश्चित स्थान है वैसे ही व्यक्तिगत क्षेत्र का भी
है। व्यक्तिगत क्षेत्र के विस्तार को कम करने के किसी भी प्रयत्न का स्वाभाविक

परिणाम भारत के औद्योगिक विकास को कम करना है। वर्तमान समय में प्रचलित आय और सम्पत्ति के अन्तर को कम करने, व्यक्तिगत एकाधिकार को रोकने और आर्थिक शक्ति को थोड़े से व्यक्तियों के हाथ मे केन्द्रित होने से बचाने के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये यह तर्क असगत है। इस बात को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि भारत में राज्य को जो अधिकार आज प्राप्त हैं उनके द्वारा उद्योगों के व्यक्तिगत क्षेत्र में रहने पर भी वह एकाधिकार तथा आर्थिक शक्ति का केन्द्रित होना न रोक सके। जहाँ तक आय के अन्तर का सम्बन्ध है वह तो आर्थिक तथा अन्य उपायों से पहिले ही काम किया जा चुका है। फिर यह कैसे निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उद्योगों को राजकीय क्षेत्र में रखने से आर्थिक शक्ति केन्द्रित न होगी। अन्य देशों के अनुभव के अनुसार इसका परिणाम अधिक हानिकारक होगा। दूसरा कारण जिसके आधार पर बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उपक्रमों का विस्तार व्यक्तिगत क्षेत्र में सकुचित किया गया है वह कुटीर, ग्राम्य और छोटे उद्योगों की बड़े उद्योगों के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाकर और भिन्न करारोप द्वारा अथवा प्रत्यक्ष अनुदानों द्वारा सहायता करना है। भारत में ग्राम्य और छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन देने में कोई दोष नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि इनका भारत की औद्योगिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु बड़े उद्योगों को हानि पहुँचाकर छोटे उद्योगों की प्रगति करना सर्वथा अविचारपूर्ण है। भारत की राष्ट्रीय आय और औद्योगिक विकास में वृद्धि बड़े उद्योगों से ही सम्भव है। द्वितीय योजना का ध्येय प्रति व्यक्ति वार्षिक आय बढ़ाना और बेकारी घटाना है। यदि बड़े उद्योगों का काल्पनिक आदर्शों के लिये उत्सर्ग कर दिया गया तो वह ध्येय कभी पूर्ण नहीं हो सकेगा। व्यक्तिगत क्षेत्र के विस्तार को सकुचित कर देने का परिणाम यह होगा कि व्यक्तिगत उपक्रम उचित रीति से कार्य न कर सकेंगे।

नवीन औद्योगिक नीति मे वे गुण तो नहीं है जो कि १९४८ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में थे, परन्तु उसके सब दोष उसमें वर्तमान हैं। १९४८ की नीति नकारात्मक थी और उसमें व्यक्तिगत उपक्रमों पर लगाये गये प्रतिबन्ध का ही केवल वर्णन था। राज्य से उन्हें क्या सहायता प्राप्त होगी इसके प्रति कोई सकेत नहीं था। यही दोष नवीन औद्योगिक नीति मे जनता को महान प्रतीत होने वाले निरर्थक आदर्शों के सम्मिश्रण के रूप में है। व्यक्तिगत उपक्रम की अत्यधिक कर, आयकर के नियमों के अनुकूल उनके लिये पर्याप्त मात्रा में अवक्षयण वृत्ति का प्रबन्ध, और सरकार की श्रम और मूल्य नीति के कारण सदैव बढ़ते हुये उत्पादन व्यय से रक्षा आवश्यक है। राज्य को इस दृष्टिकोण से

व्यक्तिगत उपक्रमों को निश्चित सहायता प्रदान करनी चाहिये जिससे वे सफलता-पूर्वक अपना कार्य कर सकें। सहायता का क्या रूप होगा और वह किस विधि से दी जायगी आदि बातें सरकार की औद्योगिक नीति का एक आवश्यक अंग बन जानी चाहिये जिससे कि वे सम्भव हो सकें।

१६५१ का उद्योग कानून—१६५१ का उद्योग (विकास और नियमन) कानून प्रथम अनुसूची में दिये गये उन ३७ उद्योगों पर लागू होगा जिनमें १ लाख से अधिक पूँजी लगाई गई है। यह व्यवस्था की गई है कि इन सभी औद्योगिक संस्थानों को अनिवार्य रूप से अपनी रजिस्ट्री करानी पड़ेगी। कोई नवीन कारखाना स्थापित करने के लिये अथवा वर्तमान कारखानों का प्रसार करने के लिये केन्द्रीय सरकार से लाइसेन्स प्राप्त करना पड़ेगा।

कानून के अनुसार सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी भी अनुसूचित उद्योग की जाँच करा सकती है और आवश्यक निर्देश जारी कर सकती है। इन निर्देशों का पालन न करने पर केन्द्रीय सरकार सम्पूर्ण उद्योग को या उसके किसी भाग को एक निश्चित काल के लिए किसी व्यक्ति, बोर्ड या विकास-परिषद् के हाथ में सौंप सकती है। परन्तु यह अवधि ५ वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। यह व्यवस्थाएँ अस्पष्ट और विस्तृत हैं। यह खेद का विषय है कि संसद ने जिस द्वितीय प्रवर-समिति को यह विधेयक विचारार्थ सौंपा उसने प्रथम प्रवर-समिति की रिपोर्ट में दी गई उन शर्तों को रद्द कर दिया जिनके आधार पर राज्य हस्तक्षेप कर सकता था। प्रथम प्रवर समिति ने सिफारिश की थी कि यदि उद्योग के प्रबन्ध में अधिक अव्यवस्था फैली हो, वस्तुओं के भाव में अनुचित उतार-चढ़ाव हो, वस्तुओं का अभाव हो, श्रमिकों में अशांति एवम् असन्तोष हो और यदि सम्बन्धित उद्योग के कार्य में आने वाले कच्चे माल का अभाव और उसकी शीघ्र समाप्ति को रोकना राष्ट्र हित में हो तभी राज्य को अपने नियन्त्रण और हस्तक्षेप के अधिकारों का प्रयोग करना चाहिए। इन शर्तों से निजी उद्योग सन्तुष्ट था और यदि विधेयक इसी रूप में स्वीकार कर लिया जाता तो औद्योगिक विकास को हानि न उठानी पड़ती परन्तु द्वितीय प्रवर-समिति द्वारा इन निश्चित शर्तों को रिपोर्ट में से निकाल देने के कारण फिर वही अनिश्चितता फैल गई जो सरकार की भूतपूर्व औद्योगिक नीति से फैली थी।

इस कानून में केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद और विकास-परिषदें स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद् में उद्योगपतियों, कर्मचारियों और अनुसूचित उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि होंगे। इनके साथ ही कुछ ऐसे व्यक्ति भी इस परिषद् में सम्मिलित किए

जा सकेंगे जिन्हें केन्द्रीय सरकार उचित समझेगी। अध्यक्ष को छोड़ कर परिषद् की सदस्य संख्या ३० से अधिक नहीं होगी[1]। केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद् अनुसूचित उद्योगों के विकास और नियमन के सम्बन्ध में सरकार को सुझाव देगी।

किसी भी अनुसूचित उद्योग अथवा उद्योगों के समूह के लिए विकास-परिषदें स्थापित की जा सकती हैं। विकास परिषद में उद्योगपतियों, कर्मचारियों और उन उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि होंगे। इसमें ऐसे व्यक्ति भी सदस्य बनाये जा सकेंगे जिन्हें सम्बन्धित उद्योग अथवा उद्योगों के बारे में विशेष टेक्निकल ज्ञान हो। विकास-परिषद् का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक बनाया गया है। मुख्यत विकास परिषदें उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित करेंगी, उत्पादन-कार्य में सामंजस्य स्थापित करने के लिए सुझाव देंगी और समय समय पर उद्योग अथवा उद्योगों की प्रगति की समीक्षा करेंगी, इसके साथ ही क्षति रोकने के लिए कुशलता के मान निर्धारित करेंगी, अधिकतम उत्पादन करने, उत्पादन व्यय करने और उत्पादित वस्तु की प्रकार में सुधार करने के लिए सुझाव देंगी। विकास परिषदें उत्पादित वस्तु की प्रकार का एक निश्चित स्तर निश्चित करेंगी और विक्रय की व्यवस्था करेंगी और ऐसे उपाय सुझावेंगी जिनसे श्रमिकों की उत्पादन-शक्ति मे वृद्धि हो। जैसा पहले कहा जा चुका है सरकार उद्योग की पूर्ण व्यवस्था अथवा उसका कुछ भाग अधिक से अधिक ५ वर्ष के लिए इन विकास परिषदों के हाथ सौंप सकती है।

विकास-परिषदों से यह आशा की जाती है कि वह निजी उद्योग के लिए एक परिचारिका का कार्य करेंगी। १९५३ में ऐसी दो विकास परिषदें स्थापित की गईं। बाद में अन्य विकास परिषदें स्थापित की गईं। १९५७ के अन्त में १२ विकास परिषदें निम्न उद्योगों के लिये काम कर रहीं थीं।

(१) भारी विद्युत् उद्योग,

(२) हलका विद्युत् उद्योग

(३) Internal Combustion Engines तथा शक्तिचालित पम्प

---

[1] ८ मई १९५२ को कानून लागू होने के साथ ही केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद् स्थापित की गई, वाणिज्य तथा उद्योग-मन्त्री इसके अध्यक्ष हैं। १९५४ में इसका पुनर्संगठन किया गया और इसके सदस्यों की संख्या २९ कर दी गई जिनमें से १४ उद्योगपतियों के प्रतिनिधि (अनुसूचित उद्योग के), ५ कर्मचारी, ५ उपभोक्ता, और ५ अन्य व्यक्ति जिनमें प्रारम्भिक उत्पादक सम्मिलित हैं। इससे यह परिषद् पूर्ण रूपेण प्रतिनिधि परिषद् बन गई है।

(४) साइकिल
(५) अम्ल (acid) और उर्वरक
(६) क्षार (alkali) तथा सम्बन्धित उद्योग
(७) दवाइयाँ
(८) ऊनी कपड़ा
(९) कलापूर्ण रेशमी कपड़ा
(१०) चीनी (शकर)
(११) अलौह धातुये और मिश्रित धातुयें, तथा
(१२) मशीन-औजार

इन परिषदो का कार्य अपने-अपने उद्योगो की समस्याओ पर विचार करना। इनका ध्येय है उद्योगों को अपनी पूर्ण शक्ति भर उत्पादन कर सकने की सुविधाये प्रदान करना, उनकी (रेटेड) अकित शक्ति को आवश्यक स्तर तक बढाना, और उत्पादन व्यय को कम करना है।

विकास परिषदों की सस्था हम लोगों ने ब्रिटेन से अनुसरण की है जहाँ पर इनकी स्थापना अनेकों उद्योगों के विकास के सम्बन्ध में की गई थी। वहाँ ये परिषद असफल सिद्ध हुये पर हम लोग अब भी इनको अपनाए हुए हैं। व्यक्तिगत उपक्रमों के सफलता पूर्वक कार्य करने के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें नित्य प्रति के कार्यों में प्रबन्ध कर्ता से पर्याप्त मात्रा में स्वतत्रता प्राप्त हो। उपक्रमो को कार्यारम्भ करने का साहस और उत्साह होना चाहिये। यही एक आधार है जिस पर व्यक्तिगत उपक्रम से हम सफलता की आशा कर सकते हैं। प्रबन्ध करने मे स्वतन्त्रता की मात्रा में कमी करने के भय, इन परिषदों की कार्यप्रणाली की अनिश्चितता तथा किसी उपक्रम के आवश्यकता पड़ने पर सरकारी प्रबन्ध में ले लिये जाने की अनिश्चित शर्तें (जैसे विकास परिषद के निर्देशों का किसी उपक्रम द्वारा उलघन) ये उपक्रमी वर्ग के मन मे सदेह की भावना भर दी है। इसके अतिरिक्त परिषद एक ही प्रकार की सस्थाये तो है नहीं जो अपने अपने उद्योगो में से विकसित हुई हों, इसलिये वे मनोवाछित विकास नही कर सकती। यह भी सम्भव है कि विकास परिषद का हस्ताक्षेप सरकारी नियन्त्रणो से ग्रस्त उपक्रमों के विनाश का अन्तिम कारण सिद्ध हो।

१९५३ का उद्योग (विकास और नियमन) संशोधन कानून—भारत-सरकार को १९५१ के उद्योग (विकास और नियमन) कानून को लागू करने के एक वर्ष पश्चात् ही सशोधन कानून का आधार लेना पड़ा। इस बात से यह स्पष्ट होता है कि भारत की औद्योगिक नीति कितनी अनिश्चित है। ऐसी स्थिति

किसी प्रकार भी लाभकर नहीं कही जा सकती है। सशोधन कानून का विश्लेषण करने से ज्ञात होगा कि उसकी व्यवस्थाएँ पूर्व की अपेक्षा अधिक दोषपूर्ण हैं। सशोधन कानून के अनुसार किसी भी उद्योग पर सरकार परामर्शदात्री परिषद् से पूछे बिना अधिकार कर सकती है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि सरकार निर्देश दे और उद्योग को स्पष्टीकरण का अवसर दे। सरकार के इन नवीन अधिकारों को प्राप्त करने से व्यापारों में उद्योगों के सम्बन्ध में और अनिश्चितता फैली है और इससे देश की औद्योगिक प्रगति अवरुद्ध हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं।

अब यह कानून ४२ उद्योगों पर लागू है, जिनमे असली रेशम, नकली रेशम, रग बनाने की वस्तुये, साबुन, प्लाईवुड, फेरोमेगेनीज आदि ६ नवीन उद्योग भी सम्मिलित हैं। सशोधन द्वारा सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वे यदि चाहें तो ५ वर्ष के पश्चात् भी (जो अवधि एक्ट में दी हुई थी) किसी उपक्रम का प्रबन्ध अपने हाथों में रख सकती हैं। इसके लिये यह आवश्यक होगा कि नियत्रण की अवधि बढाने की एक विज्ञप्ति पार्लियामेंट के समक्ष उपस्थित कर दी जाय। सरकारी उपक्रमों को नई वस्तुओं के उत्पादन के लिये लाइसेन्स लेने से छूट दे दी गई है, यद्यपि एक्ट मे दी हुई प्रथम तालिका में अनुसूचित उपक्रमों को लाइसेन्स लेना अनिवार्य है। सरकार को यह अधिकार है कि वह जिन उद्योगों को अपने अधिकार में ले उनके सगठन की शर्तों और नियमावली के विपरीत भी यदि चाहे तो कार्य कर सकती है। इस अधिकार से हिस्सेदारो के सामान्य अधिकारों को आघात पहुँचता है।

इन संशोधनों से उद्योग (विकास और नियमन) कानून बहुत कड़ा कानून बन गया है। अब केवल यह आशा की जाती है कि कानून को लागू करने वाले अधिकारी सन्तुलित दृष्टिकोण से कार्यवाही करेंगे और भारत के औद्योगिक ढाँचे को सदैव के लिए नष्ट हो जाने से बचाएँगे।

राष्ट्रीयकरण की नीति—राष्ट्रीयकरण की नीति अप्रत्यक्ष रूप से भारत सरकार की औद्योगिक नीति का एक अग है। इसका सकेत उद्योग (विकास और नियमन) कानून की उस व्यवस्था से मिलता है जिसके अनुसार सरकार कुछ स्थितियों में निजी उद्योगों पर अपना अधिकार कर सकती है।

राष्ट्रीयकरण का अर्थ है कि उत्पादन के साधनों पर जनता का अधिकार हो। राज्य या तो अपने उद्योग स्थापित कर सकता है या चालू निजी उद्योगों को अपने अधिकार में ले सकता है। राष्ट्रीयकरण का देश की सामाजिक, राजनैतिक,

आर्थिक स्थितियो से निकट सम्बन्ध है। राष्ट्रीयकरण किस प्रकार किया जाय यह उस देश के आर्थिक विकास पर निर्भर करता है।

सिद्धान्त रूप में राष्ट्रीयकरण की नीति का कई आधारो से समर्थन किया जा सकता है। प्राय यह कहा जाता है कि निजी उद्योग देश के सभी उपलब्ध साधनों का न तो पूर्ण उपयोग करना चाहता है और न वह ऐसा कर सकने मे समर्थ ही है, इसलिए बिना राजकीय उद्योगो मे तीव्रता से प्रगतिशील औद्योगीकरण नहीं किया जा सकता। निजी उद्योगों द्वारा उद्योग के आधुनिकीकरण और युक्तिकरण (Rationalisation) की ओर ध्यान न देने की प्रवृत्ति की आलोचना करके भी राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया जाता है। यह कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण हो जाने से श्रमिक-मालिक के सम्बन्धो में सुधार होगा और श्रमिकों के दूने उत्साह से कार्य करने के कारण उत्पादन भी बढेगा। राष्ट्रीयकरण के समर्थका का यह भी विश्वास है कि उद्योगों पर सरकार का अधिकार हो जाने से बेरोजगारी की समस्या भी हल हो जायगी।

परन्तु यह तर्क सन्तोपजनक नहीं है। राष्ट्रीय करण की किसी भी योजना को लागू करने से पूर्व यह आवश्यक है कि राज्य के पास पर्याप्त पूँजी हो और उसे प्रशासन तथा सभी कुशल प्राविधिक सेवाएँ प्राप्त हो। राष्ट्रीय करण के पश्चात् श्रमिक और उद्योग के प्रबन्धको के सम्बन्धों में और तनातनी होने की सभावना है क्योंकि वर्तमान में इन दोनों के बीच राज्य सतुलन स्थापित करता है और जब कभी इनके बीच झगडे उत्पन्न होते हैं राज्य उनमे हस्तक्षेप करता है। परन्तु यदि राज्य ही उद्योग का अधिकारी हो तो इस प्रकार के झगडों मे राज्य स्वय एक पक्ष हो जायगा और इस कारण मध्यस्थता नहीं कर सकेगा। राष्ट्रीयकरण हो जाने से औद्योगिक सम्बन्धो में सुधार होने का सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि जनतन्त्र में श्रमिक यह समझता है कि राज्य की वास्तविक शक्ति उसी के हाथ मे है। इसलिए उसका राज्य से कोई झगड़ा नहीं होगा। परन्तु यह केवल सिद्धान्त की बात है। यह विश्वास कर लेने का कोई कारण नहीं है कि केवल राष्ट्रीयकरण हो जाने से ही श्रमिकों का स्वभाव बदल जायगा और वह अधिक कुशलता से अधिक परिश्रम कर उत्पादन बढ़ा देंगे। उत्पादन तभी बढ सकता है और बेरोजगारी को तभी कम किया जा सकता है जब राज्य चालू उद्योगों को अपने अधिकार में करने की अपेक्षा नये उद्योगों को आरम्भ करे।

राष्ट्रीयकरण की अपनी उपयोगिता होनी चाहिए। उसकी अपनी विशेषताएँ होनी चाहिए। केवल निजी उद्योगों में दोष होने के कारण ही राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाना उचित नहीं है। राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध अनेक तर्क दिये जा

सकते हैं। उदाहरणस्वरूप यह कहा जाता है कि उद्योगों पर राज्य का अधिकार हो जाने से प्रबन्ध की कुशलता में अभाव आ जाता है क्योंकि राजकीय अधिकारी उतने सतर्क और उत्साही नहीं होते हैं जितना निजी उद्योगपतियों से आशा की जाती है। राष्ट्रीयकरण किये गये उद्योगों में प्रबन्धकों को सरकार कर्मचारी होने के कारण उद्योग से निजी लाभ उठाने की सम्भावना ही नहीं होती, इसलिए उन्हें न तो व्यवसाय बढ़ाने की इच्छा होती है और न इस ओर कोई आकर्षण होता है। जिन उद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है उनका विकास करने के लिए आवश्यक पूँजी प्राप्त करने में अधिक कर लगाने की आवश्यकता पड़ सकती है और यह सम्भव है कि आर्थिक दृष्टि से अविकसित देश की जनता 'कर' के इस अतिरिक्त भार का वहन करने में असमर्थ रहे।

भारत में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें कुछ उद्योगों की अधिकारिणी हैं और उन्हें चलाती हैं जिनमें रेलवे, डाक-तार, प्रतिरक्षा सम्बन्धी कारखाने, टेली-फोन कम्पनियाँ और कुछ बिजली की कम्पनियाँ सम्मिलित हैं। गत कुछ वर्षों से औद्योगिक क्षेत्र में राज्य का प्रवेश बढ़ता गया है। प्रीफैब्रीकेटेड हाउसिंग फैक्टरी १९४९ में स्थापित की गई और अगस्त १९५० से इसका उत्पादन कार्य आरम्भ हुआ, चितरन्जन लोकोमोटिव फैक्ट्री ने १९५० में कार्य आरम्भ किया, सिन्द्री खाद के कारखाने ने अक्टूबर १९५१ से उत्पादन आरम्भ किया। यह सभी राज-कीय उद्योग हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दुस्तान विमान निर्माण उद्योग, प्रिसीजन इन्स्ट्रूमेंट फैक्टरी, नेशनल न्यूजप्रिन्ट और पेपर मिल्स लिमिटेड भी राजकीय उद्योग हैं। राज्य ने कुछ वर्तमान उद्योगों को भी अपने अधिकार में कर लिया है। १९५३ के विमान निगम कानून के अन्तर्गत सरकार ने विमान उद्योग पर अधिकार कर लिया है।

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर लेने से ही उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती। राष्ट्रीयकरण होने से कम उत्पादन व्यय पर अधिक और अच्छा उत्पादन होना चाहिए। परन्तु भारत सरकार की राष्ट्रीकरण की नीति से यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हुआ है। इसके विपरीत इन उद्योगों में जनता के धन की अपार क्षति हुई है और उत्पादन में अनुचित देरी हुई है। इस सम्बन्ध में सिन्द्री खाद कारखाने का उदाहरण दिया जा सकता है। पहले यह अनुमान लगाया गया था कि १०.५३ करोड़ रुपये में कारखाना स्थापित हो जायगा परन्तु अन्त में इस पर २३ करोड़ रुपया व्यय किया गया और स्थापित होने के सात वर्ष पश्चात् इसमें उत्पादन कार्य आरम्भ हो सका प्रीफैब्रीकेटेड हाउसिंग फैक्टरी द्वारा उत्पादित माल देश

ाप्त कच्चे माल के भार को निर्मित वस्तु के भार से विभाजित करने मे प्राप्त ोता है। यदि 'माल का इन्डेक्स' किसी उद्योग के सम्बन्ध में बड़ा है तो इसमे ह समझना चाहिये कि कच्चे-माल की प्राप्ति का स्थान अधिक प्रभावशाली ारण है और उद्योग की स्थापना के लिये वह स्थान अधिक उपयुक्त होगा परन्तु दि 'माल का इन्डेक्स' छोटा है तो उससे यह समझना चाहिये कि कच्चेमाल ी प्राप्ति कोई विशेष महत्वशाली बात नहीं है और उद्योग की स्थापना अच्छी कार बाजार के निकट की जा सकती है।

परन्तु जैसा इस सिद्धान्त में बताया गया है उसके अनुसार जहाँ न्यूनतम ारिवहन व्यय हो वहाँ सर्वदा उद्योग स्थापित नही किये जाते। इसके कई कारण ;, जैसे (१) उद्योगपतियों को कच्चे माल की प्राप्ति के स्त्रोतो और बाजारो का ूर्ण ज्ञान नहीं होता कि वे ठीक-ठीक आवश्यक अनुगणन कर सके। होता यह ै कि औसत दर्जे का व्यवसायी वर्तमान उद्योगो की स्थिति का अनुमान लगा ेता है और जहाँ पर उसकी समझ मे यह आता है कि वह अधिकतम लाभ उठा सकेगा वहीं अपना कारखना खोल देता है। सामान्यतः वे उद्योग जो किसी थापन विशेष में केन्द्रित हो गये हैं कुछ ऐसी लाभकारी स्थिति वहाँ उत्पन्न कर ते हैं जिनके कारण नवीन कारखाने वही स्थापित होने लगते हैं जिससे वहाँ और धिक स्थानीयकरण हो जाता है, (२) उद्योगपतियो के समक्ष स्थान निर्धारण मे दा आर्थिक ही कारण नहीं रहते। वे सामाजिक सुविधायें तथा जीवन की अन्य ुविधाओं की प्राप्ति का भी विचार करते हैं जो नगरो में सुगमतापूर्वक प्राप्त ं। इस कारण से भी वे बहुधा बड़े-बड़े नगरों में या उनके आसपास अपने ारखानों के खोलने का निश्चय करते हैं चाहे ऐसा करने मे उन्हें ग्राम मे ारखाना खोलने की अपेक्षा लाभ कुछ कम ही क्यों न प्राप्त हो, और (३) युद्ध-ाल में हवाई हमला से रक्षा का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है इसलिये हुधा उद्योगों की स्थापना खुले हुये नगरों से दूर तथा नदी के किनारो से दूर ेश के आन्तरिक भाग मे करना पड़ता है चाहे इसमे आर्थिक हानि ही क्यो न उठानी पडे।

प्रवृत्ति—भारत में उद्योगो का स्थान-निर्धारण त्रुटिपूर्ण है। एक ओर ाम कि बम्बई, पश्चिम बगाल और बिहार में अपेक्षाकृत अधिक औद्योगीकरण ुआ है तो दूसरी ओर अन्य राज्यो मे औद्योगीकरण के प्रायः सभी साधन होते ए भी विशेष विकास नहीं हो पाया है। इसके साथ ही दूर ग्रामो की अपेक्षा गर के पड़ोस मे ही उद्योगो के केन्द्रित हो जाने से भारत के बड़े नगरों का नुचित प्रसार हो गया है।

तालिका १

भारत के औद्योगिक श्रमिकों की कुल संख्या का प्रतिशत

प्रदेश	१९२१*	१९३९*	१९४३*	१९५१
बंगाल और बम्बई	६२ १	५९ २	५७ ६	५४ ३
बंगाल, बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश और बिहार	८३ १	८५ ९	८४·४	८८ ४
शेष भारत में	१६ ९	१४·१	१५·६	११ ६

*अविभाजित भारत के आँकड़े

तालिका १ के अनुसार १९५१ में भारत के कुल औद्योगिक श्रमिकों के ५४·३ प्रतिशत बंगाल और बम्बई के दो राज्यों में कार्य करते थे और ८८·४ प्रतिशत बंगाल, बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश और बिहार के पाँच राज्यों में कार्य करते थे। इसका अर्थ है कि औद्योगिक विकास की दृष्टि से अन्य क्षेत्र पिछड़े हुए हैं जिनमें कुल औद्योगिक श्रमिकों के केवल ११·६ प्रतिशत कार्य करते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि बम्बई और बंगाल क्षेत्र में कुल औद्योगिक श्रमिकों की संख्या १९२१ में ६२ १ प्रतिशत थी जो घटकर १९५१ में ५४·३ प्रतिशत हो गई जब कि मद्रास, उत्तर प्रदेश और बिहार में इनकी संख्या १९२१ में कुल श्रमिकों के २१ प्रतिशत से बढ़कर १९४३ में २६·८ और १९५१ में ३४·१ प्रतिशत हो गई। शेष भारत के अन्य क्षेत्रों में कुल औद्योगिक श्रमिकों की संख्या १९२१ में १६ ९ प्रतिशत थी जो घटकर १९४३ में १५·६ प्रतिशत और १९५१ में ११·६ प्रतिशत हो गई। इसका यह अर्थ है कि बंगाल और बम्बई तथा देश के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा मद्रास, उत्तर प्रदेश और बिहार में उद्योग अधिक केन्द्रित हुये हैं।

तालिका २

भारत के कुछ नगरों की जनसंख्या

(लाखों में)

	१९३१	१९४१	१९५१
कलकत्ता	१२·८९	२१ ०९	२५ ४९
बम्बई	११ ६१	१६·९५	२८·३९
कानपुर	२·४४	४·८७	७·०५
मद्रास	६ ४७	७ ७७	१४ १६
दिल्ली	३ ४७	५·२१	९ १५

तालिका २ के आँकड़ों को देखने से पता चलता है कि १९२१ से १९५१ के बीच के ३० वर्षों मे भारत के बड़े नगरों कलकत्ता और बम्बई की जन-संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। कलकत्ता और बम्बई की जन-संख्या अपने दो गुने से भी अधिक हो गई है जब कि कानपुर की जन-संख्या तीन गुनी हो गई है। इसका एक कारण तो यह है कि अन्य नगरों की भाँति गाँव से लोग आकर इनमे बसते गये हैं और साथ ही इन क्षेत्रों मे उद्योगों के केन्द्रित हो जाने से भी जनसंख्या मे वृद्धि हुई है।

हानियाँ—नगरों और बड़े कस्बों में उद्योगों के केन्द्रित हो जाने से अनेक हानियाँ होती हैं जिनमे से प्रमुख निम्नलिखित हैं :—(१) इससे जन-संख्या स्थान के अनुपात मे बहुत अधिक बढ़ जाती है और इससे भीड़ एवम् घिच-पिच हो जाती है। इसका जनता के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है, सफाई नहीं रह पाती, रहने के लिए घरों का अभाव हो जाता है और इन क्षेत्रों में अनेक सामाजिक बुराईयों कि वृद्धि और उनका प्रसार होने लगता है। यदि उद्योगों को उचित रूप से विभिन्न उपयुक्त स्थानों मे स्थापित किया जाता तो इनमें से बहुत सी बुराईयों से बचा जा सकता था; (२) उद्योग केवल बड़े कस्बों और नगरों में ही केन्द्रित नहीं हुए हैं वरन् कुछ मुख्य प्रकार के उद्योग खास-खास राज्यों में केन्द्रित हुए हैं। चीनी उद्योग अधिकतर उत्तर प्रदेश और बिहार में, सूती उद्योग बम्बई, मध्य-प्रदेश और उत्तर प्रदेश मे, लोहा और इस्पात उद्योग बिहार में, जूट बंगाल में और कोयले की खदानों की उद्योग बंगाल और बिहार मे केन्द्रित हैं। इसका एक कारण तो यह है कि इन क्षेत्रों में अपने उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चा माल और बिजली मिल जाती है और दूसरा कारण उद्योगपतियों की रुचि भी कहा जा सकता है। इस प्रकार की स्थिति से यह हानि होती है कि यदि इनमें से किसी उद्योग में मंदी आ जाये तो उसका उस क्षेत्र पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि चीनी के उद्योग में मंदी आ जाय तो इससे उत्तर प्रदेश और बिहार की जनता पर विपत्ति का पहाड़ टूट जायगा और सूती उद्योग में मंदी आने से बम्बई, मध्य प्रदेश और उत्तर-प्रदेश की जनता संकट में पड़ जायगी। यदि उद्योग देश में चारों ओर वितरित हुए होते तो शायद यह स्थिति नहीं होती। यह बिल्कुल संभव है कि एक उद्योग में मंदी आते ही दूसरे उद्योग मे भी मंदी नहीं आ जाती है और यदि उद्योगों को उचित रीति से सम्पूर्ण देश मे फैला रखा हो तो मंदी आने से उद्योग को क्षति अपेक्षाकृत कम होगी, (३) इन्हीं कुछ चुने हुए क्षेत्रों में उद्योगों के केन्द्रित हो जाने से अन्य क्षेत्रों की प्रायः उपेक्षा की गई है। यह हो सकता है कि अन्य क्षेत्र इनके समान उत्तम सिद्ध न हो फिर भी उनमें उद्योगों की स्थापना

से कुछ अधिक लाभ होने की सभावना है। इन क्षेत्रों की सामाजिक सुविधाओं और उद्योग के लिए आवश्यक प्राकृतिक साधनों का प्राय बिल्कुल उपयोग नहीं किया गया है। इन क्षेत्रों की जनता अपेक्षाकृत अधिक बेरोजगार है और जीविका की उपयुक्त व्यवस्था न होने से उनके रहन-सहन का स्तर भी निम्न है। यदि इन क्षेत्रों में उद्योगों का चालू किया जाता, जैसे उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिले, दक्षिण भारत और पजाब के कुछ स्थान, तो देश म उपलब्ध साधनों का और अच्छा उपयोग किया जा सकता था, (४) हमारे देश मे उद्योगों की जैसी व्यवस्था है वह युद्धकाल के लिए उपयुक्त नहीं है। युद्ध के समय बमवर्षा से इनकी भारी क्षति होने की सभावना है। यदि उद्योग कुछ स्थानों पर केन्द्रित होने की अपेक्षा बडे क्षेत्र मे वितरित होता तो इस प्रकार का भय अपेक्षाकृत कम रहता।

आधुनिक प्रवृति—यद्यपि स्थानीकरण की दृष्टि से भारतीय उद्योग मे अनेक दोष हैं परन्तु इधर कुछ वर्षों से स्थिति मे सुधार होने की सभावना दिखाई देती है। सूती उद्योग के लिए आरभ में बम्बई नगर और उसका समीपवर्ती क्षेत्र विशेष महत्त्वपूर्ण समझा जाता था परन्तु धीरे-धीरे मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और अन्य स्थानों में सूती उद्योग के नये कारखाने खोले गये हैं। इससे बम्बई का महत्त्व क्रमश कम होता गया। यद्यपि बम्बई अब भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है अन्य स्थानों ने भी अपना महत्त्व बढा लिया है। चीनी उद्योग के सम्बध मे अब भी उत्तर प्रदेश और बिहार प्रमुख हैं परन्तु मद्रास, बम्बई और भूतपूर्व रियासतों में भी इस उद्योग की ओर आकर्षण बढा है। १६३१-३२ में कुल ३२ चीनी के कारखानों मे २६ कारखाने उत्तर प्रदेश और बिहार में थे परन्तु १६५२-५३ में कुल १३४ कारखानों मे से इन दोनो राज्यों मे केवल ६३ कारखाने थे। १६३१-३२ और १६५२-५३ के बीच मद्रास मे चीनी के कारखानों की संख्या २ से बढकर १३, बम्बई में १ से बढकर १४ और खण्ड 'ख' राज्यों में जहाँ एक भी कारखाना नहीं था १२ हो गई। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि उत्तर प्रदेश और बिहार अब भी महत्वपूर्ण राज्य हैं परन्तु अन्य राज्यों में भी चीनी के कारखाने खुल गये है और उनका भी महत्त्व कुछ बढ गया है।

जहाँ तक कागज के उद्योग का प्रश्न है इसके कारखानों की स्थापना सर्व-प्रथम बगाल मे हुई जिसका मुख्य कारण कोयले की पूर्ति की सुविधा थी। कारखानों में कागज बनाने के लिए हिमालय के पहाड़ी क्षेत्रों से प्राय ६०० मील दूर से सबाई घास लाई जाती थी परन्तु चूँकि एक टन कागज बनाने मे २½ टन घास और ५ टन कोयले की आवश्यकता होती थी इसलिए कोयले को प्राथमिकता दी गई।

कोयले के क्षेत्र के निकट कारखाना स्थापित करना अधिक उपयुक्त समझा गया। परन्तु धीरे-धीरे बाँस और बिजली का प्रयोग होने लगा। इससे कागज के कारखाने अन्य स्थानों को हटाये गये। सिमेंट उद्योग सर्वप्रथम मध्य-प्रदेश और राजपूताना में स्थापित किया गया परन्तु धीरे-धीरे सिमेंट उद्योग के कारखाने उन क्षेत्रों में स्थापित होने लगे जो या तो सिमेंट का उपभोग करनेवाले क्षेत्र हैं या सिमेंट का उपभोग करनेवाले क्षेत्रों के निकट पड़ते हैं।

उद्योगों की स्थापना में उपर्युक्त वितरण के अनेक कारण हैं जैसे (१) स्वदेशी बाजार का महत्व बढ़ना, परिवहन की सुविधाओं में वृद्धि तथा देश के आन्तरिक भागों में द्रव्य बाजार की सुविधाओं की प्राप्ति, (२) उत्पादन प्रविधि में विकास जैसा कि कागज के उत्पादन के सम्बन्ध में हुआ, (३) उत्पादकों का विनाशकारी स्पर्धा नीति का सविचार त्याग तथा उद्योगों की स्थापना में सुधार की प्रवृत्ति जैसा कि सिमेन्ट के उद्योग में दिखाई पड़ा है, (४) देशी रियासतों का जो कि 'ख' राज्य कहलाते हैं उद्योगों को अपनी ओर आकृष्ट करने की नीति का अनुसरण करना जिसके अन्तर्गत सब प्रकार की सुविधायें प्रदान करना जैसे श्रम सम्बन्धी उदार-कानून बनाना, तथा उनकी पूँजी में भाग लेना आदि, और (५) हाल में लागू की हुई उद्योगों को इन्डस्ट्रीज एक्ट के अन्तर्गत लाइसेन्स दिये जाने की सरकार की नीति इत्यादि।

सरकार की नीति—१६५१ के उद्योग (विकास एवम् नियम) कानून के अनुसार भारत सरकार को उद्योग के स्थान-निर्धारण पर पूरा नियन्त्रण रखने का अधिकार है। कारखानों को अपनी रजिस्ट्री करनी पड़ती है और अपना उत्पादन या उत्पादन शक्ति में वृद्धि करने से पूर्व आवश्यक अनुमति लेनी पड़ती है। प्रत्येक औद्योगिक इकाई अथवा कारखाने के पास लाइसेन्स होता है। लाइसेन्स देने-वाली समिति लाइसेंस देते समय उद्योग कानून के अंतर्गत कारखानों के आकार-प्रकार और स्थान इत्यादि का निश्चित विवरण देती है। चीनी के कुछ कारखानों को अनुकूल स्थानों पर हटाने के लिए यह समिति पहले ही अनुमति दे चुकी है और सूती मिलों को कपड़े की बुनाई के लिए वहीं नयी शाखा खोलने की अनुमति देना अस्वीकार भी कर चुकी है।

कुछ उद्योगों का लाइसेन्स इसलिये अस्वीकार कर दिया गया है कि जहाँ नया कारखाना खोलने का निश्चय था वहाँ पहले से ही अधिक कारखाने या तो स्थित थे अथवा जो स्थान आवेदन पत्र में कारखाना खोलने का बताया गया था लाइसेन्स देने वाली समिति द्वारा उपयुक्त नहीं समझा गया। लाइसेन्स देने में उन आवेदनों को प्राथमिकता दी जाती है जो किसी नये उपयुक्त स्थान

पर कारखाना खोलने के लिये होती है। उद्योगों के स्थान-निर्धारण की सरकारी नीति का उद्देश्य बड़े कस्बों और नगरों में उद्योगों के अधिक जमाव को घटाना है। सरकार का उद्देश्य है कि जिन राज्यों में पहले ही अपेक्षाकृत अधिक कारखाने खोले जा चुके हैं वहाँ और अधिक कारखानों को स्थापित न होने दिया जाय। इसके विपरीत नये कारखानों को उन क्षेत्रों की ओर आकृष्ट किया जाय जिनका अभी विकास नहीं हुआ है। परन्तु भारतीय उद्योगों के उचित स्थानीयकरण की समस्या केवल लाइसेन्स देने की व्यवस्था से ही हल नहीं की जा सकती है। उद्योगपति पिछड़े हुए और कम विकसित क्षेत्रों में नए कारखाने खोलना नहीं चाहते हैं इसका एक कारण तो उनकी पूर्व धारणा हो सकती है परन्तु वास्तव में बात यह है कि इन क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करने के लिए न बिजली की सुविधा मिलती है, न कच्चे माल की और न उपयुक्त श्रम की। इन पिछड़े और विकसित क्षेत्रों की ओर उद्योगों को आकृष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि (१) इन क्षेत्रों का विकास किया जाय जिससे उद्योगपति इनकी ओर आकृष्ट हो सकें और (२) आरम्भ में उद्योगपतियों को कम से कम कुछ सुविधायें दी जायँ, जैसे भूमि रियायती दर पर दी जाय, रेलवे का भाड़ा कम किया जाय, और जहाँ आवश्यक हो नकद द्रव्य से सहायता की जाय। भारत में उद्योगों के स्थान-निर्धारण की समस्या तभी हल की जा सकती है जब सरकार इन सब बातों को ध्यान में रखकर एक उत्तरोत्तर विकासमान नीति अपनाये।

अध्याय २७

युक्तिकरण

युक्तिकरण उद्योग की कार्यक्षमता मे वृद्धि करने और उत्पादन व्यय को घटाने की लम्बी प्रक्रिया है। किसी उद्योग के युक्तिकरण से अभिप्राय यह है कि कारखाने में पुरानी मशीनो के स्थान पर आधुनिक मशीनें लगाई जाएँ, नए टेक्निकल सुधार किए जाएँ, श्रमिकों की सख्या कम करने के लिए श्रम बचाने के उपायों तथा स्वचालित मशीनो का उपयोग किया जाए और उद्योग को व्यर्थ की प्रतियोगिता से बचाने के लिए उसके सगठन में सुधार करके तथा उसकी व्यवस्था को वैज्ञानिक आधार पर सगठित करके उत्पादन कार्य की गति में वृद्धि की जाय। "युक्तिकरण का अर्थ यह है कि कार्य करने की प्राचीन परिपाटी, निश्चित क्रम तथा अनुभविक नियमो और शोधनो के स्थान पर ऐसे ढग का प्रयोग होने लगे जो कि वर्षों के वैज्ञानिक अध्ययन के परिणाम हैं और जिनका ध्येय साधनों को साध्यों के साथ अधिकतम उपयुक्तता के साथ सयोजित करने का है जिससे कि उत्पत्ति के प्रयत्न की प्रत्येक इकाई का अधिकतम लाभकारी परिणाम हो।"

युक्तिकरण का उद्देश्य उत्पादन-व्यय घटाना, उत्पादित वस्तु की प्रकार में सुधार करना और उत्पादक को हानि उठाने से बचाना है। यदि उद्योग का प्रबन्ध उचित रीति से किया जाय तो युक्तिकरण उपभोक्ता तथा श्रमिकों और उत्पादकों के लिए लाभकारी सिद्ध होगा। परन्तु वास्तव में यह देखा गया है कि युक्तिकरण से प्राप्त लाभ को उत्पादक स्वय ले लेते हैं और वस्तुओं की प्रकार में सुधार करके तथा मूल्यों मे कमी करके उपभोक्ताओं और पारिश्रमिक बढ़ाकर श्रमिकों को लाभ नहीं उठाने देते। श्रमिक युक्तिकरण का विरोध करते हैं, इसकी योजना से उनमे असतोष फैलता है क्योंकि इसका परिणाम बेरोजगारी होता है। श्रमिक यह नहीं चाहते कि स्वचालित मशीनों से तथा श्रम बचाने के अन्य प्रयत्नों को अपनाकर और पुरानी मशीनों के स्थान पर नवीन आधुनिक मशीनों का उपयोग कर अनेक श्रमिकों को बेरोजगार कर दिया जाए। इसी कारण श्रमिकों ने प्रायः युक्तिकरण का विरोध किया है। श्रमिकों की यह मॉग बहुत कुछ न्याय सगत है क्योंकि अतीत में युक्तिकरण का वह पूर्ण लाभ नहीं उठा सके हैं। परन्तु यदि उद्योग के युक्तिकरण से पारिश्रमिक बढ़ता है और उपभोक्ताओं को कम मूल्य

पर वस्तु मिल सकती है तो फिर श्रमिकों द्वारा इस प्रक्रिया के विरोध होने का कोई कारण नहीं रह जाता। बड़े पैमाने के उद्योग केवल युक्तिकरण के द्वारा ही उन्नति कर सकते हैं और तभी श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं की स्थिति सुधर सकती है। यह सत्य है कि युक्तिकरण की योजना लागू करने से आरम्भ में कुछ बेरोजगारी फैलती है परन्तु उत्पादन व्यय और वस्तु का मूल्य कम हो जाने से भविष्य में उपभोक्ताओं की माँग में वृद्धि होगी। इस माग की पूर्ति के लिए उद्योग में और अधिक लोगों को रोजी मिलेगी। इससे स्पष्ट है कि युक्तिकरण योजना लागू होने से फैलने वाली बेरोजगारी अल्पकालीन होती है और उद्योग के उन्नति करने क साथ इसे दूर किया जा सकता है। समस्या वास्तव में श्रमिक की आय और रहन-सहन के स्तर की है। यदि युक्तिकरण के साथ पारिश्रमिक में भी वृद्धि होती है तो इससे श्रमिकों की आय मे वृद्धि होती है और रहन-सहन के स्तर में भी सुधार होता है। इस रूप में इस प्रक्रिया का उद्योग क्षेत्र मे स्वागत करना चाहिए। अत मे यह एक महत्वपूर्ण एवम् विचारणीय प्रश्न है कि यदि भारतीय उद्योग का युक्तिकरण न किया गया तो विश्व बाजार की प्रतियोगिता मे यह विदेशों की सुसगठित उद्योगों की प्रतियोगिता का सामना नही कर सकेगा। यदि श्रमिक युक्तिकरण का विरोध करते हैं तो इसका एक ही परिणाम हो सकता है कि अनेक कारखाने नष्ट हो जाएँगे, उनको बन्द करना पडेगा और इससे अनेक श्रमिक बेरोजगार हो जाएँगे। वास्तव मे हमारे सम्मुख दो स्थितियाँ हैं कि या तो हम इस बात का समर्थन करें कि युक्तिकरण की योजना लागू कर श्रमिकों को सुनियोजित एवम् नियन्त्रित आधार पर नौकरी से पृथक किया जाए और क्रमश नवीन कार्यों मे स्थान दिया जाए या कड़ी प्रतियोगिता का सामना न कर सकने के कारण अनेक कारखाने बन्द करके बड़ी सख्या में श्रमिकों को बेरोजगार होने दिया जाए। हमारे सम्मुख समस्या रोजगार और बेरोजगार की नहीं बल्कि एक प्रक्रिया लागू करने से थोड़े श्रमिकों की थोड़े समय के लिए बेरोजगारी और दूसरी प्रक्रिया द्वारा प्राय सभी श्रमिकों की अधिक समय तक बेरोजगारी की है। हमें इन दो प्रक्रियाओं में से एक को चुनना है।

भारत में जब तक उत्पादित माल की खपत सभव थी और पूर्ति के अभाव के कारण उपभोक्ताओं को विभिन्न वस्तुओं के लिये अधिक मूल्य देना पड़ता था तब तक युक्तिकरण की समस्या सम्भवत. इतनी महत्वपूर्ण नहीं थी। यदि वस्तुओं का मूल्य अधिक रहता तो मिल मालिकों को युक्तिकरण की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता। मिल मालिकों ने प्रति मशीन अधिक व्यक्तियों को कार्य में लगाया और पुरानी तथा व्यर्थ हुई मशीनों से कार्य लेकर भी लाभ उठाया।

परन्तु जब से बाजार में वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि हुई है और उपभोक्ता वस्तुओं का अधिक मूल्य देने को प्रस्तुत नहीं है तब से युक्तिकरण की आवश्यकता में वृद्धि होती जा रही है। मिल मालिक अपनी आवश्यकता से अधिक श्रमिकों को भाग दे सकने में असमर्थ हैं और श्रमिकों के स्थान पर मशीनों का उपयोग अनिवार्य हो गया है। यदि उपभोक्ता वस्तुओं का अधिक मूल्य देने को प्रस्तुत होते तो यह स्थिति उत्पन्न नहीं होती परन्तु उपभोक्ता उसके लिए प्रस्तुत नहीं हैं इसलिए उत्पादित वस्तु का मूल्य कम करने के लिये उत्पादन-व्यय कम करने और अपने लाभ के अंश में वृद्धि करने की दृष्टि से उत्पादक को युक्तिकरण का सहारा लेना पड़ता है।

औद्योगिक विकास समिति की योजना—औद्योगिक विकास समिति ने १९५१ के आरम्भ में युक्तिकरण की समस्या पर विचार किया और इस बात को स्वीकार किया कि उत्पादन व्यय घटाने और भारतीय उद्योग की कार्य क्षमता में वृद्धि करने के लिए युक्तिकरण आवश्यक है। परन्तु समिति ने इसके साथ ही इस बात को भी माना कि श्रमिकों के हितों की रक्षा करना आवश्यक है तथा युक्तिकरण की प्रक्रिया को तीव्र गति से नहीं लागू किया जाना चाहिये। समिति ने निम्नलिखित निर्णय किए :—

(१) युक्तिकरण योजना लागू करने से पूर्व यह आवश्यक है कि इससे बेरोजगार होने वाले श्रमिकों की संख्या यथासम्भव कम करने के लिए कार्यवाही की जावे। युक्तिकरण के फलस्वरूप होने वाली छटनी और बेरोजगारी को कम करने के लिए समिति ने यह सुझाव दिये हैं कि (अ) कर्मचारी की मृत्यु, पद-निवृति इत्यादि के कारण रिक्त स्थानों की पूर्ति कुछ समय के लिए स्थगित कर दी जाय, (ब) अन्य विभागों में कार्य करने वाले अतिरिक्त कर्मचारियों को बिना वेतन में कमी किये हुये और बिना गत नौकरी के क्रम को तोड़े हुये कार्य दिया जाये, (स) स्वेच्छा से कार्य छोड़ने वाले कर्मचारियों को उचित मुआवजा दिया जाये और (द) टेकनिकल सुधारों के कारण बेरोज़गार हुये श्रमिकों को खपाने के लिये जहाँ सम्भव हो कार्य में वृद्धि की जाय।

(२) प्रति इकाई उत्पादन की स्टैन्डर्ड मात्रा निश्चित की जानी चाहिये और श्रमिकों का प्रमाणीकरण होना चाहिये। यदि किसी प्रकार का मतभेद हो तो उसकी जाँच होनी चाहिये और स्टैन्डर्ड दोनों पक्षों के विशेषज्ञों द्वारा निश्चित किया जाना चाहिये।

(३) सम्बन्धित उद्योग की स्थिति और कार्य की मात्रा इत्यादि को और समान उद्योगों के अनुभवों को ध्यान में रखते हुये नई प्रकार की मशीनों को

लगाने से उत्पन्न टेकनिकल परिवर्तनों का कुछ समय तक परीक्षण किया जाना चाहिये।

(४) जिन श्रमिकों की छटनी की जाय उनके पुनर्वास के लिए सरकार को एक योजना बनानी चाहिए। श्रमिकों को ट्रेनिंग देने और ट्रेनिंग की अवधि में जीवन-निर्वाह की व्यवस्था करने की योजना मालिकों तथा श्रमिकों द्वारा संयुक्त रूप से निर्माण की जानी चाहिए।

(५) वेतन अथवा पारिश्रमिक में वृद्धि करके श्रमिक को भी युक्तिकरण के लाभ मे से भाग देना चाहिए।

इस योजना मे युक्तिकरण के महत्व पर स्पष्ट रूप से जोर दिया गया है परन्तु उसके दुष्परिणामों जैसे बेरोजगारी, श्रमिकों का शोषण और अधिक कार्य लेकर भी वेतन में वृद्धि न करने की समस्या को टालने का प्रयत्न किया गया है। मालिकों तथा श्रमिकों के प्रतिनिधियों ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। विभिन्न राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों मे उद्योगों के युक्तिकरण की योजनाओं का परीक्षण कर रही हैं। उत्तर प्रदेश में इस समस्या पर त्रिदलीय श्रम सम्मेलनों में विचार किया गया है और सूती तथा चीनी उद्योग के युक्तिकरण का विशेषज्ञों ने वैज्ञानिक आधार पर अध्ययन किया है।

अपील पंचन्यायालयों के निर्णय—भारत में श्रम अपील पचन्यायालय के निर्णयों में दिये गये सिद्धान्तों के आधार पर ही भारतीय उद्योगों मे श्रमिकों की छटनी की जाती है। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार यह निश्चय किया जाता है कि किस प्रकार और कितने श्रमिकों की छटनी की जाय। पचन्यायालय के निर्णयों में कहा गया है कि छटनी करने का पूर्ण उत्तरदायित्व उद्योग के व्यवस्थापकों पर है। यदि उद्योग के व्यवस्थापक युक्तिकरण अथवा बचत करने या अन्य पर्याप्त कारणों के आधार पर यह सिद्ध कर देते हैं कि छटनी की जानी चाहिए तो इसके पश्चात् इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि किसी सीमा तक छटनी की जायगी, इस विषय में इस बात पर भी विचार किया जाना चाहिए कि क्या व्यवस्थापकों द्वारा श्रमिकों की छटनी न्यायसगत कार्यवाही है, कहीं वह अपने अनुचित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तो छटनी नहीं कर रहे हैं। छटनी करने के परिणाम स्वरूप बचे हुये कार्य करने वालों पर कार्य भार बढ़ाना मिल मालिकों की श्रमिकों के प्रति अनीति और अन्याय तथा स्वार्थ का एक उदाहरण है। छटनी करने की अनुमति केवल तभी दी जाती है जब यह सिद्ध हो जाता है कि व्यवस्थापकों की मॉग न्यायसगत है, उसका उद्देश्य अनुचित स्वार्थ साधन नहीं है और किसी गुप्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए छटनी नहीं की जा रही है।

इसके साथ ही यह भी व्यवस्था की गई है कि छटनी लागू करने में व्यवस्थापकों को दो महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को मानना पडेगा—(१) नई भर्ती के श्रमिक की छटनी पहले की जायगी और (२) यदि उद्योग में नई भर्ती हो और यदि छटनी में निकाले गये योग्य श्रमिक प्राप्त हो सके तो नियुक्ति में उन्हें प्राथमिकता दी जायगी। अपील पचन्यायालय के निर्णयों में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि कोई कम्पनी केवल लाभांश कम हो जाने के कारण अपने श्रमिकों की छटनी नहीं कर सकती है यदि बाजार में उत्पादित माल की माँग कम है या कच्चे माल के अभाव के कारण व्यापार में अल्पकालीन गतिरोध आ जाय तो ऐसी स्थिति में मालिक को श्रमिकों की छटनी कर उनकी आय छीन लेने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। यदि उद्योग अथवा कम्पनी के स्थायी आदेशों में व्यवस्था हो तो मालिक ऐसी स्थिति मे मास मे कुछ दिन कारखाने मे बैठकी करा सकता है। स्थायी आदेशों के अनुसार बैठकी कराने से ३३ वीं धारा का उल्लघन नहीं होता है। घाटे पर चलने वाले कारखाने को बन्द कर देने का मालिक को पूरा अधिकार है परन्तु यदि पचन्यायालय के सम्मुख मामला प्रस्तुत होने की अवधि में ऐसी स्थिति आ जाय तो कारखाना बन्द करने के लिए न्यायालय से अनुमति लेनी आवश्यक है।

अपील पचन्यायालय के निर्णयों के आधार पर विकसित प्रणाली काफी सतोषजनक रही है परन्तु श्रमिकों की शिकायत है कि (अ) मालिक अपनी स्थिति का दुरुपयोग करते हैं और आवश्यकता न रहते हुए भी श्रमिकों की छटनी की जाती है और (ब) इससे काफी बड़ी सख्या में श्रमिक बेरोजगार हो गये हैं। इसके विपरीत मालिकों की शिकायत है कि उन पर अनेक ऐसे प्रतिबन्ध लगाये गये हैं जिससे उत्पादन व्यय को कम नहीं किया जा सका है और आवश्यकता न रहते हुए भी उन्हें अधिक श्रमिकों को कार्य पर लगाये रखना पडता है।

सरकारी नीति—भारत सरकार की नीति युक्तिकरण को प्रोत्साहित करने की है (अ) यदि किसी उत्पादन इकाई के मालिक और श्रमिक दोनों परस्पर इस बात को स्वीकार करते हैं अथवा (ब) औद्योगिक विकास समिति की योजना के अनुसार युक्तिकरण आवश्यक है और अपील पचन्यायालय के निर्णयों के अनुकूल है। इन निर्णयों में यह भी दिया हुआ है कि श्रमिक को अल्पकाल के लिये कार्य से पृथक कर देने के बदले में अथवा छटनी कर देने के बदले मे हरजाना देना पडेगा। जब तक कोई मिल मालिक आवश्यक हरजाना देता है और दी हुई सपूर्ण बातों को स्वीकार करता है तो युक्तिकरण में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। मार्च १९५४ में लोक सभा के तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि

देशमुख ने केन्द्रीय सरकार के बजट पर वादविवाद का उत्तर देते हुये कहा था कि —

"संगीत उद्योगों में २५ लाख से कुछ थोड़े से अधिक व्यक्ति लगे हुये हैं जिनके सम्बध में युक्तिकरण का प्रश्न उठाया जाता है। यह तो सर्वविदित है कि उद्योगों मे रोजगार के अवसरों की पर्याप्त वृद्धि किये बिना कुशल व्यवस्था की प्रवृत्ति बढ़ने के कारण तथा जन संख्या की वृद्धि के फलस्वरूप श्रमिकों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या को कार्य देना सम्भव न हो सकेगा। इसके अतिरिक्त ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत अत्यधिक संख्या में ऐसे व्यक्ति भी हैं जिन्हें पूर्ण शक्ति भर कार्य करने का अवसर नहीं प्राप्त है। इस बात से तो सभी सहमत होंगे कि प्रौद्योगिक विकास के प्रति अदूरदर्शिता का परिचय देते हुये कार्य करने के अवसर मे वृद्धि करना उचित न होगा। मेरा ऐसे विश्वास है कि युक्तिकरण द्वारा अस्थायी रूप से स्थानान्तरित व्यक्तियों की जो क्षति होती है वह जनता के हित के लिये आर्थिक व्यवस्था के प्रसार की नीति द्वारा पूर्ण हो जाती है। यह इस बात का एक और उदाहरण है जिसमें सामाजिक न्याय की वांछनीयता को आर्थिक महत्ता के आगे झुकना पड़ता है"।

"सभासदों को यह तो ज्ञात होगा ही कि हाल में ऐसे कानून बना दिये गये हैं जिनके अन्तर्गत श्रमिकों को अवकाश प्राप्त करने पर सहायता तथा कार्य करने के काल मे यदि अस्थायी रूप से कार्य से पृथक होना पड़े तो भी उसका हरजाना दिया जायगा। सभा सदों को स्मरण होगा कि एक उद्योग विशेष में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि सरकार ने लोक सभा की बैठक का समय न होने के कारण अध्यादेश द्वारा इन कानूनों को प्रचलित कर दिया था। इससे यह स्पष्ट है कि सरकार ऐसे श्रमिकों के हित की रक्षा के लिये जो छटनी के अन्तर्गत आ गये हैं बहुत अधिक महत्व देती है। मैंने पहिले भी कहा है कि अस्थायी रूप से अपने कार्य पर से हटाये हुये श्रमिकों की कठिनाइयों को दूर करने के लिये जो कुछ सम्भव हो, किया जाना चाहिये, पर मेरा मत है कि हमें ऐसी नीति का अनुसरण न करना चाहिये जिससे प्रौद्योगिक विकास अवरुद्ध हो जाय और कार्य करने के अवसरों का विकास भी रुक जाय। किसी भी समय हर उद्योग मे विभिन्न क्षमता वाले अनेक उपक्रम उत्पादन-कार्य करते रहते है। उनमे से कुछ तो हाल में ही आरम्भ किये हुये होते हैं या आरम्भ होते रहते हैं, कुछ मे प्रसरण और कुछ में संकुचन की प्रवृत्ति लक्षित होती है और कुछ की ऐसी स्थिति होती है कि उनका अन्त होता रहता है। इसलिये उद्योग के समुचित विकास और वृद्धि के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक उपक्रम द्वारा अपनी परिस्थिति के अनुसार नियुक्त श्रमिकों

की सख्या के सम्बन्ध मे कुछ लोच अवश्य रहे। हमें कुल कार्य करने के अवसरों के योग पर विशेष ध्यान देना चाहिये। वह नीति जो अपने आश्वासनों द्वारा छटनी असभव करती है नये ढगों से अन्य उपक्रमो द्वारा उत्पादन के विकास और वृद्धि को निश्चय ही रोक देगी और सभवत उसके द्वारा देश की आर्थिक व्यवस्था को जिसमें श्रमिक अवश्य सम्मिलित हैं उस क्षति की तुलना में जिसे बचाने का प्रयत्न किया जा रहा है कहीं अधिक क्षति पहुँचावेगी"।

भारत के वित्त मन्त्री द्वारा स्थिति का यह ऐतिहासिक वर्णन इस बात को स्पष्ट करता है कि हमें एक या दो उपक्रमो मे छटनी किये जाने से चिन्तित नही होना चाहिये, वरन् हमें सम्पूर्ण स्थिति को विस्तृत दृष्टिकोण से देखना चाहिये। यदि हम ऐसा करेंगे तो युक्तिकरण हमारे लिये (१) बढती हुई जन-सख्या के लिये कार्य के अवसर प्रदान करने का, (२) श्रमिकों की आय तथा उनके रहन-सहन के स्तर को बढाने का और (३) उद्योगो की उत्पादन लागत कम करने तथा प्रौद्योगिक विकास निश्चय करने का साधन होगा। परन्तु यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत श्रमिकों की आवश्यक कठिनाइयों से रक्षा की जाय। इस सबन्ध में कार्य से पृथक किये जाने पर हरजाना देने का कानून द्वारा ही प्रबन्ध कर दिया है और उस श्रमिक विशेष के लिये अन्य कोई कार्य ढूढ लेने का भी प्रयत्न किया जाना चाहिये।

सूती मिल उद्योग—१९२६-२७ में प्रशुल्क मण्डल ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया कि सूती मिल उद्योग में आवश्यकता से अधिक पूँजी एकत्र हो रही है और उसमें आवश्यकता से अधिक श्रमिक लगे हुए हैं। बोर्ड के कथनानुसार १९१७ और १९२१ के मध्य उद्योग की कुल पूँजी २०.८४ करोड़ से बढकर ४०.९८ करोड़ हो गई जो उस समय उद्योग की मशीन इत्यादि सपत्ति को देखते हुए बहुत अधिक थी। बोर्ड इन सब बातो का अध्ययन कर इस परिणाम पर पहुँचा कि भारतीय सूती मिलों में श्रम का पूर्ण उपयोग नही किया जा रहा है। भारत में एक श्रमिक १८० तकुओं मे कार्य करता है जब कि जापान का श्रमिक २४० में, इङ्गलैंड का श्रमिक ५४० से ६०० मे और अमरीका का श्रमिक ११२० तकुओं में कार्य करता है। भारत मे प्रत्येक बुनकर के पास औसतन २ कर्घे हैं जब कि इनकी सख्या जापान मे २½, ब्रिटेन मे ४ से ६ और अमरीका मे ९ हैं। इन दोषों के कारण भारतीय सूती मिलो मे उत्पादन व्यय अधिक होता है। प्रशुल्क मडल की सिफारिशो के आधार पर सूती मिल उद्योग ने बबई की कुछ मिलों में लागू करने के लिए युक्तिकरण की एक योजना निर्माण की। इस योजना की विशेषता यह थी कि एक व्यक्ति एक के स्थान पर दो कातने की मशीन चलाएगा और

एक बुनकर दो के स्थान पर ३ या ४ कर्घे चलायेगा। परन्तु श्रमिकों ने इस योजना का विरोध किया और इसे लागू नहीं किया जा सका। १९३२ में जाँच करने के पश्चात् प्रशुल्क मण्डल ने पता लगाया कि यदि यह योजना लागू की गई होती तो उत्पादन व्यय में १७ से २० प्रतिशत तक कमी हो जाती। सूती मिल उद्योग ने उत्पादित वस्तु के प्रमाणीकरण, क्रय और विक्रय, व्यवसाय के पुर्नसगठन और आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त मशीनों को अलग करने के लिए ७ मैनेजिंग एजेन्सियों को एक में एकत्रित करने की योजना निर्माण की। इन एजेन्सियों के पास ३४ मिलें थीं। इस योजना में यह व्यवस्था की गई थी कि प्रत्येक मिल को पूर्व निर्धारित मूल्य पर ले लिया जायगा, मूल्य साधारण शेयरों में दिया जायगा, न बिके हुये माल का स्टाक बाजार भाव पर क्रय कर लिया जायगा और नाम के लिए कुछ धनराशि नहीं दी जायगी। परन्तु वित्त के अभाव के कारण योजना कार्यान्वित नहीं की जा सकी।

इन योजनाओं के विफल हो जाने पर भी सूती मिल उद्योग ने निरन्तर युक्तिकरण योजना लागू करने का प्रयत्न किया है। बम्बई श्रम समिति द्वारा प्रचलित की गई प्रश्नावली के उत्तर मे बम्बई मिल मालिक सघ ने इस बात पर महत्व दिया कि भारतीय उद्योग ने उत्पादन मे सभी आधुनिक उपायों को अपनाया है। अनेक सूती मिलों की पूँजी भी घटाई गई और १९२७ और १९४० के बीच सूती मिल उद्योग ने प्रशुल्क मण्डल के सुझाव के अनुसार मोटे और घटिया प्रकार के कपड़े के स्थान पर अच्छे प्रकार के कपड़ों का उत्पादन बढ़ाने की नीति अपनाई। परन्तु इस सुधारों के होते हुये भी सूती कपड़ा उद्योग की उत्पादन क्षमता कम है और उसके युक्तिकरण की आवश्यकता है। सूती मिल उद्योग सम्बन्धी वर्किंग पार्टी ने १९५२ में यह पता लगाया था कि लगभग १५० वर्तमान सूती मिलें जो कि कुल मिलों की सख्या की लगभग ३३ ६% थीं, आर्थिक दृष्टिकोण से अनुपयुक्त और हीन क्षमता वाली मिलें थीं। ब्लोरूम के वाइन्डिंग विभाग में तथा रगाई विभाग मे जिन मशीनों का प्रयोग हो रहा है वे अनुपयुक्त थीं। इस प्रकार कर्घों की सख्या के सम्बन्ध मे जो प्रत्येक श्रमिक की देखरेख में था वर्किंग पार्टी ने पता लगाया था कि दिल्ली की एक मिल मे और मद्रास की दो मिलों मे स्वचालित कर्घे ही लगाये गये हैं और एक एक बिनने वाला श्रमिक ४, ६, ८ और १६ कर्घों पर कार्य करता है। अहमदाबाद की एक मिल में १८ कर्घों पर एक श्रमिक और बम्बई की एक अन्य मिल में ६ कर्घे पर एक श्रमिक कार्य करता है। फिर भी अधिकाश मिलें उत्पादन क्षमता में हीन हैं और पुरानी मशीनो का प्रयोग करती हैं।

वर्किंग पार्टी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि उन मिलों का कार्य जो स्वचालित कर्घों का प्रयोग कर रही है सतोषजनक हैं। अन्य मिलों में भी स्वचालित कर्घों के आधुनिक और मशीनों के प्रयोग किये जाने तथा उत्पादन का युक्तिकरण करने की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है। सितम्बर १९५४ में कानूनगो कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि उद्योगों के सभी विभागों जैसे मिलों, शक्ति सचालित कर्घों, हाथ कर्घों आदि का युक्तिकरण १५ वर्षों के अन्तर्गत हो जाना चाहिये। वर्किंग पार्टी ने युक्तिकरण की अवधि केवल १० वर्ष ही रक्खी थी।

उत्तर प्रदेश में कानपुर की सूती-मिलों को विशेष कठिनाइयों का सामना इसलिये करना पड रहा है कि उन्होने अपनी आवश्यकता से अधिक श्रमिकों को लगा रक्खा है। इससे यहाँ की मिलों का उत्पादन व्यय देश के अन्य भागों की मिलों की अपेक्षा बहुत अधिक है। यदि इनमे युक्तिकरण न किया गया तो इन मिलो के बन्द हो जाने का भय है। यह बडे सौभाग्य की बात है कि श्रमिक और मालिक दोनो ही ने जून १९५४ में नैनीताल में हुई त्रिदलीय सभा में इस बात को स्वीकार किया था कि कानपुर की सूती मिलो के उत्पादन का युक्तिकरण किया जाना चाहिये। इसका अर्थ यह होगा कि प्रत्येक श्रमिक, जैसा कि बम्बई में हो रहा है, दो कर्घों के स्थान पर चार कर्घों पर कार्य करेगा और कार्य भार की मात्रा मे भी सामान्यत. वृद्धि हो जायगी। इससे मिलों का बन्द होना रुक जायगा और श्रमिकों को बरबस बेकार न रहना पडेगा। इस योजना के सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन श्रम मत्री सम्पूर्णानन्दजी ने कहा था कि, "हाल में सेन्ट्रल डिस्प्यूट्स एक्ट में जो सुधार हुआ है उसने मालिकों के लिये अतिरिक्त श्रमिकों की छटनी करना हरजाना देकर अपेक्षाकृत अधिक सरल कर दिया है। अनेकों मिल मालिक इसमें अपना लाभ देखेंगे कि वे छटनी करके हरजाना देकर अपने मिल मे स्थायी बचत कर लें। हमारी समस्या उन श्रमिकों की किसी प्रकार रक्षा करने की है जिनके छाँट दिये जाने का भय है। सरकार को युक्तिकरण की ऐसी योजना बनाने के निर्णय पर, जिसके अन्तर्गत ५००० और ६००० के मध्य अनुमानित छाट दिये जाने वाले श्रमिकों को कार्य करने का अवसर प्राप्त हो सके, इस पृष्ठभूमि के समक्ष विचार करना चाहिये"। कानपुर की अनेक मिलें जो अभी तक बडी कठिनाई से दो शिफ्ट में कार्य कर पा रही थीं अब तीन शिफ्ट में कार्य कर सकेंगी जिससे कार्य करने के अधिक अवसर प्राप्त हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त युक्तिकरण की यह योजना कानपुर के सूती कपड़ा उद्योग के श्रमिकों की औसत पारिश्रमिक जिसमें मँहगाई भी सम्मिलित होगी, ८५ रु० से बढाकर ११५ रु० प्रति मास और विशेष क्षमता वाले श्रमिकों के लिये १५० रु० प्रति मास कर सकेगी।

जूट उद्योग—जूट उद्योग भारत का सर्वाधिक सुसंगठित उद्योग है और आरम्भ मे ही इस उद्योग ने यह नीति अपनाई है कि मशीनो का प्रयोग रोक कर तथा प्रति सप्ताह कम घन्टे कार्य करवा कर उत्पादन की मात्रा को आवश्यकता अधिक न होने दे ताकि बिना बिका माल स्टाक मे एकत्रित न होने पावे। द्वितीय विश्व युद्ध से पूर्व जूट उद्योग के पास औद्योगिक साधन बाजार की कुल सेमाँग से कहीं अधिक थे। यह अनुमान लगाया गया था कि बाजार की कुल माग को जूट उद्योग अपनी कुल मशीनों मे से केवल एक चौथाई का उपयोग करके पूरा कर सकता है। परन्तु वर्तमान स्थिति बिल्कुल भिन्न है। यह आशा की जाती है कि भविष्य मे जूट के सामान की माँग में वृद्धि होगी और जूट मिलों में इस समय जितनी मशीनें है उन सब का उपयोग करना पड़ेगा। परन्तु योजना आयोग ने प्रथम पचवर्षीय योजना मे जूट उद्योग का और प्रसार करने की कोई व्यवस्था नहीं की है। वार्षिक वास्तविक उत्पादन शक्ति १९५५-५६ मे भी १२ लाख टन ही रहेगी। १९५०-५१ में भी उत्पादन शक्ति इतनी ही थी। यदि उद्योग अपनी पूरी शक्ति से उत्पादन करे तो सारा उत्पादित माल घरेलू माँग और निर्यात करने मे खप जायगा।

१९४२ की गर्मियों में भारत सरकार ने भारतीय जूट मिल मालिक सघ को सुझाव दिया था कि कोयले तथा परिवहन का सरक्षण करने के लिए उद्योग का युक्तिकरण आवश्यक है। सरकार के कथनानुसार रेलवे विभाग जूट उद्योग के कुल वास्तविक उत्पादन को पश्चिमी भागों तक ले जाने की व्यवस्था कर सकने में असमर्थ था। जाँच करने पर पता चला कि जूट की वस्तुओं की कुल माग, जिनमें देश के अन्दर का उपभोग भी सम्मिलित है, लगभग ५५ हजार टन प्रति मास होगी जब कि कुल ९५ हजार टन माल का उत्पादन किया जा रहा था। इससे स्पष्ट था कि उत्पादन में कमी की जानी चाहिए। भारत सरकार ने सुझाव दिया कि उत्पादन कम करने के लिए केवल उन्हीं मिलों में उत्पादन कराया जाय जिनमें विद्युत सचालित मशीनें हैं। भारतीय जूट मिलों ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया और युक्तिकरण की एक नवीन योजना लागू कर दी जिसके अनुसार व्यय की बचत करने के लिए कोयले के केन्द्रीय स्टाक स्थापित किए गये और कोयले की उपलब्ध मात्रा की पूर्ति को नियन्त्रित किया गया। तदपश्चात् एक 'समूह योजना' लागू की गई जो १ जुलाई १९४४ से ३१ मार्च १९४६ तक प्रचलित रही। युक्तिकरण की इस योजना से उद्योग कोयले के व्यय में बचत करने में सफल हुआ और कुछ मिलों को युद्ध की परिस्थितियों से विवश होकर जो हानि उठानी पड़ी उसका और अधिक समान वितरण किया जा सका।

वर्तमान समय में अपनी पुरानी और घिसी हुई मशीनों को परिवर्तन करने के लिए और अन्यदेशो के उद्योगों की भाँति उत्पादन के बिलकुल आधुनिक उपायो का उपयोग करने के लिए जूट उद्योग को युक्तिकरण की योजना लागू करने की अत्यन्त आवश्यकता है। चूँकि भारत के जूट उद्योग को विदेशी उत्पादकों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है इसलिए अन्य देशो द्वारा प्रयुक्त प्राविधिक कुशलताओ का यहाँ भी उपयोग किया जाना चाहिए। भारत की कुछ मिलों ने आधुनिक मशीनो का उपयोग आरम्भ कर दिया है। उत्पादन व्यय कम करने के लिए अन्य उद्योगों को भी ऐसा करने की आवश्यकता है। इन योजनाओ को कार्यान्वित करने में दो सब से बड़ी कठिनाइयाँ यह हैं कि (१) इनके लिए ४० से ४५ करोड़ रुपये की आवश्यकता है, जो वर्तमान समय से उपलब्ध कर सकना कठिन है और (२) इन योजनाओं के कार्यान्वित हो जाने से लगभग ४० हजार श्रमिक बेरोजगार हो जायँगे।

कोयला उद्योग—कोयला उद्योग मे कोयले की छोटी-छोटी और आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त खानों को सम्मिलित कर एक बड़ी इकाई का रूप देने, विभिन्न उपायो से धातुशोधन के कार्य आनेवाले बढ़िया कोयले का संरक्षण करने और कोयले की खानों में मशीनों का उपयोग करने के लिए युक्तिकरण की योजना लागू करना आवश्यक है।

कोयला उद्योग में मशीनो का उपयोग करने से अभिप्राय यह है कि खान मे कोयला काटने और उसे नियत स्थान तक ले जाने के लिए मशीनो का प्रयोग किया जाय और कोयला निकालकर नियत स्थान तक ले जाने की दोनों क्रियाएँ साथ-साथ हों। भारत में मशीनों का प्रयोग अभी बहुत कम हुआ है। १६४४ मे कोयला निकालने की २१० मशीनें थीं जिनसे २१ लाख टन कोयला निकाला जाता था। १६३८ में इस प्रकार की केवल १८६ और १६३५ में केवल ६५ मशीनें थीं। १६५१ के मध्य तक भारत मे ३७४ मशीनों से प्रति मास लगभग ५ लाख ६० हजार टन कोयला (अर्थात् ७० लाख टन कोयला प्रतिवर्ष) निकाला गया जो औसत मासिक उत्पादन का लगभग १९६ प्रतिशत था। भारतीय कोयला-खान समिति ने १६४६ मे सिफारिश की कि भारतीय कोयले की खानो में मशीनो का उपयोग किया जाना चाहिए क्योंकि मशीनो के उपयोग से ही उत्पादन शीघ्र बढ़ाया जा सकता है जो कि भविष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान मे मशीनो के उपयोग के प्रति थोड़ी प्रतिकूलता होने के कारण शायद सस्ते श्रम की उपलब्धि है। जब श्रम महँगा पड़ने लगेगा, पारिश्रमिक बढ़ने लगेगा तो अवश्य ही इस प्रतिकूलता में परिवर्तन होगा और तब मशीन और श्रम के बीच

उपयोगिता की दृष्टि से विचार कर उपयुक्त साधन छाँटने के सम्बन्ध में निर्णय किया जा सकेगा। कोयला उद्योग के सम्बन्ध में १६५० में वर्किङ्ग पार्टी ने सुझाव दिया कि खानों में मशीनों का उपयोग करने से ही सुनियोजित उपाय से शीघ्र उत्पादन बढ़ाया जा सकता है और भविष्य में देश के औद्योगीकरण की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है। सम्पूर्ण व्यवस्था का सन्तुलित विकास करने के लिए खानों मे शीघ्र ही मशीनें नहीं लगानी चाहिएँ। इसके लिए एक अवधि निश्चित की जानी चाहिए। यह उचित नहीं है कि एक साथ सभी खानों में मशीनों की सहायता से उत्पादन आरम्भ कर दिया जाय। इसके लिए एक एक खान करके प्रगति करनी होगी। क्रमश. मशीनों का उपयोग बढ़ाने पर भी कोयले की खान के श्रमिकों में बेरोजगारी फैल सकती है। वर्किङ्ग पार्टी इस परिणाम पर पहुँची कि खानों में मशीनों का उपयोग करने में बेरोजगारी के भय से बाधा उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। मशीनों के उपयोग से हानियों की अपेक्षा लाभ कहीं अधिक हैं। इसकी सफलता के लिए वर्किङ्ग पार्टी ने सुझाव दिया है कि (१) छोटी छोटी कोयले की खानों को कम से कम १० हजार टन प्रति मास उत्पादन करने वाली इकाई के रूप में सगठित कर दिया जाय और (२) कोयले की खानों मे लगाई जानेवाली मशीनों का भारत मे ही निर्माण किया जाय।

भारत के अधिकाश उद्योगों में कम मे कम तीन क्षेत्रों मे युक्तिकरण की योजना लागू करना अत्यन्त आवश्यक है (१) कारखानों के स्थानीकरण में सुधार, जैसे चीनी और कुछ सीमा तक लोहे तथा इस्पात के कारखानों में। १६५१ के उद्योग (विकास एवम् नियमन) कानून के अन्तर्गत स्थापित लाइसेन्सिंग समिति ने पूर्व मे ही चीनी के कुछ कारखानों को अधिक अच्छे स्थान पर हटा लेने की अनुमति दे दी है। लोहे और इस्पात उद्योग के सम्बन्ध में आशा की जाती है कि नये लोहे और इस्पात के कारखानें नये स्थानों पर स्थापित किए जायँगे, (२) उत्पादन के उपायों में सुधार, जैसे गन्धक का व्यय कम करने के लिए चीनी उद्योग में, धातुशोधन के काम आने वाले बढ़िया कोयले को बचाने के लिए लोहे तथा इस्पात के उद्योग मे और उत्पादित माल का प्रकार सुधारने तथा उत्पादन व्यय घटाने के लिये उत्पादन के ढग में सुधार करने की आवश्यकता है, (३) कारखानों का आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त ढाँचा निश्चित करने के लिए प्रति मशीन पीछे कार्य करने वाले श्रमिकों की सख्या मे कमी करने की आवश्यकता है। भारत के लोहे तथा इस्पात, चीनी, सूती, कपड़ा, जूट तथा अन्य उद्योगा में प्रत्येक मशीन पर आवश्यकता से अधिक श्रमिक नियुक्त किये जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन व्यय अधिक होता है और उद्योग की

अध्याय २८

बेरोजगारी की समस्या

V५० ·

यह आश्चर्यजनक बात है कि आर्थिक दृष्टि से बहुत कम विकसित देश मे वस्तुओं और विभिन्न प्रकार के सेवा कार्यों के अभाव के साथ बेरोजगारी हो और बहुत बड़ी मात्रा मे श्रम-शक्ति अप्रयुक्त पड़ी हो। भारत आर्थिक दृष्टि से बहुत कम विकास कर सका है परन्तु यहाँ बेरोजगारी भीषण रूप धारण किए हुए है। इस कारण भारत की राष्ट्रीय आय बहुत कम है, रहन-सहन का स्तर बहुत निम्न है और जनता दुखी तथा असन्तुष्ट है। भारत मे केवल शिक्षित लोगों और उद्योगो तथा कृषि क्षेत्र मे कार्य करने वाले श्रमिकों को ही बेरोजगारी का सामना नहीं करना पड़ रहा है वरन् नागरिक एवम् ग्रामीण क्षेत्र की प्रायः सम्पूर्ण जनता इसके चगुल में फँसी हुई है। पाश्चात्य देशों में भी बेरोजगारी है परन्तु उसका कारण व्यापार मे मन्दी आ जाने से कुछ समय के लिए वस्तुओं के माँग की कमी है। इसके साथ ही वहाँ कुछ ऐसे कारखाने हें जो वर्ष मे कुछ मास चलने के पश्चात् शेष मास बन्द रहते हैं और इन मासों में वहाँ बेरोजगारी फैल जाती है। प्राय एक कार्य छोड़ने के पश्चात् तुरन्त दूसरा कार्य नहीं मिल पाता और इस बीच की अवधि मे भी एक प्रकार की अस्थायी बेरोजगारी रहती है तथा अन्य प्रकार की अल्पकालीन बेरोजगारी होती है।

भारत में बेरोजगारी तथा आशिक रोजगारी अधिकाश जनता के जीवन का स्थायी अग बन चुके है। इसका कारण यह है कि देश की जन-सख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है और देश के आर्थिक साधनो का बहुत कम विकास किया गया है। गत कुछ वर्षों से इस समस्या ने गम्भीर स्थिति उत्पन्न कर ली है। प्रथम पचवर्षीय योजना मे इसके निम्नलिखित कारण बताए गए हैं :—

(अ) जन-सख्या की तीव्र गति से वृद्धि,

(ब) ग्राम्य उद्योगो का नष्ट हो जाना जिनमे ग्रामों के बहुत से व्यक्तियों को आशिक व्यवसाय प्राप्त हो जाता था,

(स) व्यवसाय की दृष्टि से कृषि के अतिरिक्त अन्य उत्पादन क्षेत्रो का अपर्याप्त विकास (यद्यपि गत ४० वर्षों मे काफी विकास हुआ है फिर भी १९११ के पश्चात् कृषि क्षेत्र में व्यवसायो को स्वीकार करने की प्रवृत्ति ३ प्रतिशत रही है),

(द) देश-विभाजन के परिणाम स्वरूप जन-संख्या का बहुत बड़ी संख्या मे विस्थापित होना।

आंकड़ो के अभाव मे यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता है कि भारत मे बेरोजगारो या आंशिक व्यवसाय प्राप्त व्यक्तियों की संख्या कितनी है। कुछ अधिकारियो का अनुमान है कि ग्रामो मे जन-संख्या का लगभग ३० प्रतिशत बेरोजगार है और ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है जो आंशिक रूप से रोजगार पाए हुए है। अन्य अनुमानो के अनुसार देश की कुल जन-संख्या ग्रामीण एव नागरिक दोनो क्षेत्रों मे बेरोजगार और आंशिक व्यवसाय प्राप्त व्यक्तियो की संख्या ५ या ६ करोड़ के बीच में है। यह बेरोजगारी की बहुत बड़ी संख्या है। पश्चिम के कुछ काफी विकसित देशों मे समृद्धि के समय कुल जितने व्यक्तियों को व्यवसाय प्राप्त है उनके एक से तीन प्रतिशत से भी कम व्यक्ति बेरोजगार रहे हैं। परन्तु भारत की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। भारत के समृद्धि काल में व्यवसाय प्राप्त व्यक्तियों के अनुपात में बेरोजगारो की संख्या पाश्चात्य देशो के अधिकतम मन्दी के काल की तुलना मे कहीं अधिक है।

"भारतीय समस्या का सम्बन्ध देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की प्रकृति से है। इसलिये इस पर विचार इसी दृष्टिकोण से किया जाना चाहिये। शिक्षित वर्ग की बेकारी की विशेष महत्ता के प्रदर्शन से, जो कि स्वाभाविक भी है, इस वर्ग के विशेष मुखरित होने और राजनैतिक प्रभाव डालने की क्षमता रखने के कारण हम भ्रान्ति मे पड़ सकते हैं। वर्तमान स्थिति में सबसे अधिक हानि उठाने वाले भूमि हीन कृषि तथा गैर-कृषि ग्राम्य श्रमिक, नगर में रहने वाले सामयिक श्रमिक, ग्राम्य तथा नगर के छोटे-छोटे उद्योगो मे कार्य करने वाले श्रमिक, तथा फुटकर कार्य करने वाले दस्तकार इत्यादि हैं। इन सब से वे श्रमिक जो आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से हीन है सबसे अधिक हानि उठाते हैं। सामाजिक दृष्टिकोण से पददलित जातियाँ, आदिवासी तथा निकृष्ट दस्तकारी का कार्य करने वाले व्यक्ति हैं"।

पाश्चात्य देशों मे बेरोजगारी एक अस्थायी समस्या के रूप में होती है और सरकार तथा मिल मालिकों द्वारा ठीक समय पर कार्यवाई कर देने से उसके हल हो जाने की आशा रहती है परन्तु पाश्चात्य देशो मे प्रयुक्त उपायों द्वारा भारत की समस्या का हल नहीं किया जा सकता। भारत मे इस समस्या को दीर्घ कालीन दृष्टिकोण से हल करने के लिए यह आवश्यक होगा कि कृषि की भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाने के साथ ही जनता को सुनियोजित करने और उस पर नियन्त्रण रखने, भूमि की उर्वरता मे वृद्धि करने तथा औद्योगिक सम्भावनाओं को विकसित

करने की आवश्यकता है। किसी भी सरकार से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह प्रतिवर्ष १½ प्रतिशत की दर से बढ़ने वाली जन सख्या को व्यवसाय दे सकेगी जब कि व्यवसाय के साधनो मे भी इसी गति से वृद्धि नहीं होती। चूँकि प्रवास के द्वारा जन सख्या की समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता है इसलिए सभी को व्यवसाय का न्याय सगत अवसर प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि भूमि पर और औद्योगिक साधनो पर जन सख्या के दबाव को कम करने के लिए जनसख्या से वृद्धि को रोका जाए। परन्तु इस व्यवस्था को लागू करने में अधिक समय लगेगा और बेरोजगारी की समस्या को इतने समय तक बिना हल किए छोड़ देना सभव नहीं है।

प्रथम पचवर्षीय योजना ने कुछ नये व्यवसाय के अवसर प्रदान किये थे। परन्तु योजना के तीसरे वर्ष से निरन्तर बेकारी के बढ़ते रहने के कारण आयोग को यह स्पष्ट हो गया कि देश के औद्योगिक और आर्थिक विकास द्वारा इस समस्या के सुलझाने के उपाय को सर्व-प्रधानता देनी आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण से प्रथम योजना पर व्यय की जाने वाली धन राशि अक्टूबर १९५३ में १८० करोड़ रुपया बढ़ा दी गई जिससे कि नवीन विशेष योजनाओं के लिए, जो कि व्यवसाय के अवसरों की वृद्धि करेंगी और बढ़ती हुई बेकारी रोकेगी, पर्याप्त वित्त प्राप्त हो सके। इसके अतिरिक्त विस्थापित व्यक्तियों के पुनर्वास के कार्यक्रम को १९५३-५४ के गत निर्णय के अनुसार अन्त कर देने के स्थान पर पूर्ण योजना काल तक चालू रखने का भी निर्णय किया गया। बेकारी की समस्या को हल करने के पुनर्परीक्षित कार्यक्रम के अन्तर्गत यह प्रस्ताव किया गया कि (१) राज्य-वित्त निगम स्थापित किये जाँय, (२) केन्द्र से राज्यों को देश की दरिद्रता कम करने के लिए नई योजनाओं के चालू करने के लिए वित्तीय सहायता दी जाय, (३) सड़कों के निर्माण के लिए तथा छोटी-छोटी शक्ति उत्पादन की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये अनुदान दिये जाँय और (४) औद्योगिक शिक्षा की सुविधाओं का विस्तार किया जाय। पर जैसा भय था उसके अनुसार यह समस्या सुलझाने का आंशिक प्रयत्न असफल रहा। ग्रामों और नगरों दोनों स्थानों पर ऐसे व्यक्तियों की सख्या जो आंशिक व्यवसाय प्राप्त या बेरोजगार है निरन्तर बढ़ती जा रही है। यह आशा की जाती है कि इस समस्या को वास्तविक रूप से सुलझाने का प्रयत्न किया जायगा जिसमें देश के औद्योगिक विकास पर अधिक महत्व दिया जायगा और साथ ही साथ जन सख्या की वृद्धि पर कुछ नियत्रण भी रक्खा जायगा। यही उपाय द्वितीय योजना का मूलाधार है।

यदि भारत के कारखानो द्वारा निर्मित वस्तु के उत्पादन और विक्रय में

वृद्धि हो तो औद्योगिक बेरोजगारी को कम किया जा सकता है। यह तभी सम्भव है जब प्रति इकाई उत्पादन व्यय कम किया जाए। बहुत से उद्योगो मे पारिश्रमिक उत्पादन व्यय का एक महत्वपूर्ण अग है। गत १० वर्षो मे भारत के श्रमिकों के पारिश्रमिक मे पूर्व स्तर से ३½ से ४½ गुना अधिक वृद्धि हुई है परन्तु इस वृद्धि के साथ ही श्रमिक की कुशलता मे वृद्धि नहीं हुई है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कुछ कारखाने बन्द कर देने पडे जिससे श्रमिको में बेरोजगारी फैली। यह स्थिति बहुत समय पूर्व ही आ गई होती परन्तु युद्ध के समय वस्तुओं का अभाव हो गया था और वह अभाव युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात् भी रहा। वस्तुओं का उत्पादन व्यय अधिक होते हुए और भावों का स्तर अधिक रहते हुए भी अपने समान का विक्रय कर सकने में उद्योग सफल रहे। परन्तु अब उपभोक्ता इस स्थिति का आगे निर्वाह कर सकने में असमर्थ हैं। इसलिए बेरोजगारी को कम करने के लिए या तो भारत के श्रमिकों को कम पारिश्रमिक लेने के लिए प्रस्तुत रहना होगा या उन्हें कार्य अधिक करना पडेगा।

इसके साथ ही केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो द्वारा विभिन्न प्रकार के कर लगाने से, विभिन्न सरकारी नियन्त्रणों और निजी उद्योग मे अन्य प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देने से भारतीय उद्योगो के उत्पादन व्यय में वृद्धि हो गई है। भारत के औद्योगिक क्षेत्र मे लग-भग निजी उद्योगों का ही बोल बाला है। इसलिए अधिक उत्पादन करने के लिए और उद्योगों में व्यवसाय की सभावना मे वृद्धि करने के लिए निजी उद्योग क्षेत्र को सभी संभव सुविधाएं और उसके मार्ग में सरकारी प्रतिबन्धो द्वारा बाधा नहीं डालनी चाहिए। यदि सरकार अपनी कर, श्रम तथा उद्योग सम्बन्धो नीतियो में ऐसा परिवर्तन करे जिससे उत्पादन तथा निर्यात मे वृद्धि के लिए उद्योगो को प्रोत्साहन मिल सके तो उद्योग क्षेत्र में बेरोजगारी बहुत अंशों में कम की जा सकती है।

यह सुझाव दिया गया है कि भारतीय उद्योग क्षेत्र मे युक्तिकरण की योजनाओं को लागू करने की अनुमति न दी जाय क्योंकि इससे उद्योग क्षेत्र मे बेरोजगारी मे वृद्धि होती है। यदि यह सुझाव मान लिया गया तो औद्योगिक क्षेत्र में बेरोजगारी घटने की अपेक्षा और अधिक बढेगी। जब बाजार मे पूर्ति माँग से कम हैं तो इस बात का विशेष महत्व नहीं है कि भारतीय उद्योगो द्वारा उत्पादित वस्तु की प्रति इकाई का उत्पादन व्यय कितना है। परन्तु चूँकि अब खरीदार अपनी व्यय शक्ति के अनुकूल क्रय करना चाहता है जिसके कारण बाजार की स्थिति उसी हाथ में है, उद्योगों की परस्पर प्रतियोगिता शक्ति विशेष महत्व की बात हो हो गई है। यदि किसी कारखाने का उत्पादन व्यय भारत या विदेश में अपनी

प्रतिद्वन्दी कारखाने के उत्पादन व्यय से अधिक है तो वह कारखाना अवश्य नष्ट हो जायगा युक्तिकरण उत्पादन व्यय को कम करने का एक उपाय है। यदि युक्तिकरण की योजनाओं को लागू किया जायगा तो उससे कुछ बेरोजगारी अवश्य फैलेगी परन्तु यदि युक्तिकरण योजनाओं को लागू ही न किया गया तो यह सम्भव हो सकता है कि कारखाना सदैव के लिए बन्द कर देना पड़े और पूर्व की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में व्यक्तियों को बेरोजगारी का सामना करना पड़े।

कुछ व्यक्तियों का मत है कि भारत सरकार ने जून १९४४ में जो योजना प्रकाशित की थी और जो अब तक वैकल्पिक रही है उसे अनिवार्य कर देना चाहिए। इस योजना के अनुसार बेरोजगार व्यक्ति को अपने बेरोजगारी मास के पूर्वार्द्ध में पारिश्रमिक की साधारण दर का ७५ प्रतिशत मिलेगा और उत्तरार्ध में ५० प्रतिशत। इस योजना में पहले ही मान लिया गया है कि भारतीय उद्योग इस अतिरिक्त परिश्रमिक के धन भार वहन कर सकने में समर्थ हैं, परतु वास्तविक स्थिति इसके विपरीत है। भारतीय उद्योग को जितना लाभ होता था उसकी मात्रा घट गई है और यदि उद्योग पर अधिक भार पड़ा तो वह वहन कर सकने में असमर्थ सिद्ध होगा। भारत के अनेक कारखाने पहले ही बन्द हो चुके हैं। यदि यह योजना अनिवार्य की गई तो कुछ और कारखाने भी बन्द हो जायँगे।

"प्रथम योजना काल के अनुभव से यह आवश्यक हो गया है कि बेकारी की समस्या पर केवल सामूहिक रूप में ही नहीं वरन् ग्रामीण और नागरिक क्षेत्रों के दृष्टिकोण से भी विचार करना चाहिये। इस समस्या के विस्तार का, जो कि आगामी कुछ वर्षों में होगा, ठीक-ठीक अनुमान करने के लिये यह आवश्यक है कि देश के विभिन्न भागों के ग्रामीण और नागरिक क्षेत्रों में इसकी वास्तविकता को समझ लिया जाय। यह भी आवश्यक है कि शिक्षित वर्ग की बेकारी को अन्य लोगों की बेकारी से अलग कर लिया जाय"।

"प्रथम योजना के आकड़ों के परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि आधी योजना कार्यान्वित होने पर बेकारी निरन्तर बढ़ती जा रही थी। प्रथम योजना काल में रजिस्टर किये हुये बेरोजगार लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती रही यह मार्च १९५१ में ३.३७ लाख थी तथा दिसम्बर १९५३ में बढ़कर ५.२२ लाख हो गई और १९५६ के मार्च में ७.०५ लाख हो गई। योजना आयोग की सिफारिश के अनुसार नेशनल सैम्पिल सर्वे ने जो प्रारंभिक परीक्षण नगरवासियों में बेरोजगारों का किया था उसके परिणामों के दृष्टिकोण से यदि इन आँकड़ों को

देखा जाय तो इनसे बड़े महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश पड़ता है। इस सर्वे के अनुसार नागरिकों में बेरोजगारों की (१९५४) सख्या २२'४ लाख आँकी गई थी। इस सर्वे ने बेकार लोगों की सख्या और जिनका नाम रजिस्टर किया जा चुका था उनकी सख्या के बीच अनुपातिक सम्बन्ध भी स्थापित करने का प्रयत्न किया है। सर्वे का अनुमान था कि लगभग २५% बेरोजगार व्यक्ति एक्सचेन्ज के दफ्तर में अपना रजिस्टर करवाते हैं। इस आधार पर नगरवासियों में बेरोजगारी की सख्या वर्तमान काल मे २८ लाख के लगभग आती है। यह अनुमान सामान्यतः देश के विभिन्न भागों के नगरों मे किये गये परीक्षणों की रिपोर्टों के समान है। सामयिक बेकारी, को जो कि विकासमान आर्थिक व्यवस्था में अवश्यम्भावी है, छूट देते हुये हम यह कह सकते हैं कि नगरवासियों में बेकार लोगों की सख्या २५ लाख के लगभग अनुमान की जाती है। इस सख्या में नगर के श्रमिकों की सख्या मे नगर के श्रमिकों की सख्या बढाने के लिये नवीन आगन्तुकों को भी जोड़ लेना चाहिये। यह अनुमान किया जाता है कि आगामी ५ वर्षों में लगभग ३८ लाख व्यक्ति इस कारण बेकारों में जोड़ दिये जायगे।

आगामी ५ वर्षों मे श्रमिकों की गणना मे वृद्धि आने वाले नवागन्तुकों की सख्या १ करोड़ अनुमान की गई है। इस सख्या में से नागरिक श्रमिकों मे नवागन्तुकों की अनुमानित ३८ लाख सख्या घटा कर १९५६-६१ के मध्य ग्राम्य श्रमिकों की गणना में वृद्धि करने वाले नवागन्तुकों की सख्या ६२ लाख के लगभग आवेगी। निम्न तालिका यह बतलाती है कि द्वितीय योजना काल मे यदि बेकारी की समस्या को समाप्त करना है तो कितने व्यवसायों के अवसर प्रदान करने पड़ेंगे,—

(१० लाख में सख्यायें)

	नगरों के क्षेत्र में	ग्रामो के क्षेत्र में	योग
श्रमिकों में नवागन्तुकों के लिये	३'८	६'२	१०'०
वर्त्तमान श्रमिकों मे बेरोजगार व्यक्तियों के लिये	२'५	२'८	५'३
योग	६ ३	९'०	१५ ३

यदि इस प्रकार रोजगार के अवसरों को पैदा करना सम्भव भी हो सके तो भी आंशिक रोजगार की समस्या को जो बेकारी की समस्या की ही तरह महत्व शाली है सुलझाया नहीं जा सकता।

द्वितीय योजना का ध्यान प्रधानतः बेरोजगारी और आंशिक बेरोजगारी की समस्या पर है। इसलिये द्वितीय योजना में एक ओर बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले संयुक्त पूँजी वाले उपक्रमों के विकास के प्रति और दूसरी ओर ग्राम तथा छोटे उद्योगों के विकास के प्रति इस आशा से प्रधानता दी गई है कि ये किसी सीमा तक बेकारी की समस्या को सुलझा सकेंगे। सरकारी क्षेत्र में कुल व्यय लगभग ४८०० करोड़ रुपये का अनुमान किया गया है, जिसमें से केवल ३८०० करोड़ रुपये विनियोग दिखाने हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत क्षेत्र में विनियोग की मात्रा २४०० करोड़ रुपये अनुमान की गई है। राज्यों एवं केन्द्रीय मन्त्रालयों द्वारा पूरित आंकड़ों तथा व्यक्तिगत क्षेत्र के लिए उत्पादन शक्ति में वृद्धि सम्बन्धी मान्यताओं को विचाराधीन रखते हुए जो ध्येय निश्चित किए गए हैं उनके आधार पर द्वितीय योजना द्वारा प्रदत्त रोज़ी के अतिरिक्त अवसरों का अनुमान लगाया जा सकता है। निम्न तालिका में इन परिणामों का निष्कर्ष दिया गया है।

(१० लाख की संख्या में)

अनुमानित अतिरिक्त रोजी (वृत्ति) [कृषि को छोड़ कर]	
१. निर्माण	२.१०
२ सिंचाई तथा विद्युत योजनाएँ	·०५
३ रेलवे	·२५
४ अन्य यातायात और संचार	·१८
५ उद्योग तथा खनिज	·७५
६ कुटीर तथा छोटे उद्योग	·४५
७ वन, मछली पकड़ना, राष्ट्रीय विकास योजना, तथा सम्बन्धित अन्य योजनाएँ	·४१
८ शिक्षा	·३१
९. स्वास्थ्य	·१२
१०. अन्य सामाजिक सेवाएँ	·१४
११ सरकारी नौकरियाँ	·४३
योग (१ से ११ तक)	५·२०
१२ "अन्य" जिनमें वाणिज्य और व्यापार जो कुल का ५२% है सम्मिलित हैं	२·७०
कुल योग	७.९०

द्वितीय पंचवर्षीय योजना द्वारा कितने नवीन व्यवसायों को अवसर प्रदान किया जा सकेगा उसका ठीक-ठीक अनुमान लगाना अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। "आयोग द्वारा परीक्षा करने से यह ज्ञात होता है कि प्रथम योजना काल में जो प्रत्यक्ष व्यवसाय के अवसर सरकारी और व्यक्तिगत क्षेत्र में प्रदान किये गये उनकी संख्या ४५ लाख के लगभग थी। इस अनुमान में वाणिज्य और व्यापार आदि के क्षेत्र के अन्तर्गत अतिरिक्त व्यवसाय सम्मिलित नहीं किये गये हैं। विकास सम्बन्धी प्रयत्न को द्विगुणित करके जो द्वितीय योजना में अतिरिक्त व्यवसाय के अवसरों के प्रदान करने का ध्येय बनाया गया है वह कुछ विशेष अधिक नहीं होगा। इसका कारण यह है कि द्वितीय योजना में विकास सम्बन्धी व्यय प्रथम योजना काल के व्यय से कोई विशेष अधिक नहीं हो पायेगा, क्योंकि सरकारी क्षेत्र में योजना का व्यय १६५५-५६ में ६०० से ६२० करोड़ रुपयों के लगभग निश्चित किया गया है, जब कि विकास योजनाओं पर १६५०-५१ में २२४ करोड़ रुपया ही व्यय किया गया था। प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष में सरकारी क्षेत्र में व्यय की मात्रा १६५०-५१ के व्यय की मात्रा से लगभग ४०० करोड़ रुपये अधिक होने की सम्भावना है। यह भी सम्भव है कि प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष की तुलना में विकास योजनाओं पर व्यय में वृद्धि द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष में लगभग ६०० करोड़ रुपया हो। इसके अतिरिक्त द्वितीय योजना में विनियोग के ढंग को देखकर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारी उद्योगों और यातायात पर, जो कि अल्पकाल में बहुत कम व्यवसाय के अवसर प्रदान कर सकते हैं, बहुत अधिक धन व्यय किया जाने वाला है।" इसका अर्थ यह है कि परम सौभाग्य होते हुये भी ८० लाख से अधिक व्यक्तियों के लिये (कृषि को छोड़ कर) द्वितीय योजना के उपायों द्वारा व्यवसाय प्रदान करना सम्भव न हो सकेगा जब कि बेकारी की समस्या को पूर्ण रूपेण हल करने के लिये १५२५ लाख व्यक्तियों के लिये व्यवसाय प्रदान करना आवश्यक है।

मई १६५८ में योजना आयोग द्वारा जारी की गई पुस्तिका 'द्वितीय पंचवर्षीय योजना की सम्भावनायें मूल्यांकन' के अनुसार "पहले दो वर्षों में कृषि के बाहर रोजी के २० लाख अवसर प्रदान किये गये। लगभग १० लाख श्रम-शक्ति १६५८-५६ में रोज़ी पा सकेगी। यह स्मरण रखना चाहिये कि योजना में ७६ लाख व्यक्तियों के कृषि के बाहर तथा १६ लाख व्यक्तियो के कृषि के अन्दर रोजी पाने की सम्भावना है। विभिन्न योजनाओं की लागत में वृद्धि हो जाने के फल-स्वरूप कृषि के बाहर सरकारी क्षेत्र में ४८०० करोड़ रु० के व्यय के अनुमान पर लगभग ७० लाख व्यक्तियो को रोजी मिल सकेगी। यदि यह व्यय ४५००

करोड़ ८० हो तो रोजी पाने वालों की सख्या ६५ लाख के लगभग होगी। यह अनुमान बिल्कुल सही नहीं है किन्तु इनसे इतना तो पता चलता ही है कि हमारी अर्थ व्यवस्था में श्रम-शक्ति की वार्षिक वृद्धि के अनुरूप विनियोग नहीं हो रहा है।"

रोजगार के दफ्तरो का कार्य

भारत में रोजगार के दफ्तरों का एक जाल सा बिछा हुआ है जो बेरोजगार व्यक्तियों के आवेदनों को स्वीकार करते हैं और उन रिक्त स्थानों के लिये उन्हें भेज देते हैं जो सरकार तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा विज्ञाप्ति किये जाते हैं। इसमें सदेह नही कि रोजगार के दफ्तर बेरोजगारी कम करने में सहायक हैं, क्योंकि वे बेरोजगार व्यक्तियों का सम्बन्ध व्यवसाय प्रदान करने वालों से स्थापित कर देते हैं परन्तु ये रोजगार के दफ्तर ही मनुष्य की अप्रयुक्त शक्ति की समस्या को सुलझाने के सफल उपाय तो नहीं हैं। इनका कार्य क्षेत्र प्रचलित आर्थिक और सामाजिक स्थिति के अन्तर्गत ही सुविधायें प्रदान करना है। ये दफ्तर नवीन व्यवसायों को तो उत्पन्न कर नहीं सकते। वे तो केवल बेरोजगार व्यक्तियों को जो कार्य करने की क्षमता रखते हैं और करना चाहते हैं निर्देश मात्र ही दे सकते हैं। वे उन व्यवसायों के लिये जो निज्ञापित है और जिनके लिये स्थान रिक्त हैं उपयुक्त व्यक्ति भी नहीं ढूढ सकते।

यह सब होते हुए भी बेरोजगार व्यक्तियों को प्राप्त स्थानों के लिये निर्देश देना भी बेरोजगारी की समस्या के सुलझाने में एक बड़ी सहायता है। इसके अतिरिक्त यद्यपि रोजगार के दफ्तर में नाम रजिस्टर कराये हुए बेरोजगार व्यक्तियों से हमें बेकारी की समस्या का पूर्ण चित्र नहीं प्राप्त होता, पर उससे नि.सदेह बेरोजगारी की बदलती हुई प्रवृत्ति ज्ञात होती है। यह बड़ी चिन्ता का विषय है कि रोजगार के दफ्तरो मे राजस्टर किये हुये व्यक्तियों की सख्या १९५६ में ७,५८,५०३ थी। १९५७ में यह बढकर ९,२२,०९९ हो गई। १९५६ मे केवल १,८९,८५५ के जगह दी गई। १९५७ मे यह सख्या बढकर १,९२,८३१ हो गई।

रोजगार के दफ्तरों को अधिक प्रभाव शाली बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उनका पुर्नसगठन किया जाय। इस सम्बन्ध मे प्रशिक्षण और व्यवसाय व्यवस्था समिति ने जिसे प्राय बी० शिवा राव कमेटी कहते हैं भारत सरकार को अप्रैल १९५४ में दी हुई रिपोर्ट में निम्न सिफारिशें की :—

(१) रोजगार के दफ्तरों की व्यवस्था को विस्तृत करके उसे राष्ट्रीय सेवा का एक स्थायी व अधिक अधिकार प्राप्त विभाग बना देना चाहिये,

(२) प्रशासन विकेन्द्रित होना चाहिये। इसका यह अर्थ है कि नीति

चाहे सरकार द्वारा क्यों न निर्धारित की जाएं पर उनका नित्य प्रति का प्रशासन राज्य सरकार द्वारा होना चाहिये,

(३) केन्द्रीय सरकार द्वारा रोजगार के दफ्तरों को जो अनुदान सहायतार्थ दिया जाता है वह चालू रहना चाहिये, पर उसकी मात्रा को क्षेत्रीय प्रधान कार्यालयों तथा राज्यों के रोजगार के दफ्तरों के कुल व्यय के ६०% तक सीमित कर देना चाहिये, और १९५३-५४ के बजट में जो धनराशि निर्धारित की गई हो अथवा १९५२-५३ में जो वास्तविक व्यय किया गया हो, इन दोनों राशियों में से जो राज्य की सरकार के दृष्टिकोण से उसके लिये अधिक लाभकारी हो, उसे अनुदान की अधिकतम मात्रा नियत कर देनी चाहिये,

(४) रोजगार के दफ्तरों के कार्यों का विस्तार किया जाना चाहिये और उनके कार्यों में निम्न कार्यों को भी सम्मिलित करना चाहिये (क) मालिकों और कार्य करने वाले वर्गों के साथ बहुत अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना चाहिये; उनको चाहिये कि व्यवसाय चाहने वालों के आवेदनों को स्वीकार करें और तब तक उनसे अपना सम्बन्ध रक्खें जब तक कि उस पर नियुक्ति न हो जाय, (ख) नाम रजिस्टर कराये हुये व्यक्तियों का निरीक्षण तथा सहायता करें और उनकी आवश्यक परीक्षा लें, (ग) रजिस्टर कराये हुए व्यक्तियों की फाइलें निर्माण करें, आवश्यकता पड़ने पर बार-बार उनके फाइलों का नये सिरे से निर्माण करें, और योग्य आवेदकों के प्रार्थना पत्रों को कार्य देने वाले व्यक्तियों के पास भेजें और उनकी नियुक्ति का लेखा निर्माण करें और सुरक्षित रक्खें, (घ) व्यवसाय के अवसरों का पता लगावें और व्यक्तियों तक इसकी सूचना पहुँचाने की सुविधायें प्रदान करें ताकि बेरोजगारों को व्यवसाय प्राप्त हो सके और मालिकों को उपयुक्त कार्य करने वाले इन दफ्तरों को चाहिये कि वे व्यवसाय सम्बन्धी आँकड़े प्रकाशित करें और कौन सा कार्य कब तक चलेगा इसके सम्बन्ध में अपना मत भी प्रकाशित करें,

(५) अदक्ष श्रमिकों को न तो रजिस्टर करने की आवश्यकता है और न उनके आवेदनों की। जो व्यक्ति ऐसे श्रमिकों की सेवायें चाहते हैं उनको घोषणा द्वारा या किसी अन्य रूप से सूचित कर देना ही पर्याप्त होगा। इसके पश्चात् जो कार्य करना चाहते हैं उन्हें सीधे मालिकों के पास पहुँच जाना चाहिये। ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो प्रतिदिन रोजगार के दफ्तर पर इकट्ठा होते हैं तथा घोषणा द्वारा जिन रिक्त स्थानों की सूचना दी जाती है उनके आँकड़े तैयार करने की आवश्यकता नहीं है, और

(६) सरकारी तथा अर्ध सरकारी संस्थाओं द्वारा नियुक्त किये जाने के

सम्बन्ध में ये दफ्तर जो सिफारिशें करें उनके परिणाम की कुछ दिन तक जाँच करने के पश्चात् व्यक्तिगत क्षेत्र में भी इन दफ्तरों की सिफारिशों पर नियुक्त करना अनिवार्य कर दें।

सरकार ने बी० शिवाराव कमेटी के अभिस्तावों को आंशिक रूप में स्वीकार कर लिया है और रोजगार के दफ्तरों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये निम्न उपायों को द्वितीय योजना में कार्यान्वित करने का निर्णय किया है . (१) रोजगार दिलाने के विभाग को १२५ नये रोजगार के दफ्तरों की स्थापना करके विस्तृत करना ताकि अन्य बहुत से व्यवसाय के केन्द्र इनके अतर्गत आ सकें; (२) व्यवसाय की सूचनाओं के एकत्रित करने तथा लोगों तक पहुँचाने की योजना निर्माण करना, (३) चुने हुये व्यवसाय के दफ्तरों मे नवयुवक रोजगार सेवा सस्था की स्थापना करना तथा वयस्कों के लिये व्यवसाय की सलाह देना तथा 'केरियर पेम्फलेट' आदि उपयुक्त तत्सम्बन्धी साहित्य प्रकाशित करना, (४) रोजगार सम्बन्धी विश्लेषण तथा खोज के कार्य-क्रम बनाना ताकि विभिन्न व्यवसायो के नाम तथा परिभाषा मान्य स्तर की बनाई जा सके, और (५) रोजगार के दफ्तरों मे व्यवसायिक परीक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम बनाना। इन उपायों से भारत की व्यवसाय दिलाने वाली सेवाओं की कार्य कुशलता अधिक बढ जायगी परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि रोजगार के दफ्तर राष्ट्रीय सेवा विभाग के रूप मे विकसित हो जाँय और तभी उनके लिये बेरोजगार व्यक्तियों को व्यवसाय ढूढना और दिलाना भी सम्भव हो सकेगा। कमेटी ने प्रशासन को विकेन्द्रित करने की सिफारिश की है क्योंकि ऐसा करने से राज्य सरकारों को भी इस सस्था के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो जायगी और बेरोजगार के दफ्तरों का राज्य की सरकार तथा राज्य के अन्तर्गत व्यक्तिगत मालिकों से सम्बन्ध स्थापित करने में भी यह सहायक भी सिद्ध होगी। विकेन्द्रियकरण से प्रान्तीयता के बढने तथा अन्तरप्रान्तीय जनसख्या के आवागमन में बाधा पड़ने का भय निर्मूल है क्योंकि इन रोजगार के दफ्तरों की नीति तो केन्द्रीय सरकार द्वारा ही निर्धारित होगी। इन सस्थाओं के कार्यों के प्रसार के सम्बन्ध मे जो सुझाव दिये गये हैं उनसे मालिकों तथा रोजगार के दफ्तरों के बीच और बेरोजगार व्यक्तियों और रोजगार के दफ्तरो के बीच अच्छा सम्बन्ध भी स्थापित हो सकेगा। अदक्ष श्रमिकों के सम्बन्ध में उनकी रजिस्ट्री न करने की सलाह देने में ऐसा लगता है कि कमेटी इस कार्य के विस्तार तथा सम्भावित अधिक व्यय से विशेष प्रभावित हो गई थी। पर ऐसा करने से इसमें सदेह नहीं कि रोजगार के दफ्तरों की बेरोजगारी की समस्या सुलझाने के सम्बन्ध में उपयोगिता अवश्य कम हो जावगी।

अध्याय २९

औद्योगिक गृह निर्माण

औद्योगिक गृह निर्माण की समस्या श्रमिकों को कम किराये पर उपयुक्त आवास प्रदान करने की है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भी बड़े-बड़े कस्बों और नगरों में, विशेष कर औद्योगिक केन्द्रों में, रहने के लिये घरों का अभाव था। श्रमिक लोग चौल तथा बस्तियों में बड़े अस्वास्थ्य वातावरण में रहते हैं। गत कुछ वर्षों से जन संख्या में वृद्धि होने, पाकिस्तान से शरणार्थियों के आने तथा व्यक्तिगत लोगों द्वारा कम संख्या में नये घरों के निर्माण के कारण दशा और भी अधिक शोचनीय हो गई है। १९३१, १९४१ और १९५१ की जनगणना के अनुसार जनसंख्या में क्रमश ११, १४ ३ और १३ ४ प्रतिशत वृद्धि हुई परन्तु नागरिक क्षेत्रों में यह वृद्धि क्रमश॰ २१, ३२ और ५४ प्रतिशत हुई। पाकिस्तान से लगभग ८५ लाख शरणार्थियों के आ जाने से नागरिक क्षेत्रों में जनसंख्या का दबाव बढ़ा जिसके प्रभाव से रहने की व्यवस्था और जटिल हो गई। शरणार्थियों ने गाँव की अपेक्षा बड़े कस्बों और नगरों मे ही रहना अधिक पसन्द किया। इसमे नगरों और कस्बो में रहने के लिए घरों की माँग बढ़ी परन्तु पूर्ति न हो सकने से यह अभाव की खाई चौड़ी होती गई। माँग के अनुसार घरों की पूर्ति न हो सकने का कारण यह है कि इमारत बनाने के सामान का अधिक मूल्य होने के कारण और बाजार में सामान के अभाव के फलस्वरूप नई इमारतों को पर्याप्त मात्रा में नहीं बनाया जा सका। इसके साथ ही मकानों को किराये पर देने और किराये की दरों पर सरकारी प्रतिबन्ध लगाने से भी इस दिशा में प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और इसी कारण बढ़ती जनसंख्या के साथ मकानो की व्यवस्था नहीं की जा सकी।

गृह निर्माण की प्रवृत्ति—वर्तमान में मुख्य गृह निर्माण एजेन्सियाँ निम्न-लिखित हैं :—(१) सरकारी अथवा अन्य एजेन्सियाँ, (२) उद्योगपति, (३) सहकारी समितियाँ, (४) अपने उपयोग के लिए मकान बनाने वाले व्यक्ति, और (५) निजी उद्योग। निजी उद्योग के मालिकों की ओर अपने उपयोग के लिए गृहनिर्माण कराने वाले व्यक्तियों की अब गृहनिर्माण की ओर गति मन्द हो गई है। गत कुछ वर्षों में इस दिशा की ओर सरकारी तथा अन्य मिली-जुली एजेन्सियों, उद्योगपतियो और सहकारी समितियों की गति मे विशेष रूप से वृद्धि हुई है।

प्रथम योजना काल मे ७९,६७९ किराये के घरों के निर्माण के कार्यक्रम

को स्वीकृति दी गई थी। इनमें से १६,१६५ बम्बई में, २१,७०६ उत्तर प्रदेश में, ५,६२६ हैदराबाद में, ५,१८१ मध्यप्रदेश में, ३,४४४ मध्यभारत में तथा इससे कम संख्या में अन्य राज्यों में बनवाये जाने वाले थे। जितने किराये के घरों का निर्माण प्रथम पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने के पूर्व किया जा चुका था उनकी संख्या ४०,००० के लगभग थी। जितने किराये के घरों के निर्माण की अनुमति दी गई है उनमें से ६८,२०० अथवा ८५% के लगभग राज्य सरकारों द्वारा, १०,१६१ अथवा १३% श्रमिकों के निजी उद्योग द्वारा और १,३१८ या १·६% उद्योगों में काम करने वालों की सहकारी समितियों द्वारा बनवाये जा रहे हैं। जब यह योजना निर्माण की गई थी उस समय सहकारी समितियों और मालिकों के सहयोग की अधिक आशा की थी। योजना के इस पक्ष पर विचार किया जा रहा है और ऐसे उपाय सोचे जा रहे हैं जिनसे कि मालिकों और कारखानों के श्रमिकों की सहकारी समितियों का अधिक सहयोग प्राप्त हो। इनके अतिरिक्त पुनर्वास, रक्षा, रेलवे, लोहा और इस्पात, उत्पादन, सूचना, निर्माण, गृह निर्माण तथा पूर्ति आदि मन्त्रालयों द्वारा भी गृह निर्माण के समुचित कार्यक्रम कार्यान्वित किये जा रहे हैं। राज्य सरकारें और कुछ स्थानीय अधिकारियों के अपने निजी गृह निर्माण के कार्यक्रम भी चालू हैं। यह अनुमान किया जाता है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में पुनर्वास मन्त्रालय ने नगरों में ३,२३,००० किराये के घर बनवाये और राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय मन्त्रालयों ने, निर्माण, गृहनिर्माण तथा पूर्ति के मन्त्रालयों को छोड़ कर लगभग २००,००० गृहों का निर्माण करवाया। अन्य गृहनिर्माण की योजनाओं को, जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, सम्मिलित करते हुए सरकारी विभागों ने प्रथम योजना काल में लगभग ७,४२,००० गृहों का निर्माण करवाया। व्यक्तिगत लोगों ने कितने गृहों का निर्माण कराया उसकी संख्या जानना कठिन है। कर जाँच आयोग के इस सम्बन्ध में परीक्षा करने से ज्ञात हुआ कि नगरों में गृहनिर्माण के सम्बन्ध में कुल विनियोग १९५३-५४ में लगभग १२५ करोड़ रुपया था। यदि इसे हम पाँच वर्षों की अवधि का औसत मान लें और एक घर के बनवाने में औसत व्यय १०,००० रु० के लगभग मान लें तो यह ज्ञात होगा कि प्रथम योजना काल में लगभग ६००,००० गृहों का निर्माण व्यक्तिगत क्षेत्र में हुआ। इस प्रकार प्रथम योजना काल में लगभग १३ लाख घर नगरों में बनवाये गये।

प्रथम योजना काल में ग्रामों में भी रहने की स्थिति में सुधार के कुछ उपायों का प्रयोग किया गया है। सामुदायिक विकास योजना क्षेत्रों से ५८,००० ग्राम्य शौचालय, १६०० मील लम्बी नालियाँ और २०,००० कुँये बनवाये गये हैं

और लगभग ३४,००० कुँओं का जीर्णोद्धार किया गया है और राष्ट्रीय विकास क्षेत्रों में ८०,००० ग्राम्य शौचालय, २७०० मील लम्बी नालियाँ, ३०,००० नये कुँये और ५१०० पुराने कुँओं का जीर्णोद्धार किया गया है। राष्ट्रीय विकास तथा सामुदायिक विकास योजनाओं के क्षेत्रों म लगभग २६००० घरों का निर्माण हुआ है और लगभग उतने ही पुराने घरों का जीर्णोद्धार किया गया है। अनेकों राज्यों में ग्रामों मे ईंट क भट्टे स्थापित किये जा रहे हैं। कहीं-कहीं पर सहकारी समितियों की सहायता इस कार्य में ली जा रही है। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में १६५०-५१ में १६ सहकारी ईंट के भट्टे खोले गये थे, १६५४-५५ तक उनकी संख्या बढ़कर ७५२ हो गई और भट्टों के आस-पास के ग्रामों में अधिकाधिक नये ढग के पक्के मकान बनने जा रहे हैं। बहुत से राज्यों मे हरिजनों के आवास की स्थिति को, विशेष भूमि क्षेत्रो को उनके लिये नियत करके तथा सहकारी गृहनिर्माण समितियों की स्थापना द्वारा, सुधारने का प्रयत्न किया जा रहा है। केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत निर्माण, पूर्ति तथा गृहनिर्माण मन्त्रालय ने ग्राम्य गृहनिर्माण आगार की स्थापना की है जिसका ध्येय इस क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करना और गृहों के नये-नये आकारों, अभिन्यासों, निर्माण के ढगों तथा स्थानीय कच्चे माल के प्रयोग करने के उपायों की खोज करना है।

कठिनाइयाँ—अधिक मकानों के निर्माण के लिए प्रोत्साहित करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं :

(१) ग्राम और नगर में भूमि, इस्पात, ईंट, सिमेंट, लकड़ी की चौखट इत्यादि के मूल्य में बहुत वृद्धि हुई। यह सभी चीजे मकान बनाने के लिए बहुत आवश्यक हैं। इन वस्तुओं के मूल्य अधिक होने पर भी गृह-निर्माण सभव था परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इसके लिए पर्याप्त धन नहीं मिल पाता है। दूसरी ओर यदि अधिक व्यय पर मकान बनाया जाय तो उसका किराया भी अधिक होना चाहिए परन्तु गृह निर्माण का कार्य तीव्र गति से करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि श्रमिकों तथा अन्य निर्धन और मध्यम श्रेणी के लोगों को सस्ते किराये पर मकान दिये जा सकें। इसलिए समस्या यह हैं कि मकान बनाने के सामान का मूल्य घटाया जाय, महँगे सामान के स्थान पर सस्ते मूल्य का कोई दूसरा उपयुक्त सामान लगाया जाय और श्रमिकों इत्यादि के लिए सुखदाई परन्तु कम व्यय में मकान बनाने के लिए मकान के आकार-प्रकार और उसके ढाँचे इत्यादि के सम्बन्ध में खोज कार्य किया जाय। परन्तु यदि गृह निर्माण के व्यय में पर्याप्त कमी भी कर दी जाय तब भी गृह निर्माण योजना को कार्यान्वित करने के

लिए रुपये की आवश्यकता होगी और जब तक पर्याप्त धन, जो कम से कम १०० करोड़ रुपया होगा, प्राप्त नहीं होता तब तक सभी आवश्यकताग्रस्त लोगों के लिए मकानों की व्यवस्था नहीं की जा सकती है। बाजार में रुपये की तगी है और जनता के पास पर्याप्त धन नहीं है। इसलिए घर बनाने के इच्छुक लोगों को कम व्याज पर रुपया देने के लिये कुछ उपाय खोज निकालना अत्यन्त आवश्यक है।

(२) मकानो का किराया बढाने पर राज्य सरकारो ने प्रतिबन्ध लगा दिया है। सरकार तथा अन्य एजेन्सी, उद्योगपति और सहकारी समितियाँ लाभ की चिन्ता किये बिना गृह निर्माण कार्य में वृद्धि कर सकती है। परन्तु किराये पर नियन्त्रण लग जाने से और नगरों तथा कस्बों में मकानो का एलौटमैन्ट करने की व्यवस्था से निजी उद्योगों के मालिक नये मकान बनवाने की ओर से लगभग निराश हो चुके हैं। कुछ राज्यों मे ऐसी व्यवस्था है कि एक निश्चित तिथि के पश्चात् बने नये मकानों पर यह नियन्त्रण लागू नहीं होते हैं इससे नये मकान बनवाने के कार्य को प्रोत्साहन मिला है।

१६५२ मे एशिया और सुदूर पूर्वी आर्थिक सम्मेलन का गृह निर्माण विषयक अधिवेशन दिल्ली मे हुआ था। इस सम्मेलन मे सुझाव दिये गये थे कि (१) आदर्श योजनाएँ चालू की जॉय जिनमें इस्पात और इमारती लकडी के स्थान पर बांस तथा अन्य लकड़ियों के उपयोग की जाँच की जाय और (२) इसी प्रकार की अन्य योजनाओं द्वारा ईंट इत्यादि बनाने के लिए उपयुक्त चिकनी मिट्टी की भी जाँच की जाय। इस प्रकार की आदर्श योजनाओं के द्वारा हम श्रमिकों तथा अन्य लोगों के लिये सस्ते और सुखदाई मकानों का निर्माण करने के उपाय खोज सकते हैं।

सरकारी योजनाएँ—औद्योगिक शाति प्रस्ताव में सुझाये गये गृह निर्माण कार्य क्रम के आधार पर भारत सरकार ने १६४६ में एक गृह निर्माण योजना तैयार की। इस योजना में यह व्यवस्था की गई कि राज्य सरकारों तथा कर्मचारियो इत्यादि के द्वारा बनाये जाने वाले मकानों में जितना रुपया लगेगा उसका दो तिहाई केन्द्रीय सरकार व्याज मुक्त ऋण के रूप में देगी, परन्तु इसके लिये मालिको को भी कुछ शर्तें माननी पड़ेंगी। इस योजना के अनुसार मालिक तथा राज्य सरकारों को एक तिहाई व्यय की स्वय व्यवस्था करनी पड़ती है। केन्द्रीय सरकार से उन्हें केवल इतना ही लाभ प्राप्त है कि आवश्यक पूँजी का $\frac{2}{3}$ अश व्याजयुक्त ऋण के रूप में प्राप्त हो जाता है।

परन्तु इस योजना के असफल हो जाने पर भारत सरकार ने यह अनुभव

किया कि गृह निर्माण कार्य को प्रोत्साहन देने के लिये राज्य सरकारों और कारखाने इत्यादि के मालिकों को इसके लिये नकद आर्थिक सहायता देनी पड़ेगी। इसी विचार से एक योजना निर्माण की गई और उसे प्रायः सभी राज्यों की सरकारो के पास विचारार्थ भेजा गया। इस योजना में यह प्रस्ताव रखा गया था कि गृह निर्माण कार्य को प्रोत्साहन देने के लिये राज्य सरकारों तथा निजी उद्योगपतियो को भूमि के मूल्य का अधिक से अधिक २० प्रतिशत केंद्रीय सरकार सहायता के रूप में देगी। परन्तु इसके लिए यह शर्तें लगाई गईं कि (१) मकान वास्तव मे श्रमिकों को किराये पर दिया जायगा, (२) किरायेदार से घर की कुल लागत का, जिसमें भूमि का मूल्य भी सम्मिलित है, केवल ढाई प्रतिशत ही वसूल किया जायगा परन्तु यह किराया श्रमिक की आय के १० प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिये, (३) घर केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित विशेष आकार प्रकार के बनने चाहिएँ और (४) घर का निरीक्षण करने के लिये केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो के निरीक्षको और गृह-निर्माण बोर्ड को सभी आवश्यक सुविधायें दी जानी चाहिएँ। इस योजना का कार्यक्षेत्र सीमित था और राज्य सरकारो ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। इसलिये भारत सरकार ने १९५२ के अंत मे एक अधिक व्यापक योजना तैयार की जिसके अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि केन्द्रीय सरकार गृहनिर्माण कार्य को प्रोत्सान देने के लिये राज्य सरकारो और गृहनिर्माण बोर्ड को कुल व्यय का ५० प्रतिशत तक सहायता के रूप में देगी। इसमें भूमि का मूल्य भी सम्मिलित किया जायगा। शेष ५० प्रतिशत के लिये सरकार ४½ प्रतिशत ब्याज पर ऋण देगी जिसे २५ वर्ष के अन्दर चुकाया जा सकता है। सहकारी समितियों के सम्बन्ध मे यह व्यवस्था की गई कि गृह निर्माण के कुल व्यय का २५ प्रतिशत सरकार सहायता के रूप में देगी और साथ ही कुल निर्माण-व्यय का ३७½ प्रतिशत धन ४½ प्रतिशत वार्षिक ब्याज पर ऋण देगी जिसे १५ वर्ष के अन्दर चुकाया जा सकता है। उद्योग के मालिको को सरकार कुल लागत का २५ प्रतिशत आर्थिक सहायता के रूप में और कुल व्यय का ३७½ प्रतिशत तक ४½ प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर से ऋण देगी। यह ऋण १५ वर्ष के अन्दर चुकाना होगा। इन सब के सम्बन्ध में ऋण तथा अनुदान की मात्रा स्टेन्डर्ड लागत के आधार पर अनुगणित मात्रा पर ही सीमित कर दी जायगी। बम्बई और कलकत्ता के सम्बन्ध में १ कमरे वाले कई मंजिले मकानों की स्टेन्डर्ड लागत ४५०० रुपया और अन्य स्थानों में २७०० रुपया आँकी गई है। दो कमरे वाले कई मंजिले मकानो की बम्बई और कलकत्ता में लागत ४५३० रुपया (जो कि अब बढ़ाकर ५६३० रुपया

कर दी गई है) और अन्य स्थानों में ३४९० रुपया आँकी गई है। एक मंजिले मकानों के लिये स्टैन्डर्ड लागत का अनुमान कम धन राशि है।

इस पुनर्परीक्षित योजना की दो मुख्य विशेषतायें हैं · (१) सहकारी समितियों को व्यय की ५०% तक ऋण रूप से सहायता मिल सकेगी जबकि मूल योजना के अन्तर्गत केवल ३७½ ही मिल सकती थी और १५ वर्षों में ऋण के चुकता करने के स्थान पर अब २५ वर्ष का समय भी मिल जायगा, और (२) स्टैन्डर्ड किराया विभिन्न प्रकार के मकानों के लिये बम्बई तथा कलकत्ता में १० रुपये से लगाकर ३० रुपया तक और अन्य नगरों और कस्बों में १० रुपये से लगाकर १९ रुपया तक नियत कर दिया गया है। इससे योजना अधिक पूर्ण बन गई है। यह आशा की जाती है कि गृह निर्माण कार्य को इस योजना के अन्तर्गत अधिक प्रोत्साहन भी मिलेगा।

आर्थिक सहायता प्राप्त गृह निर्माण योजना के अन्तर्गत, जो सितम्बर १९५२ में लागू हुई, १९५७-५८ केन्द्रीय सरकार द्वारा मंजूर की गई धनराशि २५.७९ करोड़ रु० थी जिसमें १३-२८ करोड़ रु० ऋण के रूप में तथा १२-५१ करोड़ रु० आर्थिक सहायता के रूप में थे। इसके अन्तर्गत ९१,२५० घर थे। नवम्बर १९५७ तक पूर्ण हुये मकानों की संख्या ६६,७०० थी तथा शेष निर्माण के विभिन्न चरणों में थे।

द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक तथा अन्य गृह निर्माण योजनाओं के लिये अधिक धन सहायता में देने का निश्चय किया गया है। प्रथम योजना में ३८५ करोड़ रुपयों की सहायता का प्रबन्ध किया गया था परन्तु द्वितीय योजना में १२० करोड़ रुपयों की सहायता का निम्न तालिका के अनुसार प्रबन्ध किया गया है —

सहायता प्राप्त औद्योगिक गृह निर्माण	४५	करोड़	रुपये
निम्न आय-वर्ग के लिये गृह निर्माण ..	४०	”	”
ग्राम गृह निर्माण ...	१०	”	”
बस्तियों की सफाई और भंगियों के लिये गृह निर्माण	२०	”	”
मध्य वर्ती आय वर्ग के लिये गृह निर्माण .	३	”	”
रोपणोद्योग के लिये गृह निर्माण .	२	”	”
योग	१२०	”	”

द्वितीय योजना के अन्तर्गत व्यय की योजना अधिक विस्तृत है और अनेकों नये व्यय के शीर्ष उसमें सम्मिलित कर लिये गये हैं जो कि प्रथम योजना में नहीं थे और कार्य का ध्येय निम्न है :—

		गृहों की सख्या
१.	सहायता प्राप्त औद्योगिक घर	१२८,०००
२.	निम्न आय वर्ग के लिये घर	६८,०००
३.	बस्तियों मे रहने वालों के लिये नये घर जिनमे भगी भी सम्मिलित हैं—	११०,०००
४.	मध्य वर्ती आय वर्ग के लिये घर	५,०००
५	रोपण उद्योग के श्रमिकों के लिये घर	११,०००
६.	ग्रामीण गृह निर्माण योजना	१,३३,०००
	योग	४,५५,०००

अन्य केन्द्रीय मन्त्रालयों द्वारा, राज्य सरकारो तथा स्थानीय अधिकारियो द्वारा तथा कोयले की खानों मे कार्य करने वाले श्रमिकों के लिये गृह निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम के कारण व्यक्तिगत लोगों द्वारा बनवाये घरो के अतिरिक्त ७५३,००० गृहों का (जिनकी सख्या ८००,००० के लगभग द्वितीय योजना काल में आंकी गई है) निर्माण होगा। इस प्रकार द्वितीय योजना मे कुल १९ लाख घरो के निर्माण का अनुमान है जबकि प्रथम योजना काल मे केवल १३ लाख घरो का ही निर्माण हुआ था।

द्वितीय योजना के पहले तीन वर्ष में गृह निर्माण के ऊपर किये जाने वाले कुल व्यय का अनुमान ४० करोड़ है। "आर्थिक सहायता प्राप्त औद्योगिक गृह निर्माण योजना के अन्तर्गत १९५६-५९ इन तीन वर्षों में ४२,६०० इकाइयों के निर्माण की व्यवस्था है। निम्न आय वर्ग के अन्तर्गत २२,००० इकाइयो के निर्माण की तथा भगियों के गृह निर्माण के अन्तर्गत २२००० इकाइयों के निर्माण की व्यवस्था है। ग्रामीण गृह निर्माण योजना १९५८-५९ में प्रभावपूर्ण ढग से लागू की जा रही है। चूंकि द्वितीय पचवर्षीय योजना मे काट-छाँट हो रही है अतएव गृहनिर्माण के लिये सशोधित राशि १०० करोड़ रु० होगी जो प्रारम्भिक राशि से २० करोड़ रु० कम है। ४५०० करोड़ रु० के कुल व्यय में गृह निर्माण पर किया जाने वाला व्यय ८४ करोड़ रु० है। इसमें ६४ करोड़ रु० राज्यों के लिये है तथा २० करोड़ रु० केन्द्र के लिये है।"

अध्याय ३०

श्रम की कार्यक्षमता

यह लोक प्रसिद्ध है कि भारतीय श्रमिक निपुण नहीं है। उसकी प्रति घंटा उत्पादन शक्ति भी बहुत कम है। यदि पाश्चात्य देशों के उसी प्रकार के श्रमिकों की उत्पादन शक्ति से तुलना की जाय तो पता चलेगा कि भारतीय श्रमिकों का उत्पादन बहुत गिरा हुआ है। जापान, ब्रिटेन और अमरीका के श्रमिक की अपेक्षा उतने ही समय में भारतीय श्रमिक बहुत कम कार्य कर पाता है।

सूती मिल उद्योग सम्बन्धी प्रशुल्क मण्डल (१६२६-२७) ने बताया कि भारतीय श्रमिक अथवा आपरेटर ने १८० तकुओं पर कार्य किया जब कि इतने ही समय में जापान के श्रमिक ने २४०, इंगलैंड के श्रमिक ने ५०० से ६०० के बीच और अमरीकी श्रमिक ने ११२० तकुओं पर कार्य किया। भारतीय बुनकर औसतन २ कर्घे चलाता है जब कि जापान का बुनकर २½, ब्रिटेन का ४ से ६ तक और अमरीका का ६ कर्घे चला लेता है। इससे भारतीय श्रमिक की सापेक्षिक कार्यक्षमता का आभास मिलता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि गत कुछ वर्षों से कतिपय सूती मिलों में कार्यक्षमता में काफी वृद्धि हुई है। सूती उद्योग सम्बन्धी वर्किंङ्ग पार्टी (१६५२) ने जाँच करके पता लगाया कि दिल्ली की एक और मद्रास की दो मिलों में एक बुनकर ४, ६, ८ और १६, अहमदाबाद की एक मिल में १८ और बम्बई की एक मिल में ६ कर्घे चला लेता है। कार्यक्षमता में इस वृद्धि का कारण यह है कि इन मिलों में स्वचालित आधुनिक मशीनें लगी हुई हैं जिससे श्रमिक अधिक काम कर सकता है परन्तु कार्य में इतनी प्रगति होते हुए भी आज तक यह बात सत्य मानी जाती है कि भारतीय श्रमिक ब्रिटेन या जापान के अपने ही प्रकार के श्रमिक से कम निपुण है। कोयला-खदान उद्योग के सम्बन्ध में भारत की जिओलोजीकल, माइनिंग और मेटालर्जीकल सोसाइटी के २८ वें वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष के भाषण में बताया गया कि भारत में एक श्रमिक का उत्पादन २.७ टन है जब कि ब्रिटेन के मजदूर का ६.२६ टन, जर्मनी के श्रमिक का ८.६६ टन और अमरीका के श्रमिक का २१.६८ टन है। भारतीय श्रमिक का प्रतिघण्टा उत्पादन गत कुछ वर्षों में गिरा है। योजना आयोग ने बताया है कि कोयला खदान उद्योग में कार्य करने वाले श्रमिकों की संख्या १६४१ में २, १५, २४४ से बढ़कर १६५१ में ३,४०,००० हो गई है जब कि इसी अवधि में कोयले

का उत्पादन २ करोड़ ५८ लाख ६० हजार टन से बढ़कर ३ करोड़ ४० लाख टन हो गया। इस प्रकार जब श्रमिकों की सख्या में ५८ प्रतिशत वृद्धि की गई तो उत्पादन केवल ३२ प्रतिशत बढ़ा है परन्तु श्रमिक का प्रतिघण्टा उत्पादन १२७ टन से गिरकर लगभग १०० टन हो गया।

यद्यपि सभी उद्योगो के सम्बन्ध मे विस्तृत सूचना प्राप्त नहीं है फिर भी १९५५ में प्रकाशित कतिपय उद्योगों की उत्पादकता और अर्जित आय के परिवर्तनों से निम्न बातें ज्ञात होती हैं :

(i) कोयला उद्योग में १९५१-१९५४ के बीच खोदने तथा लादने वालों की उत्पादकता में ०·०७६ प्रति माह वृद्धि हुई जबकि प्रति सप्ताह नकद आय में ०·२६ की वृद्धि हुई।

(ii) कागज उद्योग में, १९४८-१९५३ के बीच मजदूरों की औसत आय में तो वृद्धि हुई किन्तु इनकी उत्पादकता बढ़ने का कोई चिन्ह नहीं था।

(iii) जूट उद्योग में १९४८-१९५३ के बीच उत्पादकता की वृद्धि २ ६ प्रतिवर्ष थी जबकि अर्जित आय की वृद्धि ३ ७ थी तथा,

(iv) सूती वस्त्र उद्योग में उत्पादकता की वृद्धि की वार्षिक दर १९४८-१९५३ के बीच २·२८ थी जबकि अर्जित आय की वृद्धि १ १४ थी।'

इसके विपरीत अमरीका और ब्रिटेन के श्रमिक की कार्यक्षमता मे निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। अमरीकी श्रमिक की प्रतिघण्टा उत्पादन क्षमता में १९१० तथा १९४० के बीच ८३ प्रतिशत वृद्धि हुई। विगत १५ वर्षों में इसमें और अधिक वृद्धि हुई है। यह बताया गया है कि यदि उत्पादन क्षमता इसी अनुपात मे बढ़ती गई तो ३० वर्ष में दोगुनी हो जायगी। उत्पादन शक्ति की जाच करनेवाली एक आग्ल-अमरीकी परिषद् ने ब्रिटेन के लोहे और इस्पात के कारखाने के कुछ विभागो की जाच की। परिषद् की रिपोर्ट में बताया गया है कि १९१९ से १९५२ के बीच स्टील फोर्जिंग में १५ से २० प्रतिशत की और ड्राप-फोर्जिंग में १० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अनेक कारणों से भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता निरन्तर घटती जा रही है। यहाँ यह बता देना अनुचित न होगा कि कार्यक्षमता में कमी होने के लिये केवल भारतीय श्रमिक ही उत्तरदायी नहीं है। इसका बहुत कुछ कारण खराब मशीनें और दोष पूर्ण औद्योगिक सगठन है। परन्तु इसका परिणाम यह अवश्य हुआ है कि भारतीय उद्योग की प्रतियोगिता शक्ति घट गई है और विश्व बाजार में अपने माल की निकासी करने मे उसे अत्यन्त कठिनाइयो का सामना करना पड़ रहा है।

कारण—श्रमिक की कार्यक्षमता अथवा उसकी निपुणता की परिभाषा करना बहुत कठिन है और यह अनेक बातो पर निर्भर करती है। श्रमिक की कार्यक्षमता की जाँच करने का एक व्यवहारिक ढग श्रमिक के प्रतिघण्टा उत्पादन की जाँच करना है। एक श्रमिक की एक शिफ्ट के कुल उत्पादन के हिसाब से भी कार्यक्षमता का पता लगाया जा सकता है। एक शिफ्ट में ७½ या ८ घण्टा कार्य होता है। इसके साथ ही श्रमिक के वार्षिक उत्पादन की मात्रा को भी इसका साधन बनाया जा सकता है। श्रमिक की कार्यक्षमता केवल श्रमिक के श्रम पर ही निर्भर नहीं रहती है। कच्चे माल के प्रकार, मशीनों के प्रकार और उनकी स्थिति और सम्पूर्ण औद्योगिक सगठन का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। अकुशलता अथवा निपुण न होने के लिये सारा दोष भारतीय श्रमिक पर ही नहीं मढा जा सकता। कुछ दोष अवश्य श्रमिक का भी है परन्तु जिस प्रणाली के अन्तर्गत वह कार्य करता है उसे इस आरोप से वंचित नहीं किया जा सकता। जब हम भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता और ब्रिटेन, अमरीका या अन्य देशों के श्रमिकों की कार्यक्षमता की तुलना करते हैं तो हमें दोनो देशों के कारखाने में लगी मशीनों और कार्य की स्थिति पर भी विचार करना चाहिए। परन्तु फिर भी इन सभी बातो पर विचार करने के बाद भी यह सही है कि भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता अमरीकी तथा ब्रिटिश श्रमिक की कार्यक्षमता से कम है।

भारतीय श्रमिक के अकुशल होने के अनेक कारण बताये गये हैं : (१) श्रमिक की अस्वस्थता, (२) कुशलता का अभाव, (३) उसका प्रवाजी स्वभाव, (४) जलवायु, (५) श्रमिक का कम वेतन, (६) भारतीय उद्योग द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले कच्चे माल का घटिया प्रकार, (७) टूटी-फूटी और पुरानी मशीनें और बहुत से कारखानों मे दोष पूर्ण अभिन्यास और (८) अकुशल औद्योगिक सगठन।

दुर्बल शरीर तथा बुरा स्वास्थ्य—इसमे कुछ सन्देह नहीं कि भारतीय श्रमिक का स्वास्थ्य ब्रिटिश या अमरीकी श्रमिक की अपेक्षा गिरा हुआ है। प्रश्न भारतीय श्रमिक और ब्रिटिश अथवा अमरीकी श्रमिकों के स्वास्थ्य की तुलना करना नहीं है। वास्तव में प्रश्न यह है कि भारतीय श्रमिक जो काम करता है वह उस काम के लिये उपयुक्त है या नहीं। यदि वह उस काम के लिये उपयुक्त है तो यह कहना उचित नहीं कि ब्रिटिश अथवा अमरीकी श्रमिक की अपेक्षा स्वास्थ्य अधिक खराब होने के कारण भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता अपेक्षाकृत कम है। स्वास्थ्य ठीक न रहने पर ब्रिटिश, अमरीकी प्राय. सभी श्रमिको का उत्पादन गिर जाता है, उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती है। इसलिये भारतीय श्रमिक की अकुशलता का कारण उसकी बीमारी या दुर्बलता नही हो सकते हैं।

(ii) प्रवासी प्रवृत्ति—भारतीय श्रमिक की प्रवासी प्रवृत्ति से भी उसकी अकुशलता नहीं सिद्ध की जा सकती क्योंकि जबतक श्रमिक काम करता है तबतक औद्योगिक केन्द्रों मे रहता है और इस बीच वह अपनी सम्पूर्ण योग्यता के अनुकूल कार्य कर सकता है। बीच-बीच में गाँव चले जाने से एक निश्चित लाभ यह होता है कि कारखाने के काम से कुछ दिन का अवकाश ले कर कारखाने के नियमित कार्य से अलग हो जाने के कारण एक नई शक्ति प्राप्त करता है इससे पुन. कारखाने लौटने पर वह पहले की अपेक्षा अधिक कार्य कर सकता है।

(iii) कुशलता का प्रभाव—इसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता है कि कुशलता न होने के कारण ही उसकी कार्यक्षमता कम है, क्योंकि यदि श्रमिक एक विशेष कार्य करता है तो इसका कारण ही यह है कि वह इस कार्य को अन्य कार्यों की अपेक्षा अच्छी प्रकार कर सकता है। कुशलता का अभाव तभी होता है जब कुशल टेकनीशियनों का अभाव हो परन्तु जहाँ कुशल टेकनीशियन काम करते हैं वहाँ उनकी कार्यक्षमता उतनी ही शिक्षा पाये हुए अन्य देशों के टेकनीशियनों से कम नहीं होनी चाहिये। जहाँ तक ऐसे कार्य का सम्बन्ध है जिसको करने में विशेष कुशलता की आवश्यकता नहीं होती है वहाँ कुशलता के अभाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

(iv) कम मजदूरी—यह कहा जाता है कि पारिश्रमिक कम होने के कारण ही श्रमिक की कार्यक्षमता कम है। इसके समर्थन मे यह तर्क दिया जाता है कि कम पारिश्रमिक होने से श्रमिक अपना और अपने परिवारका ठीक से भरण-पोषण नहीं कर पाता है। इससे उसकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। परन्तु यह जानना चाहिए कि इन सब बातो का कारण पारिश्रमिक कम होना नहीं है वरन् मूल्य स्तर की तुलना मे पारिश्रमिक का अभाव है। यदि श्रमिक का पारिश्रमिक कम हो और जिन वस्तुओं पर वह अपना पारिश्रमिक व्यय करता है उनके मूल्य और भी कम हों तो उसे अपने परिवार का भरण-पोषण करने में कुछ कठिनाई नहीं होगी। वह अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए सभी वस्तुएँ क्रय कर सकता है। वास्तव में मुख्य समस्या यह है कि पारिश्रमिक वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा कम है। इसी कारण श्रमिक अपने परिवार को पेट भर भोजन नहीं दे पाता है और उसकी अन्य आवश्यकताएँ भी पूर्ण नहीं हो पाती। इससे उसकी कार्यक्षमता की क्षति होती है। प्रश्न पर्याप्त भोजन न पाने और जीवन को सुखी बनाने के प्रसाधनों को न पाने का नहीं है। वास्तव मे श्रमिक वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा पारिश्रमिक कम होने के कारण परिवार का ठीक तरह से प्रबन्ध भी नहीं कर पाता। इससे उसे सदैव चिन्ता लगी रहती है जिससे अंत मे उसकी कार्यक्षमता

पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार एक दुष्चक्र स्थापित हो जाता है; उसकी कार्यक्षमता घट जाती है और उत्पादन कम हो जाता है। पारिश्रमिक होने से कार्यक्षमता नहीं बढ पाती है और जब तक कार्यक्षमता में वृद्धि नहीं होती पारिश्रमिक नहीं बढ़ सकता। यही कारण है कि भारतीय श्रमिक इतने वर्षों के पश्चात् भी आज निर्धन ही बना हुआ है। यदि श्रमिक का पारिश्रमिक बढ जाय और इसके फलस्वरूप उसकी कार्यक्षमता में भी वृद्धि हो तो वह भविष्य में और अधिक पारिश्रमिक कमा सकता है। जहाँ तक पारिश्रमिक का सम्बन्ध है, द्वितीय महायुद्ध से श्रमकों की स्थिति में सुधार हुआ है। १९४२ से १९५२ के बीच भारतीय श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि हुई परन्तु दुर्भाग्य से पारिश्रमिक बढने के साथ-साथ वस्तुओं के मूल्यों में भी वृद्धि हुई और अनेक वस्तुओं की क़ीमतों में मज़दूरी की अपेक्षा बहुत अधिक वृद्धि हुई। १९४२ और १९५२ के बीच मजदूरों की वास्तविक पारिश्रमिक में बहुत वृद्धि नहीं हुई। जब तक वास्तविक पारिश्रमिक मे वृद्धि नहीं होती अर्थात् अपने द्राव्यिक पारिश्रमिक से वस्तुओं और सेवाओं को अधिक मात्रा में नहीं खरीद पाता श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि नहीं हो सकती और यह दुष्चक्र नहीं टूट सकता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य देशों की तुलना में भारतीय श्रमिक की मजदूरी कम है। यद्यपि हाल में द्राव्यिक तथा वास्तविक मजदूरी में वृद्धि हुई है किन्तु इसके साथ भारतीय श्रम की क्षमता में वैसी वृद्धि नहीं हुई है। श्रम-मत्रालय के श्रम-कार्यालय द्वारा १९५६ में फैक्ट्री की अर्जित आय सम्बन्धी प्रकाशित विवरण से निम्न रोचक निकर्ष निकलते हैं :—

१—भारत मे फैक्ट्री में काम करने वालो की कुल अर्जित आय (रेलवे वर्कशाप सम्मिलित नहीं है) १९४७ में १३७ ३ करोड रु० थी जो १९५५ और १९५६ में बढकर क्रमश. २४५ करोड़ रु० २६६·५ करोड़ रु० हो गई। स्थायी उद्योगों में लगे तथा २०० रु० प्रति माह से कम पाने वाले व्यक्तियों की वार्षिक आय १९४७ में ७३७ रु० थी। १९५५ और १९५६ में बढकर यह क्रमश. १,१७४ रु० तथा १२१३ रु० हो गई।

२—१९४७ से १९५६ तक दस वर्षों मे भारतीय उद्योगों में मजदूरों की वार्षिक आय में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। चमड़ा उद्योग में ४% तथा सीमेन्ट उद्योग में १६३% हुई है। सम्पूर्ण देश को ध्यान में रखते हुये कहा जा सकता है कि प्रति मजदूर वार्षिक आय में ६३% की वृद्धि हुई है।

३—श्रम कार्यालय द्वारा प्रकाशित आँकडे वास्तविक आय अथवा रहन-सहन के स्तर में कोई सुधार नहीं प्रकट करते। १९४७ से १९५६ के बीच में

श्रमिक वर्ग से सम्बन्धित मूल्यों में २१% की वृद्धि हुई है तथा सामान्य मूल्य स्तर में २१% की वृद्धि हुई है जब कि औसत द्राव्यिक मजदूरी में ६३% की वृद्धि हुई है। इससे रहन-सहन के स्तर में होने वाली वृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि द्राव्यिक एवम् वास्तविक मजदूरी में वृद्धि हुई है किन्तु भारतीय श्रम की उत्पादकता मे उस अनुपात में वृद्धि नहीं हुई है।

(v) जलवायु—श्रमिक की कार्यक्षमता मे कमी होने का एक महत्वपूर्ण कारण भारत की जलवायु है। वर्ष के अधिकाश भाग मे न केवल औद्योगिक श्रमिको को वरन् सभी लोगो को आलस्य और शिथिलता घेरे रहती है। इससे कठिन परिश्रम का काम एक प्रकार से असम्भव हो जाता है। ब्रिटिश तथा जापानी श्रमिक की अपेक्षाकृत अधिक कार्यक्षमता का एक कारण उन देशो की जलवायु भी है। भारत में भी विभिन्न क्षेत्रो के श्रमिकों की कार्यक्षमता मे जलवायु के अनुरूप अतर है।

(vi) भारतीय उद्योगो द्वारा घटिया माल का उपयोग—भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता कम होने का दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि भारतीय उद्योग घटिया प्रकर के कच्चे माल का उपयोग करते हैं, कारखानों मे पुरानी और घिसी टूटी मशीनें हैं, मिलो के नियोजन में दोष हैं और औद्योगिक सगठन खराव है। इसका पूर्ण उत्तरदायित्व मिल-मालिको पर है। यदि वह अच्छे प्रकार का कच्चा माल दें और कारखानो मे अच्छी मशीनें लगायें तो भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता बढेगी और श्रमिक के प्रति घण्टा उत्पादन की मात्रा भी पहले की अपेक्षा अधिक होगी। कारखानों में पुरानी मशीनो के स्थान पर आधुनिक मशीनों को लगा सकना वर्तमान मे सभव नही हो सका क्योंकि (१) इसके लिए आवश्यक वित्त का अभाव है, (२) मशीनों इत्यादि और टेकनिकल सामान का उपलब्ध हो सकना कठिन है, (३) भारतीय मिल-मालिक आधुनिक मशीनों के लाभ से अपरिचित हैं और (४) कारखानों के युक्तिकरण का श्रमिकों द्वारा विरोध किया जाता है। भारतीय श्रमिक मशीनो के युक्तिकरण का और पुरानी घिसी मशीनों को बदलने का तीव्र विरोध करता है। श्रमिकों का कहना है कि इससे बेरोजगारी होती है। भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता कम है क्योंकि कारखानों की मशीनें पुरानी और घिसी-पिटी हैं इसलिए जब श्रमिक इन मशीनों को बदलने का विरोध करता है तब वास्तव में वह अपनी कार्यक्षमता में सुधार को रोकता है। युक्तिकरण के अध्याय मे बताया गया है कि मशीनो के युक्तिकरण से बेरोजगारी फैलना आवश्यक नहीं है, यदि बेरोजगारी फैलती है तो सभी लोगों की तरह श्रमिकों को भी प्रगति के लिए यह कष्ट झेलना ही पडेगा। यदि मशीनो

में सुधार होने से बेरोजगारी फैलती है और श्रमिकों की कुछ क्षति होती है तो दीर्घ काल मे श्रमिक की कार्यक्षमता में वृद्धि होने से और अधिक पारिश्रमिक मिलने से यह हानि लाभ मे बदल जाती है।

श्रमिक की कार्यक्षमता की कमी बहुत कुछ उसकी मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। कार्यक्षमता में कमी होने के सभी कारणों में प्रमुख यह है कि भारतीय श्रमिक विलास प्रिय है और उसमें अनुशासन का अभाव होता है। जब तक श्रमिक अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझता और जब तक मिल-मालिक के और अपने हितों को समान नहीं समझता तब तक वह अपनी पूर्ण योग्यता एवम् क्षमता से कार्य नहीं करता है। उत्पादन शक्ति रखते हुए भी अपनी कार्यक्षमता में कमी बनाये रहता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद श्रमिकों की विचार धारा में पहले की अपेक्षा और बुराई आ गई है। श्रमिकों ने कारखानों में 'काम धीरे करने' की नीति अपना ली है जिसका अर्थ यह है कि कार्य करने के लिए निर्धारित समय में श्रमिक उचित परिश्रम करने के स्थान पर कार्य अत्यन्त धीरे-धीरे करके अपना समय नष्ट करता है। श्रमिक द्वारा 'काम धीरे-धीरे करो' नीति अपनाने का एक कारण मालिकों को अपनी माँगें मानने के लिए मजबूर करना है। परन्तु इस उद्देश्य के पूरे होने के स्थान पर इसके विपरीत उत्पादन कम हो गया है और इससे उसकी स्थिति और भी बिगड़ गई है।

भारतीय श्रमिकों में अनुशासन के अभाव को गत कुछ वर्षों में (१) उत्पादन के आधार पर नहीं बल्कि केवल उपस्थिति के आधार पर मँहगाई भत्ता, बोनस इत्यादि देने से बढावा मिला है। मँहगाई भत्ते को श्रमिक के रहन-सहन के व्यय में सम्मिलित कर दिया गया है। श्रमिक चाहे अपना कार्य पूर्ण करे या न करे उसे मँहगाई भत्ता मूल्य के देशनाँकों के अनुकूल अवश्य मिलता है। इस कारण श्रमिक अपने उत्पादन अथवा अपने कार्य की किंचित् मात्र भी चिन्ता नहीं करता है। यदि मँहगाई भत्ते को उत्पादन पर आधारित कर दिया जाता तो श्रमिक ऐसा नहीं करता। साथ ही निर्धारित मात्रा से अधिक उत्पादन करने पर श्रमिक का बोनस और मँहगाई भत्ता बढता और उत्पादन बढ़ता, (२) इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट के पास होने के पहिले तक औद्योगिक झगड़ों पर समझौते और पन्चनिर्णय प्रणाली के अन्तर्गत उद्योग अथवा कारखाने के मालिक को अपने कर्मचारी को निकालने का अधिकार नहीं था, चाहे कर्मचारी अकुशल हो या काम लापरवाही से करता हुआ पाया गया हो। ऐसे मामलों में नौकरी से अलग करने का निर्णय समझौता बोर्ड, श्रम न्यायालय, या औद्योगिक न्यायालय करते

थे। इसके परिणाम स्वरूप कार्यक्षमता को क्षति पहुँची है और श्रमिक के प्रति
घन्टे उत्पादन की मात्रा गिरी है।

दोष दूर करने के उपाय—भारत में श्रमिकों की कार्यक्षमता की स्थिति
बहुत बिगड़ चुकी है और इसको सुधारने के लिए सरकार को, मिल-मालिकों और
श्रमिक नेताओं को बहुत अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता है। यदि इस
दिशा मे पूरी शक्ति से प्रयत्न नहीं किया गया और केवल आंशिक प्रयत्न किए
गये तो समस्या सुलझने की सम्भावना कम है। भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता
बढ़ सकती है। इसके लिए यह आवश्यक है कि (१) मँहगाई भत्ता, बोनस
इत्यादि उत्पादन के आधार पर दिए जावें। यह आवश्यक है कि श्रमिक का
न्यूनतम पारिश्रमिक और उसके कार्य की मात्रा निश्चित कर दिए जाँय। श्रमिको
के लिये एक न्यूनतम पारिश्रमिक इस शर्त पर निश्चित कर दी जाय कि वह एक
निश्चित मात्रा में कार्य करे। इसके उपरान्त पारिश्रमिक मे वृद्धि हो सकती है पर
वृद्धि का अनुगणन ऐसे सूत्र के आधार पर होगा जिसमे रहन सहन की लागत
और श्रमिक की उत्पादकता दोनों ही बातों का विचार सम्मिलित हो। इससे
श्रमिकों के हित की रक्षा यदि रहन सहन के व्यय में वृद्धि हो गई तो होगी
और साथ ही साथ यदि उनकी उत्पादकता घट जायगी तो मिल मालिकों का भी
हित उपेक्षित न हो सकेगा, (२) काम धीरे करो' नीति को औद्योगिक झगडे के
अन्तर्गत समझना चाहिए। यदि श्रमिक 'काम धीरे करो' नीति अपनाएँ तो ऐसी
व्यवस्था होनी चाहिए कि मिल-मालिक समझौता बोर्ड इत्यादि के द्वारा अपनी
शिकायत दूर करा सकें, (३) यदि श्रमिक अच्छी प्रकार कार्य न करें और निर्धा
रित मात्रा में उत्पादन न करें तो उद्योगपति अथवा मिल-मालिक को उन्हें निकालने
का अधिकार दिया जाना चाहिए, (४) आलस्य, उत्तरदायित्व को टालने की
भावना और अनुशासन के अभाव को दूर करने के लिए सरकार को और श्रमिक
नेताओं आदि को निरन्तर प्रचार कार्य करते रहना चाहिए। यदि उसका ध्यान
बारम्बार इस दृश्य की ओर आकर्षित किया जायगा कि उसकी कार्यवाही से वह
उद्योग नष्ट हो सकता है जिस पर उसकी समृद्धि निर्भर करती है तो अवश्य
ही श्रमिक की स्थिति मे सुधार होगा और उसका दृष्टिकोण बदलेगा। यद्यपि
यह कार्य बहुत धीरे-धीरे होगा परन्तु दीर्घकाल मे श्रमिक की कार्यक्षमता
बढ़ाने मे इसका बहुत अधिक प्रभाव पडेगा, (५) श्रमिक की उत्पादन
शक्ति का अध्ययन करने के लिए और उसको प्रोत्साहन देने के ब्रिटिश
प्रोडक्टिविटी कौंसिल के समान एक विशेष संगठन भारत मे भी स्थापित
करना चाहिए। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के उत्पादन शक्ति का अध्ययन करने

वाले दल ने बम्बई सूती मिल उद्योग में जो कार्य किया है उससे भारतीय सूती उद्योग का उत्पादन बढ़ने की सम्भावना है। इस दल ने सुझाव दिया है कि कारखानों में सभी कार्य आधुनिक रीति से किया जाय और वर्तमान स्थिति का गंभीर अध्ययन करने के बाद उद्योग के संगठन की योजना बनाई जाय। औद्योगिक कार्यक्षमता में वृद्धि करने के लिए आवश्यक सुझाव देने को विभिन्न उद्योगों में तत्सम्बन्धी अध्ययन की व्यवस्था की जानी चाहिए।

अध्याय ३१

औद्योगिक सम्बंध

औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने, श्रमिकों की आर्थिक स्थिति को सुधारने और देश को आर्थिक दृष्टि से समृद्धशाली बनाने के लिये औद्योगिक शांति का अत्यन्त महत्व है। यदि हड़तालें होती हैं, मिलों-कारखानों में तालाबन्दी की जाती है और औद्योगिक शांति भंग की जाती है तो उत्पादन घटने लगता है, उत्पादन व्यय में वृद्धि होने लगती है और आय कम हो जाने से श्रमिकों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बाजार में वस्तुओं की पूर्ति नियमित रूप से न होने या उनकी पूर्ति में किसी प्रकार की बाधा आ जाने से उपभोक्ताओं को भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। औद्योगिक क्षेत्र में अशांति होने से सम्पूर्ण देश की शांति भंग हो जाती है और इससे किसी को लाभ नहीं होता। पूँजीवादी व्यवस्था में तालाबंदी का होना आवश्यक नहीं है। यदि उचित ध्यान रखा जाय और व्यवस्था ठीक हो तो इन बाधाओं को पूरी तरह समाप्त न भी किया जा सके तो कम से कम टाला अवश्य जा सकता है।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ—भारत के औद्योगिक क्षेत्र में शांति बनाये रखना सदैव संभव नहीं रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के काल में औद्योगिक झगड़ों की संख्या और इन झगड़ों के कारण नष्ट हुए कार्य के दिनों की संख्या काफी कम रही है। आँकड़ों से प्रकट होता है कि १९४३ में जब कि युद्ध अपनी चरम सीमा पर था हड़ताल एवम् तालाबन्दियों से केवल २३ लाख कार्य के दिन नष्ट हुए। १९४४ में यह संख्या बढ़कर ३४ लाख दिन और १९४५ में ४१ लाख दिन हो गई। यह संख्या फिर भी अपेक्षाकृत कम रही, इसको अत्यधिक नहीं कहा जा सकता है। युद्ध के समय औद्योगिक सम्बन्ध काफी अच्छे रहे क्योंकि (१) श्रमिक ने सरकार को लड़ाई में सहयोग देने का वचन दिया और वह यह नहीं चाहते थे कि उत्पादन में किसी प्रकार की बाधा पड़े और युद्ध का सफल संचालन कर सकने में किसी प्रकार की बाधा पड़े। (२) उस समय वस्तुओं के भाव में तथा रहन-सहन के व्यय में वृद्धि की समस्या उत्पन्न नहीं हुई थी। इसी समस्या से ही बाद में औद्योगिक झगड़े उत्पन्न हुए। १९ अगस्त १९३९ को समाप्त होनेवाले सप्ताह को आधार मानते हुए १९४१-४२ और बाद के चार वर्षों में सामान्य मूल्य के देशनांक क्रमशः १३७·०, १७१·०, २३६·५, २४४·२ और २४४·९ रहे। वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो गई थी परन्तु इसी समय वेतन में भी आंशिक वृद्धि

हो गई थी। इसमे मालिक तथा कर्मचारियों के सम्बन्ध विशेष खराब नहीं हुए, (३) युद्ध के समय भारतीय प्रतिरक्षा नियम की धारा ८१-ए लागू थी जिसके अनुसार औद्योगिक झगडों का निपटारा करने के लिए सरकार को सकट कालीन अधिकार दिये गये थे। सरकार अशाति के विरुद्ध कडी कार्यवाही करने को स्वतत्र थी।

परन्तु युद्ध के समाप्त होते ही, और विशेषकर स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् औद्योगिक झगडों की सख्या बढी और उत्पादन मे कमी आ गई। १९४६ और १९४७ में क्रमश १ करोड़ २७ लाख और १ करोड़ ६८ लाख कार्य के दिन नष्ट हो गये जब कि १९४५ में केवल ४१ लाख कार्य के दिन नष्ट हुए। औद्योगिक झगड़ों मे इतना वृद्धि होने का कारण यह था कि (अ) स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् श्रमिक के दिल में नई आशाएँ जगी थीं। श्रमिक अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारना चाहते थे और इसी के परिणाम स्वरूप हड़तालें हुईं। सरकार की श्रम नीति ने भी जिसका उद्देश्य श्रमिकों का पारिश्रमिक बढाना और कार्य की स्थिति में सुधार करना था, इसमें काफी योगदान दिया, (ब) युद्ध काल की अपेक्षा चीजों के भाव में अधिक वृद्धि हुई। १९४५-४६ में थोक बिक्री के भाव का देशनाक २४४·६ था परन्तु १९४६-४७ में बढ कर २७५.४ और १९४७-४८ में ३०७ हो गया। वस्तुओं के मूल्यों में तो वृद्धि हुई परन्तु वेतन अथवा पारिश्रमिक में इसी अनुपात में वृद्धि नहीं हुई। इससे श्रमिक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परिणामस्वरूप श्रमिकों ने वेतन अथवा पारिश्रमिक बढवाने के लिए हडतालें कीं, (स) भारतीय प्रतिरक्षा नियम के लागू न रहने से श्रमिकों ने एक छूट का अनुभव किया। अब श्रमिकों की इच्छा भी युद्ध के समय की तरह कठोर परिश्रम करके उत्पादन बढाने की नहीं रही थी।

स्थिति काफी गभीर रूप धारण करती गई और १९४७ के दिसम्बर में भारत सरकार को औद्योगिक शाति समझौता कराने के लिए हस्तक्षेप करना पड़ा। इससे भारत में औद्योगिक सम्बन्ध सुधारने मे काफी सहायता मिली। श्रमिक के आन्दोलन और सरकार के हस्तक्षेप करने से पारिश्रमिक में वृद्धि हुई, मँहगाई भत्ता, बोनस और लाभाश में श्रमिकों के भाग में भी वृद्धि हुई। यह कहा गया कि द्रव्य में श्रमिक का पारिश्रमिक बढने से श्रमिक का वास्तविक पारिश्रमिक नहीं बढा और यदि रुपये की क्रय शक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि श्रमिकों की स्थिति युद्ध से पूर्व के वर्षों की अपेक्षा कहीं अधिक बिगड़ गई। इस तर्क मे इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि मूल्य बढ जाने से केवल श्रमिक को ही नहीं बल्कि सभी वर्गों की जनता को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

प्रश्न यह नहीं है कि श्रमिक को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा या नहीं; वास्तव में विचारणीय बात यह है कि क्या श्रमिकों को समाज के अन्य लोगो की अपेक्षा अधिक कष्ट सहने पडे। यद्यपि श्रमिकों के कुछ वर्ग ने अधिक वेतन अथवा पारिश्रमिक की मांग करते हुए आन्दोलन जारी रखा परन्तु जहाँ तक पूरे श्रमिक वर्ग का प्रश्न है वह सन्तुष्ट रहा और हड़तालों की सख्या भी घट गई। मिल मालिकों ने तालाबन्दी घोषित नहीं की क्योंकि पारिश्रमिक में वृद्धि होने के साथ ही उत्पादित माल के मूल्य मे भी वृद्धि हुई और बाजार विक्रेता के अनुकूल दृढ होने के कारण मिल मालिकों को अधिक हानि नहीं उठानी पड़ी। इसके साथ ही औद्योगिक झगडे सम्बन्धी कानून के अन्तर्गत झगडे सुलझानेवाली संस्था क्रमशः अधिक प्रभावशाली बनाई गई और समझौते तथा अनिवार्य पचनिर्णय के द्वारा अनेक होने वाले औद्योगिक झगडों को जो अवश्य उत्पन्न होते रोक लिया गया। १९५० में कुल नष्ट हुए श्रम-दिनो की सख्या १२८'१ लाख हो गई परन्तु इसका कारण सर्वत्र औद्योगिक सम्बन्धों का बिगड़ना नही बल्कि सूती मिल उद्योग की लम्बी हड़ताल थी। कुल नष्ट हुए १२८ १ लाख दिनों में से १२ लाख दिन अकेले सूती उद्योग में ही नष्ट हुए। औद्योगिक समझौते के पश्चात् से भारत में औद्योगिक शांति अधिक भग नहीं हुई है और उक्त तालिका के अनुसार नष्ट हुये श्रम-दिनों की सख्या घटकर १९५१ मे ३८ २ लाख, १९५२ में ३३'४ लाख, १९५३ में ३३'८ लाख और १९५४ में ३७ २ लाख हो गई। १९५६ मे ६९ ६ लाख श्रम दिन नष्ट हुये। औद्योगिक झगडो की सख्या १,२०३ तथा उनसे सम्बन्धित श्रमिको की सख्या ७१५,१३० थी। १९५७ मे ६४ लाख श्रमदिन नष्ट हुये तथा औद्योगिक झगडों की सख्या २,०५६ तथा उनसे सम्बन्धित श्रमको की सख्या १,०१८,६२५ थी। नष्ट हुये ६४ लाख श्रम-दिनों मे सूती वस्त्र उद्योग मे १५ लाख दिन, कोयला तथा अन्य खदान उद्योगो में लगभग १० लाख, रोपण तथा जूट उद्योग मे लगभग ५ लाख श्रम दिन नष्ट हुये।

कानूनी व्यवस्था—एक जनतन्त्रवादी देश मे जहाँ उद्योग स्वतंत्र है अपनी माँग के अनुसार उचित वेतन अथवा पारिश्रमिक न मिलने पर श्रमिक को अन्य उपाय असफल रहने के पश्चात् अंत में हड़ताल करने का अधिकार है और यदि मालिक श्रमिकों के कार्य से सन्तुष्ट नहीं हो तो उसे भी तालाबन्दी घोषित करने का पूर्ण अधिकार है। यद्यपि जनतंत्री शासन व्यवस्था मे यह अधिकार निहित हैं फिर भी बिना सार्वजनिक हित पर विचार किये इन अधिकारों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। हड़ताल होने से या तालाबन्दी घोषित की जाने से उपभोक्ता को भी अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। श्रमिक तथा मिल

मालिकों द्वारा क्रमश हड़ताल और तालाबन्दी के अपने मूलभूत अधिकारों के प्रयोग के प्रति जनता और सरकार उदासीन नहीं रह सकते। उचित रीति से समझौता वार्त्ता चलाने और एक दूसरे की कठिनाइयों को समझते हुए औद्योगिक झगडे को सुलझाना सदैव सभव है। औद्योगिक झगडे सम्बन्धी कानून का उद्देश्य यह है कि झगडा होने पर मालिकों तथा कर्मचारियों के बीच समझौता करने के लिए साधन खोजा जाय। इस कानून में विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल भिन्न भिन्न साधनों की व्यवस्था की गई है और किसी भी औद्योगिक झगडे मे समझौते तथा पचनिर्णय मे जितना समय लगना चाहिए उसकी अवधि भी निश्चित कर दी गयी है। इसमे मामले पर विचार करने की पूर्ण विधि विस्तार से दी गई है। भारत तथा ससार के अनेक देशो में यह देखा गया है कि कार्य की अस्पष्ट रूपरेखा के कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता और इससे औद्योगिक मतभेद हो जाता है। श्रम कानून का यह उद्देश्य है कि इस प्रकार के भ्रमों को उत्पन्न होने से रोका जाय और यदि भ्रम उत्पन्न हो गया है तो उसे दूर किया जाय।

१६२६ का भारतीय व्यापारिक विग्रह कानून—इस कानून में सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं तथा अन्य उद्योगों के लिए पृथक व्यवस्था की गई थी। सार्वजनिक उपयोगिता सेवायें जैसे रेलवे डाक तथा तार, बिजली और जल पूर्ति विभाग के कर्मचारियों तथा भगियों इत्यादि की हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगाया गया था। ये कर्मचारी मालिक को १४ दिन पूर्व नोटिस देने के पश्चात् ही हड़ताल कर सकते थे। अन्य उद्योगों मे हड़ताल अथवा तालाबन्दी को घोषित किया जा सकता था परन्तु इन झगडों को सुलझाने के लिए एक निश्चित साधन नियुक्त किया गया था। औद्योगिक झगडों के सम्बन्ध में तदर्थ जाँच समिति और समझौता परिषद् नियुक्त करने की भी व्यवस्था की गई थी। जाँच समिति में एक या एक से अधिक निष्पक्ष व्यक्ति रखे जायँगे। यह समिति मामले की जाँच करने के पश्चात् अपनी रिपोर्ट नियुक्त करने वाली सरकार के सामने प्रस्तुत करेगी। समझौता परिषद् इस बात का प्रयत्न करेगी कि दोनों पक्ष साथ बैठकर अपने मतभेदों को दूर करके समझौता कर लें। समझौता न हो सकने पर मामले की रिपोर्ट सरकार के पास भेज दी जाती थी। इस कानून में अनिवार्य पचनिर्णय की व्यवस्था नहीं की गई थी। इसके अनुसार सरकार ने केवल यही प्रयत्न किया कि दोनों पक्ष एक दूसरे के और अधिक निकट आ जाएँ और मामले तथा उस झगडे के कारणों को जनता को बतावे जिससे समझौता करने के लिए जनता की राय का भी बल प्राप्त हो। जनहित की सुरक्षा के लिए कानून की दृष्टि में वे हड़तालें और तालाबन्दियाँ गैर कानूनी थी (क) जिनका उद्देश्य उद्योग के अन्द

झगडे का प्रसार करने के अतिरिक्त कुछ और भी हो या (ख) जिनका उद्देश्य जनता पर अनेक कठिनाइयाँ लादकर सरकार को विशेष कार्यवाही करने को मजबूर करना हो।

यह कानून उपयुक्त सिद्ध नहीं हुआ। औद्योगिक सम्बन्धो मे सुधार करने के लिए यह पर्याप्त नहीं था क्योंकि (१) समझौता अधिकारी अथवा झगडे का शीघ्र निपटारा करने वाली अन्य सस्थाओं के स्थान पर तदर्थ सार्वजनिक जॉच को अधिक महत्त्व दिया गया और (२) स्थाई औद्योगिक न्यायालय की स्थापना के लिए कुछ व्यवस्था नहीं की गई।

बम्बई मे १६३४, १६३८ और १६४६ मे औद्योगिक विग्रह कानून बनाकर उक्त कानून के दोषो को कुछ सीमा तक दूर कर दिया गया। इन कानूनो के अन्तर्गत मालिको द्वारा श्रमिक सघो को मान्यता दी जाने की व्यवस्था की गई थी। इन कानूनों मे झगडो को सुलझाने की पूरी विधि और निश्चित अवधि दी गई थी। केवल सार्वजनिक जॉच करने की अपेक्षा समझौते और झगडा सुलझाने पर अधिक महत्व दिया गया। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि कार्य की शर्तें अस्पष्ट और अनिश्चित न हो क्योंकि इससे झगडे उत्पन्न होते हैं। इसके लिए यह व्यवस्था की गई कि समझौते की शर्तें और स्थायी सभायें लिखित और रजिस्टर्ड हो। अन्य प्रभावशाली साधनों के साथ ही स्थायी औद्योगिक न्यायालय का विकास हुआ है। पहले के कानूनों में न्याय का मानना अनिवार्य नहीं था परन्तु हडताल अथवा ताले-बन्दी से पूर्व सम्पूर्ण मामले शातिपूर्ण उपाय से सुलझाने के लिए प्रस्तुत करने आवश्यक थे। परन्तु बम्बई के १६४६ के कानून मे पचनिर्णय के लिए मामला प्रस्तुत करना अनिवार्य कर दिया गया और अपील करने के लिए एक अदालत की व्यवस्था की गई। वास्तव मे बम्बई ने इन कानूनों का बनाकर भविष्य में अखिल भारतीय पैमाने पर अधिक उपयुक्त कानून बनाने के लिए मार्ग दर्शाया।

भारतीय प्रतिरक्षा नियम के अन्तर्गत कार्यवाही—पहले कहा जा चुका है कि युद्ध काल मे औद्योगिक झगडो को हल करने के लिए सरकार ने सङ्कट कालीन अधिकार प्राप्त कर लिये थे। भरतीय प्रतिरक्षा नियम की धारा ८१ (ए) के अन्तर्गत, जो जनवरी १६४२ में लागू की गयी थी, यह व्यवस्था की गई थी कि ब्रिटिश भारत की प्रतिरक्षा के लिए, सार्वजनिक सुरक्षा के लिये, शाति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये युद्ध का कार्य ठीक प्रकार से चलाने के लिये समुदाय के जीवन के लिये आवश्यक सामान की पूर्ति जारी रखने के लिये सामान्य अथवा विशेष आदेश द्वारा केन्द्रीय सरकार तालाबन्दी तथा हडताल पर रोक

लगा सकती है और औद्योगिक झगड़ों को समझौते या अदालती कार्यवाही के लिये भेज सकती है और अदालत के निर्णय को लागू कर सकती है। इस कानून में यह भी व्यवस्था की गई थी कि हड़ताल अथवा तालाबन्दी की पहले से सूचना दी जाय। समझौते की कार्यवाही की अवधि में हड़ताल अथवा तालाबन्दी पर रोक लगा दी गई थी। क्योंकि सरकार को अदालती निर्णय अनिवार्य रूप से लागू कर देने का अधिकार प्राप्त था इसलिये हम कह सकते हैं कि इस नियम के द्वारा पचनिर्णय अनिवार्य कर दिया गया था।

१९४७ का औद्योगिक विग्रह कानून—फरवरी १९४७ में केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक विग्रह कानून स्वीकृत किया। इस कानून ने बम्बई के अनुभव का लाभ उठाकर १९२९ के औद्योगिक विग्रह कानून के कुछ दोषों को दूर कर दिया। इस कानून में कार्य समिति, समझौता अधिकारी, समझौता बोर्ड और जाँच-अदालत नियुक्त करने की व्यवस्था है। इनके अतिरिक्त इस कानून में अस्थायी औद्योगिक न्यायालय स्थापित करने की व्यवस्था की गई है जिसमें उच्च न्यायालय के न्यायाधीश होंगे। इस कानून में परस्पर समझौता करने पर अधिक महत्व दिया गया है। पहले कानून में केवल जाच कार्य को ही महत्व दिया गया था। कार्य समितियों का कार्य परस्पर बातचीत करके मालिक तथा कर्मचारी के बीच का मतभेद दूर करने और समझौता पदाधिकारियों तथा समझौता बोर्डों का कार्य दोनों पक्षों में समझौता कराना है। परन्तु यदि यह प्रयत्न सफल न हो तो मामले को औद्योगिक न्यायालय में प्रस्तुत करने की व्यवस्था की गई है। सरकार को इन न्यायालयों का न्याय पूर्ण या आंशिक रूप में लागू करने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार इस कानून में भी अनिवार्य पचनिर्णय की व्यवस्था है।

१९५१ में औद्योगिक विग्रह (संशोधन) अध्यादेश जारी करके इस कानून की कुछ कमियों को दूर कर दिया गया। इस अध्यादेश के द्वारा वे औद्योगिक इकाइयाँ भी अदालती कार्यवाही के क्षेत्र में आ गई जिनमें अब तक कोई झगड़ा नहीं हुआ था परन्तु भविष्य में होने की सम्भावना थी। भविष्य में एक ही बात पर अन्य औद्योगिक इकाइयों में झगड़ा न होने देने के लिए यह अध्यादेश आवश्यक समझा गया। १९५० के औद्योगिक विग्रह (श्रम अपील न्यायालय) कानून से श्रम अपील न्यायालय स्थापित करने की व्यवस्था की गई है जिसमें विभिन्न औद्योगिक पच न्यायालयों, औद्योगिक अदालतों, वेतन परिषदों इत्यादि के फैसले पर की गई अपीलों की सुनवाई होगी। श्रम अपील न्यायालय के किसी अदालत फैसले अथवा निश्चय के विरुद्ध की गई अपीलों पर विचार करने का अधिकार है परन्तु इसकी दो शर्तें हैं • (१) फैसले अथवा निश्चय में कोई विशेष कानूनी पेंच

हो या (२) उसका प्रबन्ध वेतन, बोनस, छटनी इत्यादि से हो। विभिन्न राज्यों में ओद्योगिक न्यायालयों द्वारा परस्पर विरोधी फैसले दिये जाने के कारण जिसस देश मे ओद्योगिक सबन्ध अधिक जटिल होते जाते थे श्रम अपील न्यायालय स्थापित करने की आवश्यकता अनुभव हुई। इसके साथ ही अपील करने के लिए कोई व्यवस्था न होने के कारण यह औद्योगिक अदालतें उदार निरकुश शासक की तरह आचरण करने लगी थीं। इस प्रकार की निरकुशता और स्वच्छन्दता जनतत्री शासन प्रणाली के अनुकूल नहीं है। मूल कानून की ३३ वीं धारा मे यह व्यवस्था की गई थी कि समझौते के लिए किसी भी झगडे के विचाराधीन होने के काल मे कोई मालिक समझौता अधिकारी, बोर्ड अथवा पचन्यायालय की लिखित अनुमति प्राप्त किये बिना न किसी कर्मचारी को दण्ड दे सकता है और न निकाल सकता है, साथ ही मामला प्रस्तुत होने के ठीक पहले की नौकरी की हालत में वह किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता है। इस धारा की व्यवस्थाओं को धारा ३३ (ए) जोडकर और बढा दिया गया है। धारा ३३ (ए) में यह व्यवस्था की गई है कि यदि मालिक धारा को भग करता है तो उससे पीडित कर्मचारी विधिवत लिखित रूप में अपनी शिकायत उस पच अदालत के सामने पेश कर सकता है जिसमें मामला विचाराधीन है। वह पचअदालत उस शिकायत पर उसी रूप में विचार करेगी जैसे वह कानून की व्यवस्था के अनुसार पच अदालत में पेश किया गया औद्योगिक झगडा हो। इस सशोधन के अनुसार पीडित कर्मचारी को मामले के विचाराधीन होने के काल मे नौकरी की हालत मे परिवर्तन, छटनी, दण्ड इत्यादि के मामलों को सीधे पचन्यायालय मे विचारार्थ प्रस्तुत कर सकने का अधिकार प्राप्त है। इससे पचन्यायालय मे प्रस्तुत होनेवाले झगड़ों की सख्या भी अधिक बढने से बच जायगी और निर्णय भी शीघ्र हो जायगा।

श्री वी० वी० गिरि का दृष्टिकोण—भारत के श्रम-मत्री श्री गिरि ने अक्टूबर १९५२ में नैनीताल मे हुए भारतीय श्रम-सम्मेलन के १२ वे अधिवेशन में, फरवरी १९५३ में नई दिल्ली में हुए राज्य श्रम-मत्री सम्मेलन में और अनेक सार्वजनिक भाषणो में बराबर इस बात पर जोर दिया है कि औद्योगिक झगड़ों को वर्तमान व्यवस्था के अनुसार अनिवार्य पचनिर्णय के द्वारा नहीं बल्कि परस्पर समझौता करके स्वेच्छिक पचनिर्णय से हल करना चाहिए। इस योजना के अन्तर्गत सार्वजनिक उपयोग सेवाओ के सबन्ध मे अनिवार्य पचनिर्णय लागू रहेगा परन्तु अन्य सस्थाओं या उद्योगो मे समझौता अथवा स्वेच्छिक पचनिर्णय लागू रहेगा। परन्तु सकटकाल मे और केन्द्रीय सरकार से पहले विचार विमर्श कर लेने के बाद राज्य सरकारों को औद्योगिक मामला अनिवार्य पच-

निर्णय के लिए सौंपने का अधिकार होगा। श्री गिरि का मत था कि श्रम अपील न्यायालय को समाप्त कर दिया जाय क्योंकि झगड़ों को आपस में सुलझा लेने के पश्चात् इस न्यायालय की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। श्री गिरि द्वारा सुझाई गई योजना के अन्तर्गत मालिकों तथा कर्मचारियों के बीच के सभी झगड़ों पर स्वेच्छा से समझौता करना होगा। समझौता वार्त्ता के सम्बन्ध में झगड़े से सम्बन्धित कोई भी पक्ष समझौता अधिकारी की सहायता लेने को स्वतन्त्र होगा और दूसरे पक्ष को यह स्वीकार करना पड़ेगा। यदि इस प्रकार की समझौता वार्त्ता असफल हो जाती है और दोनों पक्ष मामले को पचनिर्णय के लिए सौंपने को प्रस्तुत हों तो पचों का निर्णय दोनों पक्षों को मानना पड़ेगा। यदि पच परस्पर सहमत नहीं हों तो झगड़े से सम्बन्धित पार्टियाँ एक निर्णायक छाँट सकती हैं जिसका फैसला दोनों पक्षों को मान्य होगा। यदि दोनों पार्टियों में निर्णायक छाँटने के प्रश्न पर मतभेद हो तो वह दोनों एक राय से मामला पच अदालत को सौंप सकते हैं। समझौते की इन विभिन्न स्थितियों के लिए अवधि निश्चित होगी। राज्य सरकारें केवल संकट काल में केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति लेकर गैर सार्वजनिक उपयोग के उद्योगों के मामलों को अनिवार्य पच-निर्णय के लिए सौंप सकती हैं। परन्तु यह अधिकार अन्य उद्योगों पर लागू नहीं होगा। गिरि-योजना के अन्तर्गत श्रमिक समितियाँ, समझौता अधिकारी, समझौता बोर्ड, औद्योगिक न्यायालय और पच अदालत पूर्ववत् रहेंगी परन्तु श्रम अपील-न्यायालय खत्म हो जायगा।

इससे दो मुख्य प्रश्न उठते हैं (१) क्या अनिवार्य पचनिर्णय हो या स्वैच्छिक पचनिर्णय और (२) क्या श्रम अपील न्यायालय रहना चाहिए या नहीं?

अनिवार्य पंचनिर्णय—यह कहा जाता है कि अनिवार्य पचनिर्णय औद्योगिक क्षेत्र में शान्ति बनाए रखने में सहायक नहीं है। स्थायी तौर पर शान्ति तभी रह सकती है जब परस्पर आर स्वैच्छिक समझौते किये जायँ। यह भी बताया गया है कि अनिवार्य पचनिर्णय से औद्योगिक झगड़ों को प्रोत्साहन मिला है और भारत में इससे श्रमिक संघ कमजोर हो गए हैं। "श्रमिक संघ की व्यवस्था पर इससे कुठाराघात होता है। श्रमिक संघ के सदस्यों में एकता निजी स्वार्थ का ही परिणाम है। यदि श्रमिकों की समझ में यह आ जाय कि एकता के सूत्र में बँध जाने से ही उनके स्वार्थ की सिद्धि हो सकती है तो उनके संयुक्त होने के लिये अन्य किसी प्रेरणा की आवश्यकता नहीं रह जाती। अनिवार्य पचनिर्णय उनको इस बात के लिये कोई कारण नहीं उपस्थित करता कि उनमें इस प्रकार की एकता हो'। अनिवार्य पंचनिर्णय, आर्थिक व्यवस्था को एक ऐसी कठोरता

प्रदान करता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में विकने वाली वस्तुओ के लिये
बहुत कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

परन्तु अनिवार्य पचनिर्णय का समर्थन भी किया गया है। कहा गया है
कि आर्थिक दृष्टि से कम विकसित देश में औद्योगिक झगडों के कारण यदि
उत्पादन रुक जाता है तो इससे राष्ट्र के हितों की हानि होने की सभावना है।
उत्पादन में गिरावट रोकने के लिए और परिणामतः राष्ट्रीय आय कम न होने
देने के लिए अनिवार्य पचनिर्णय को लागू किया जाना चाहिए। पचनिर्णय की
सफलता के लिए यह आवश्यक है कि (१) मालिकों तथा श्रमिको के कुशल
सगठन हों और (२) समझौते की कार्यवाही में उत्तरदायित्व समझने वाले
अनुभवी नेताओं को भाग लेने दिया जाय। चूँकि भारत मे श्रमिक सगठन अब
भी बहुत कमजोर हैं, और समझौते तथा पचनिर्णय के लिए निष्पक्ष व्यक्तियो का
अभाव है इसलिए यह सभव है कि स्वैच्छिक पचनिर्णय से सन्तोषजनक परिणाम
न निकले।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि
यद्यपि सार्वजनिक उपयोग के उद्योगों के लिए अनिवार्य पचनिर्णय आवश्यक है
और सकट काल मे भी यह लाभदायक साधन सिद्ध हो सकता है परन्तु औद्योगिक
झगड़ों को सुलझाने का यह सन्तोषजनक ढग नहीं है। इससे प्राय औद्योगिक
झगडे उत्पन्न होते रहते हैं, श्रमिक संगठन कमजोर होते जाते हैं और देश की
आर्थिक व्यवस्था कठोर होने लगती है।

परन्तु श्री गिरि का अपील न्यायालय को समाप्त कर देने का सुझाव
पूर्णतया सत्य नहीं है। देश के विभिन्न भागो में समान श्रम स्थिति उत्पन्न करने
में अपील न्यायालय विशेष सहायक रहा है। वेतन, बोनस, कार्य की स्थिति
इत्यादि प्रश्नों पर अपील न्यायालय के फैसलो से औद्योगिक पच अदालतों को
काफी लाभ पहुँचा है। इसमें कुछ सन्देह नही कि परस्पर समझौता करके या
स्वेच्छिक पचनिर्णय द्वारा मामला तय करके ऐसी स्थिति आ सकती है कि भविष्य
में अपील न्यायालय की आवश्यकता न रहे परन्तु जब तक औद्योगिक पच-
अदालत हैं तब तक देश के विभिन्न भागा में श्रम सम्बन्धी समान स्थिति लाने
और विभिन्न उद्योगों में भी एकरूपता लाने के लिए अपील न्यायालयों को समाप्त
न किया जाय।

१९५६ का औद्योगिक विग्रह कानून—एक बिल श्रमिकों के सम्बन्ध
विषयक संसद मे १९५० में रक्खा गया, पर उस पर कार्यवाही नहीं हो सकी,
क्योंकि मिल मालिकों और श्रमिकों के नेताओं ने उसका बहुत विरोध किया।

१९५५ के सितम्बर में पुनर्वर्गीकृत रूप में एक विधेयक १९४७ के औद्योगिक विग्रह कानून का संशोधन करने के लिये लोक सभा में प्रस्तुत किया गया और १९५६ में औद्योगिक विग्रह (संशोधन तथा विभिन्न शर्तों के साथ) कानून पास किया गया। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस कानून में श्री गिरि के विचारों को बहुत ही सीमित मात्रा में सम्मिलित किया गया है। ऐसा लगता है कि उसमें औद्योगिक झगड़ों में विस्तार होगा और समझौता कठिन होगा। इस कानून के मुख्य प्रविधान, जो कि बम्बई के १९४७ के कानून के अनुरूप हैं, निम्न हैं —

(१) श्रमिकों की परिभाषा विस्तृत कर दी गई है, और अब औद्योगिक कर्मचारी तथा देख रेख करने वाले पदाधिकारी भी जिनका वेतन ५००) मासिक से अधिक नहीं है श्रमिकों के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिये गये हैं। क्योंकि बहुत से इस प्रकार का कार्य करने वालों को गोपनीय और संगठन सम्बन्धी कार्य दिया गया है और वे श्रमिकों की अपेक्षा मालिकों के ही विशेष अंग हैं, इससे यह भय है कि मालिकों को नई कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

(२) १९५० के औद्योगिक विग्रह (अपील न्यायालय) कानून का प्रत्यानयन कर दिया गया है और श्रमिकों के अपील न्यायालय को समाप्त कर दिया गया है। इस न्यायालय के कारण देश के विभिन्न भाग में श्रमिकों की स्थिति में समानता आ गई थी और इसने अनेकों ऐसे लाभदायक सामान्य नियम बना दिये थे जिनके विखण्डन से भविष्य में गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। इससे हम केवल एक ही अच्छाई की आशा कर सकते हैं कि अपील न्यायालय के अभाव में सम्भवतः मालिकों और श्रमिकों को स्थिति की वास्तविकता पर विचार करने की प्रेरणा मिले।

(३) इस कानून के अनुसार तीन प्रकार के मौलिक न्यायालय बनेंगे। (अ) श्रम न्यायालय, (ब) औद्योगिक न्यायालय और (स) राष्ट्रीय न्यायालय। श्रम न्यायालयों को ऐसे औद्योगिक झगड़ों के निर्णय करने का अधिकार है जो मालिकों की ऐसी आज्ञाओं के सम्बन्ध में उत्पन्न हुये हैं जिनका औचित्य तथा नियमानुकूलता संदिग्ध है और जो स्थायी आज्ञाओं के अन्तर्गत है तथा कर्मचारियों को निकाले जाने के सम्बन्ध में और हड़ताल अथवा तालाबन्दी के सम्बन्ध में हैं। औद्योगिक न्यायालय ऐसे झगड़ों का निर्णय करेगा जो कि पारिश्रमिक, कार्य के घन्टे, बोनस, युक्तिकरण और छटनी के सम्बन्ध में हैं। राष्ट्रीय न्यायालय ऐसे झगड़ों का निर्णय करेगा जो कि सरकार के मत में ऐसे मामले हैं जिनकी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से महत्ता है, अथवा ऐसे मामले हैं जिनका सम्बन्ध एक से अधिक

राज्यों से है। इन तीन न्यायालयों के निर्णय पर अपील करने का कोई अवसर नहीं है इसलिये इनके कर्मचारियों की नियुक्ति में उनकी योग्यता पर विशेष ध्यान दिया गया है। यहाँ यह बता देना आवश्यक होगा कि राष्ट्रीय न्यायालय अपील न्यायालय का स्थानापन्न नही है।

(४) यह कानून स्थायी आज्ञाओं के सम्बन्ध में आपत्तिजनक परिवर्तन करता है। मालिको की किन्ही विशेप मामलों में कार्य करने की स्थिति के सम्बन्ध में बिना उन श्रमिकों को, जिनसे इसका सम्बन्ध है, २१ दिन पूर्व अपने विचारों की सूचना दिये परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। यह कानून औद्योगिक रोजगार (स्थायी आज्ञाओं) कानून का सशोधन करता है और प्रमाण पत्र देने वाले विशेष पदाधिकारी को तथा अन्य अधिकारियो को इस बात का अधिकार प्रदान करता है कि वे प्रमाण पत्र देने के पूर्व स्थायी आज्ञाओं की युक्तिसंगतता तथा न्याय पूर्णता पर विचार कर लें। पहिले केवल मालिक को ही स्थायी आज्ञाओं मे परिवर्तन करने के लिये आवेदन देने का अधिकार प्राप्त था। यह कानून श्रमिकों को भी मालिकों के ही समान प्रमाण पत्र देने वाले अधिकारी को स्थायी आज्ञाओं में परिवर्तन कराने के लिये आवेदन देने का अधिकार प्रदान करता है।

(५) मालिकों के साथ एक विशेष रियायत की गई है, जिसे हम रियायत के स्थान पर यदि न्याय का प्रदर्शन कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। इसके अन्तर्गत मालिक को किसी कर्मचारी को, जब कि झगड़ा, निर्णयार्थ विचाराधीन हो, इस झगडे से असम्बद्ध किसी दुराचार के लिये निकाल देने अथवा सजा देने का अधिकार प्राप्त है। ऐसी स्थिति में मालिक को अभियुक्त श्रमिक को एक मास का पारिश्रमिक देना पडेगा और अपनी आज्ञा के लिये अधिकारियों की अनुमति लेनी होगी। इससे कारखानों में अनुशासन ठीक रहने की आशा की जाती है।

इस कानून का सबसे बड़ा दोष यह है कि सरकार को औद्योगिक निर्णया को परिवर्तित कर देने का अधिकार दे दिया गया है। बड़ी कठिनाइयों के पश्चात् मालिकों और श्रमिकों के पारस्परिक विरोधी हितों पर समझौता हो पाता है और यदि ऐसे समझौतों को बदल देने का अधिकार सरकार को प्राप्त है तो इससे मामलों के और अधिक उलझ जाने का भय है। कानून में ऐसा प्रबन्ध है कि सरकार को परिवर्तन सम्बन्धी आज्ञाओं को ससद के समक्ष १५ दिन की अवधि तक के लिये रक्खा जाय जिसके भीतर प्रस्ताव द्वारा ससद उसे स्वीकार करे अथवा अस्वीकार कर दे, इससे स्थिति के सुधार की आशा नहीं की जा

सकती। वास्तविक बात तो यह है कि यह जानते हुये कि सरकार को अपने इच्छानुकूल निर्णय बदल देने का अधिकार प्राप्त है झगड़ा जिन पक्षों के बीच है वे अपनी बात पूरी-पूरी व्यक्त न करेंगे और जल्दी समझौता न करेंगे। कानून की अच्छी बात यह है कि अब झगडे में पडे हुये दोनों पक्षों को इस बात की स्वतन्त्रता है कि वे किसी समझौते के निर्णय पर हस्ताक्षर कर सकते हैं। इस झगडे को किसी पञ्च निर्णायक को फैसला करने के लिये सौंप सकते हैं। इस प्रबन्ध के अतिरिक्त यह कानून गिरी द्वारा प्रस्तावित सयुक्त रूप से समझौता करने की योजना को कोई स्थान नहीं देता। यदि गिरी के अभिस्ताव इसमें सम्मिलित कर लिये गये होते तो श्रमिक और मालिक के हितों को बिना कोई हानि पहुँचाये ही पारस्परिक समझौते की सुविधा कुछ अधिक ही सम्भव हुई होती।

औद्योगिक अनुशासन संहिता (Code)—१९५७ में भारतीय श्रम कान्फ्रेन्स की स्थायी श्रम-समिति ने 'औद्योगिक अनुशासन सहिता' अपनाई जिसे कर्मचारियो तथा नियोक्ताओं के सघो ने भी स्वीकार किया। इससे भारत में औद्योगिक सम्बन्धों के सुधारने की आशा की जाती है। इसके अनुसार कर्मचारी तथा नियोक्ता भविष्य मे होने वाले झगड़ों को पारस्परिक पत्र-व्यवहार, समझौता तथा अपनी इच्छा से बीच-बचाव करवा के हल करने के लिये बाध्य हैं। इसके अन्तर्गत श्रमिक तथा नियोक्ता 'धीरे काम करो' की चाल, तालाबन्दी, बिना नोटिस के हड़ताल, धमकी तथा अनुशासन हीनता के अन्य रूप (जो प्राय. औद्योगिक झगड़ो के कारण होते हैं) को नहीं अपनायेंगे।

मार्के की बात तो यह है कि सहिता में इन्हें लागू करने तथा इसके परिणाम आकने की व्यवस्था भी है। १९५८ में केन्द्र में लागू करने तथा आँकने के लिये एक छोटी सस्था का निर्माण किया गया। यह सस्था विभिन्न समूहों से अशतः या न लागू होने, निर्णय, अधिनियम तथा समझौता आदि के दोषपूर्ण ढग से या देर से लागू होने के सम्बन्ध मे विवरण एकत्र करेगी। सघ के श्रम मन्त्रालय ने राज्य सरकारों से २० फरवरी १९५८ तक तथा भविष्य म प्रतिमाह की दस तारीख तक प्रश्नावलि के उत्तर के रूप में सूचना देने की प्रार्थना की थी। अच्छे औद्योगिक सम्बन्ध बनाये रखने की दिशा में यह एक प्रभावपूर्ण कदम है। अधिनियम पास करने तथा सहिता स्वीकार करना ही काफी नहीं है। भविष्य में इसके अनुसार काम होने के लिये यह आवश्यक है कि उसके लागू करने तथा लागू न होने के कारणों पर कठोर दृष्टि रखी जाय।

अध्याय ३२

ट्रेड यूनियन

भारत में श्रमिक आन्दोलन बहुत पुराना नहीं है। यद्यपि २० वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत मे ट्रेड यूनियन थीं परन्तु उनका कार्यक्षेत्र बहुत सीमित था और वह उन कार्यों को नहीं करती थीं जिनकी एक ट्रेड यूनियन से अपेक्षा की जाती है। भारत मे इनका विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ और जो कुछ प्रगति हुई भी है वह अनेक कारणो से सन्तोषजनक नही कही जा सकती। श्रमिकों में किसी समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए सगठित होने की भावना होने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें इस प्रकार के सगठन की आवश्यकता प्रतीत हो। १८ वीं सदी में ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति हुई और उसके पश्चात् कुछ देशों में उसकी पुनरावृत्ति हुई। परन्तु भारत ने अब तक इस प्रकार की औद्योगिक क्रान्ति का अनुभव नहीं किया है। यदि औद्योगिक क्रान्ति हुई होती तो उससे श्रमिकों के सगठन की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती और एक श्रमिक सगठन बन जाता। औद्योगिक क्रान्ति से अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती जिनकी पूर्ति के लिए श्रमिको का सगठित होना आवश्यक हो जाता। भारत के औद्योगिक विकास से कुछ समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं परन्तु यह समस्याएँ उतनी तीव्र नहीं हैं जितनी औद्योगिक क्रान्ति होने पर होती।

अनेक कारणों से भारत में श्रमिक आन्दोलन का विकास नहीं हो पाया है,

(१) यह पहले कहा जा चुका है कि भारत की अधिकतर श्रमिक जनता निरक्षर है और उसका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। श्रमिक भाग्य पर विश्वास करता है और यह मानता है कि स्वय प्रयत्न करके वह अपनी स्थिति नहीं सुधार कर सकता है। इस भावना से प्रेरित होने के कारण वह अपना सम्पूर्ण कार्य भगवान के भरोसे छोड़ देता है। यदि श्रमिक शिक्षित होता तो उसे अपनी स्थिति सुधारने की आवश्यकता प्रतीत होती और उसे यह ज्ञात हो जाता कि स्वय प्रयत्न करके वह अपनी स्थिति को बहुत सीमा तक सुधार सकता है। ऐसा अनुभव कर वह इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने अन्य श्रमिक साथियो को सगठित कर सकता था। यदि भारतीय श्रमिक भी पाश्चात्य देशों के श्रमिकों की तरह भौतिकवादी होता तो वह निरक्षर होते हुए भी सगठित हो सकता था परन्तु भारत में निरक्षरता और भाग्यवाद के कारण ही आज तक श्रमिक का प्रभावशाली सगठन नहीं हो पाया है।

श्रमिक आन्दोलन सम्बन्धी अनेक कार्यवाहियों के होते हुए भी भारतीय श्रमिक की व्यक्तिगत भावना कम नहीं हो पाई है।

(२) भारत का औद्योगिक श्रमिक केवल कारखानों पर ही निर्भर नहीं है। बीच-बीच में वह गाँव जाता रहता है और फिर काम करने कारखानों में आ जाता है। समान हितों की पूर्ति के लिए सगठित होने में उनके स्थान परिवर्तन की प्रवृत्ति सब से बड़ी बाधक रही है। इधर कुछ वर्षों से स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ है और शुद्ध औद्योगिक श्रमिक के एक वर्ग का उद्भव हो रहा है।

(३) श्रमिकों के पारिश्रमिक में वृद्धि हुई है परन्तु इसके साथ ही रहन-सहन के व्यय म भी वृद्धि हुई है। श्रमिक अतीत की तरह अब भी ट्रेड यूनियन के लिए थोड़ा स चन्दा देने के लिए प्रस्तुत नहीं होता है। यदि उसे सगठन का लाभ मालूम होता तो ट्रेड यूनियन की सदस्यता के लिए आवश्यक चन्दा देने से वह पीछे नहीं हटता।

(४) भारत के उद्योगपति भी औद्योगिक विकास के आरम्भ काल के अन्य देशों के उद्योगपतियों की तरह ट्रेड यूनियनों का विरोध करते हैं और यह अनुभव करते हैं कि ट्रेड यूनियन उनकी प्रतिद्वन्द्वी शक्ति है। यदि उद्योगपति कुछ और विचारपूर्ण दृष्टिकोण अपनाते तो इस आन्दोलन की बहुत प्रगति हो गयी होती। इधर कुछ वर्षों से उद्योगपतियों ने औद्योगिक झगड़ों के निपटाने के लिए और उद्योग म शांति बनाये रखने के लिए ट्रेड यूनियनों का महत्त्व समझा है।

(५) वर्तमान मे भारतीय श्रमिक संघों पर स्वय श्रमिकों का नहीं बल्कि बाहरी लोगों का नियन्त्रण है। यदि ट्रेड यूनियनों का नेतृत्व स्वय श्रमिकों के हाथ में होता तो वह श्रमिकों के हित में ट्रेड यूनियनों का सगठन करने का महत्त्व समझ सकते और इससे श्रमिक आन्दोलन तेजी से बढ सकता था। परन्तु नेतृत्व स्वय श्रमिकों के हाथ में नहीं है और बाहरी लोग ट्रेड यूनियनों का उपयोग अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति में करते हैं। उनकी दृष्टि में श्रमिकों की स्थिति में सुधार करना गौण विषय होता है। इसीलिए श्रमिक सोचते हैं कि ट्रेड यूनियनों का संगठन करने से विशेष लाभ नहीं है। भारतीय ट्रेड यूनियन संगठन में यह दोष होने से ट्रेड यूनियनों का कार्यक्षेत्र विकसित नहीं हो पाया है और श्रमिकों में शिक्षा-प्रसार और स्वास्थ्य सम्बन्धी कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी है। भारतीय ट्रेड यूनियनें अधिकतर संघर्षशील प्रवृत्ति की हैं। यह एक प्रकार से हड़ताल करने की और मालिक या सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करने की एजेन्सी के रूप में कार्य करती हैं। इस नीति के कारण भारतीय ट्रेड यूनियनों का कार्यक्षेत्र बहुत संकीर्ण हो गया है।

१९५५-५६ में (जिस अद्यतन वर्ष के आँकड़े प्राप्त हैं) भारत में ७८४६ श्रमिक संघ थे जिनके सदस्यों की संख्या २२½ लाख थी। निम्न तालिका से यह स्पष्ट होगा कि १९५२-५३ से रजिस्टर्ड श्रम-संघ तथा उनकी सदस्य संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। संघों के इस विकास के होते हुए भी रजिस्टर किये हुये श्रमिक संघों के कुल सदस्यों की संख्या उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों की कुल संख्या का अंश मात्र ही है।

रजिस्टर्ड श्रम-संघ तथा उनकी सदस्य-संख्या

वर्ष	श्रमसंघ की संख्या		सदस्यों की कुल संख्या
	रजिस्टर्ड	सूचना देने वाले	
१९५०-५१	३७६६	२००२	१७,५६,९७१
१९५१-५२	४६२३	२५५६	१९,९६,३११
१९५२-५३	४९३४	२७१८	२०,९९,००३
१९५३-५४	६०२९	३२९५	२१,१२,६९५
१९५४-५५	६६४८	३११३	२१,७०,४५०
१९५५-५६	७८४६	३९११	२२,२५,३१०

कानूनी व्यवस्था

ट्रेड यूनियन सम्बन्धी कानून बनाने का उद्देश्य ट्रेड यूनियन की व्याख्या करना, उसके कर्तव्यों और उत्तरदायित्व को निश्चित करना और ट्रेड यूनियन सम्बन्धी उचित कार्यवाही के सम्बन्ध में उनकी रक्षा करना है। कानून यह निश्चित करता है कि उद्योगपति ट्रेड यूनियन को मान्यता देंगे और ट्रेड यूनियन सम्बन्धी उचित कार्यवाही करने पर किसी अदालत में उन पर मुकदमा नहीं चलाया जायगा। ऐसा कानून न होने पर उचित कार्यवाही भी अन्य अर्थों में अवैध घोषित की जा सकती है।

१९२६ का भारतीय ट्रेड यूनियन कानून—१९२६ के भारतीय ट्रेड यूनियन कानून में १९२८, १९४२ और १९४७ में संशोधन किया गया। भारतीय ट्रेड यूनियनें इसी कानून द्वारा संचालित होती हैं। १९२६ के कानून के अन्तर्गत ट्रेड यूनियन की यह परिभाषा दी गई है कि कोई भी संगठन चाहे अस्थायी हो या स्थायी यदि श्रमिक और उद्योगपति या मालिक और कर्मचारियों के बीच अथवा कर्मचारियों के बीच पारस्परिक उचित सम्बन्ध बनाये रखने के लिए बनाया गया

हो, या वाणिज्य-व्यापार करने पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने के लिए बनाया गया हो या दो या दो से अधिक सघा का सगठन हो तो उसको भी ट्रेड यूनियन ही कहा जायगा। इस प्रकार ट्रेड यूनियन की श्रेणी में श्रमिकों और मालिकों दोनों के सगठन सम्मिलित कर लिये गये हैं। इसमें यह व्यवस्था की गई है कि किसी यूनियन के ७ या उससे अधिक सदस्य कानून के अन्तर्गत नियुक्त रजिस्ट्रार के पास यूनियन की रजिस्ट्री कराने के लिए आवेदन पत्र भेज सकते हैं। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि यूनियने निर्धारित शर्तें पूरी करती हो। यह भी व्यवस्था की गई है कि रजिस्टर्ड यूनियन के पदाधिकारियों में से आधे वास्तव में उस उद्योग के कर्मचारी हों जिसके श्रमिको की यह यूनियन हैं। इससे बाहरी व्यक्तियों को ट्रेड यूनियन सगठन में काफी स्थान मिल जाता है। यदि यूनियन के कानून सम्मत उद्देश्य को आगे बढाने के लिए किये गये समझौते के सम्बन्ध में झगडा हो तो यह कानून यूनियन के पदाधिकारियों और सदस्यों की फौजदारी के दावे से सुरक्षा करता है। इसके साथ ही यदि मालिक श्रमिकों के झगडे के बारे में कोई कार्य किया गया है और शिकायत केवल यह है कि इस प्रकार के कार्य से अन्य श्रमिक द्वारा काम छोड़ दिये जाने की सम्भावना है या यह व्यापार में अथवा किन्हीं लोगों की नियुक्ति में हस्तक्षेप करना है तो इस कानून की वजह से यूनियन के पदाधिकारियों और सदस्यों पर दीवानी मुकदमा भी नहीं चलाया जा सकता है।

इस कानून द्वारा रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन के कोष पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। इस कोष का केवल उन्हीं कार्यों में उपयोग किया जा सकता है जिनका कानून मे विवरण दिया गया है परन्तु एक पृथक् कोष का निर्माण करने की अनुमति दे कर यूनियन के सदस्यों के नागरिक एवम् राजनीतिक हितों की भी रक्षा की गई है। प्रत्येक ट्रेड यूनियन का प्रतिवर्ष अपना हिसाब छपे फार्मो में भरकर रजिस्ट्रार के सामने प्रस्तुत करना पड़ता है। इसके साथ ही आय-व्यय का आडिट किया हुआ विवरण भी भेजना पड़ता है। यदि मान्यता प्राप्त ट्रेड यूनियन क (१) अधिकतर सदस्य अनियमित हड़ताल मे भाग लें, (२) यूनियन का कार्यकारिणी अनियमित हड़ताल की सलाह दे, उससे सहयोग करे या उसे भड़काए, या (३) यूनियन का अधिकारी गलत वक्तव्य प्रकाशित कराए, तो कानून के अनुसार ये कार्यवाहियाँ अनुचित समझी जाँयगी और इसके लिए दण्डस्वरूप यूनियन की मान्यता वापस ले लेन की व्यवस्था की गई है। दूसरी ओर यदि उद्योगपति या मालिक (अ) अपने श्रमिकों के ट्रेड यूनियन संगठित करने के अधिकारों में हस्तक्षेप करे या पारस्परिक सहायता एवम् सुरक्षा के उद्देश्य स की जाने वाली कार्यवाही में गड़बड़ी पैदा करे, (ब) किसी ट्रेड यूनियन के

बनने या उसके प्रशासन मे हस्तक्षेप करे, (ख) किसी मान्यता प्राप्त ट्रेड यूनियन के अधिकारी को ट्रेड यूनियन का अधिकारी होने के कारण नौकरी से निकाल दे या उसके साथ भेद-भाव की नीति बरते, और श्रमिकों को कानून के अन्तर्गत चलने वाली किसी जाँच इत्यादि कार्यवाही में गवाही देने पर या आरोप लगाने पर निकाल दे, या (द) मान्यता प्राप्त यूनियनों के साथ समझौता वार्ता करने से इन्कार कर दे या कानून में दी गई सुविधाओं को देने से इन्कार कर दे तो उद्योगपति अथवा मालिक की यह कार्यवाही कानून की दृष्टि मे अनुचित समझी जायगी। अनुचित कार्यवाही के लिए उस पर एक हजार रुपया जुर्माना करने की व्यवस्था की गई है।

इस कानून से यद्यपि ट्रेड यूनियनों को मान्यता मिली और उनको कानूनी आधार दिया गया फिर भी इससे भारत में ट्रेड यूनियन सगठन का विकास करने का उद्देश्य पूर्ण न हो सका। इसमे अनेक दोष हैं : (१) इस कानून के अनुसार ट्रेड यूनियन केवल मजदूरों के सगठनों तक ही सीमित नहीं है, जैसा कि होना चाहिए था, परन्तु इसमे मालिकों और उद्योगपतियों के सगठन भी शामिल किये गये हैं। इससे अनावश्यक गड़बड़ी पैदा हो जाती है, (२) कानून के अनुसार ट्रेड यूनियन का रजिस्ट्रेशन करना अनिवार्य नहीं है। इस कानून में उन यूनियनों को भारतीय दण्ड विधान के अन्तर्गत फौजदारी के मुकदमे से छूट नही दी गई है जिनकी रजिस्ट्री नहीं हुई है, इससे ट्रेड यूनियन सगठन कमजोर पड़ जाता है, और (३) कानून के अन्तर्गत ट्रेड यूनियन के सामान्य कोष और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित कोष मे अवैज्ञानिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है। सामान्य कोष से व्यय करने के लिए अत्यन्त सकीर्ण व्यवस्था की गई है।

आचरण-सहिता (code of conduct)—यद्यपि भारत में श्रम सघों की बाहुल्यता है तथा विभिन्न सघो (federations) के सामजस्य सहित काम करने की कोई आशा नहीं है फिर भी मई, १९५८ में नैनीताल में भारतीय-श्रम-कान्फ्रेन्स में भाग लेने वाले श्रम सगठनों के प्रतिनिधियों द्वारा अपनाये गये आचरण सहिता से आशा का सचार होता है।

इस सहिता के अनुसार "(1) किसी उद्योग अथवा इकाई के कर्मचारी को अपनी इच्छा की यूनियन का सदस्य बनने की स्वतन्त्रता होगी। इस सबध मे कोई दबाव नहीं डाला जायगा। (11) यूनियन की दोहरी सदस्यता नही होगी। प्रतिनिधि-यूनियनो के सम्बन्ध मे यह तय किया गया कि उपर्युक्त नियम को और स्वीकार करने को स्वीकार ... की जाय। (111) श्रम-सघों के प्रजातत्रीय ढग पर कार्य करने को स्वीकार

किया जाय तथा आदर की दृष्टि से देखा जाय। (iv) ट्रेड यूनियन के पदाधिकारियों तथा प्रशासकीय निकायों के चुनाव नियमित तथा प्रजातंत्रीय ढंग पर होने चाहिये। (v) श्रमिकों की अज्ञानता और पिछड़ेपन का कोई संगठन फायदा नहीं उठायेगा। कोई संगठन अनावश्यक माँगे नहीं पेश करेगा। (vi) हर एक संघ जातीयता व प्रान्तीयता से दूर रहेगा। तथा (vii) श्रम संघों के बीच कोई हिंसा, दबाव, धमकी तथा व्यक्तिगत बदनामी आदि नहीं होगी।" यह सब बड़े ही अच्छे प्रस्ताव हैं किन्तु इनकी सफलता इस पर निर्भर करेगी कि ट्रेड-यूनियन उन्हें कहाँ तक अपनाती हैं।

श्रम संघों को मान्यता प्रदान करने के सम्बन्ध में अभी तक कोई केन्द्रीय अधिनियम नहीं है। भारतीय श्रम-कान्फ्रेन्स ने ट्रेड यूनियन के मान्यता देने के सम्बन्ध में निम्न कसौटियाँ प्रस्तावित की। "(i) जहाँ एक से अधिक यूनियन हो वहाँ मान्यता प्राप्त करने वाली यूनियन रजिस्ट्री के बाद कम से कम एक वर्ष तक काम करती रही हो किन्तु जहाँ एक ही यूनियन हो वहीं यह शर्त लागू नहीं होगी। (ii) संस्थान के कम से कम १५% श्रमिक उसके सदस्य हों। (iii) किसी स्थानीय क्षेत्र में एक यूनियन को किसी उद्योग का प्रतिनिधि यूनियन माना जा सकता है बशर्ते कि क्षेत्र में उद्योग के २५% श्रमिक उसके सदस्य हों। (iv) यूनियन को मान्यता मिलने पर, दो वर्ष तक स्थिति में कोई सुधार नहीं होना चाहिये। (v) जब किसी उद्योग अथवा संस्थान में अनेक यूनियन हों तो सबसे अधिक सदस्य-संख्या वाली यूनियन को मान्यता देनी चाहिये। (vi) किसी क्षेत्र में किसी उद्योग की प्रतिनिधि यूनियन को देश भर के संस्थानों के श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है। किन्तु यदि किसी संस्थान के श्रमिकों की यूनियन में उसके ५०% श्रमिक सदस्य है तो उसे केवल स्थानीय हित के मामलों पर कार्यवाही करने का अधिकार होना चाहिये। (vii) प्रतिनिधित्व का रूप निर्णय करने के लिये छानबीन करने के ढंग को और अधिक पर्याप्त कर देना चाहिये। जब इस सम्बन्ध में वैभागिक छान-बीन के परिणाम दलों को मान्य न हों तो केन्द्रीय श्रम संघ के प्रतिनिधियों से निर्मित एक समिति को इस प्रश्न की जाँच कर इसे हल करना चाहिये। इस कार्य के लिये केन्द्रीय श्रम संगठन विभिन्न भागों के लिये आवश्यक धन और व्यक्ति प्रस्तुत करेंगे। यदि इससे काम नहीं होता तो प्रश्न का निर्णय न्यायालय के सुपुर्द कर देना चाहिये। (viii) सिर्फ वे यूनियन मान्यता पा सकेंगी जो औद्योगिक अनुशासन संहिता को मानेगी। (ix) उन श्रम-संघों के सम्बन्ध में जो श्रम के चार केन्द्रीय संगठनों से सम्बन्धित नहीं है, इस प्रकार अलग से विचार करना चाहिये।" यह कसौटियाँ

विस्तृत तथा सुविचारित हैं। यदि इनका अनुसरण किया गया तो ट्रेड यूनियनो की नींव दृढ हो जायँगी। प्राप्त अनुभव के आधार पर वे इस विषय पर अधिनियम बनाने का आधार भी बन सकती हैं।

भविष्य की योजना—वर्तमान मे भारतीय श्रमिक आन्दोलन में कुछ आधारभूत दोष हैं और स्थिति सुधारने के लिए इन दोषो को दूर करना बहुत आवश्यक है। इस समय एक ही उद्योग मे एक ही क्षेत्र से अनेक ट्रेड यूनियनें हैं। बहुत अधिक ट्रेड यूनियन होने से श्रमिक का पक्ष कमजोर पड़ जाता है और श्रमिक के अधिकारों की रक्षा में भी बाधायें आ जाती हैं। इसलिए ट्रेड यूनियनो के सगठन को सगठित करने और इनको एकता के सूत्र में बाँधने की अत्यन्त आवश्यकता है। यह आवश्यक है कि एक क्षेत्र में स्थित किसी मुख्य उद्योग में श्रमिका का प्रतिनिधित्व करने के लिए केवल एक से अधिक ट्रेड यूनियन न हो। यदि एक क्षेत्र के विभिन्न उद्योगो में कार्य करने वाले सभी श्रमिको का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक ट्रेड यूनियन होती तो सर्वोत्तम होता। परन्तु यह सभव नहीं है क्योंकि कभी-कभी विभिन्न उद्योगो में कार्य करने वाले श्रमिको की समस्याएँ भिन्न होती हैं। साथ ही विभिन्न उद्योगो में काम करने वाले श्रमिक एकता के सूत्र मे नहीं बँध पाते हैं जब कि ट्रेड यूनियन आन्दोलन की सफलता इनकी एकात्मकता पर निर्भर करती है। भारत के ट्रेड यूनियन सगठन में दूसरा बड़ा दोष यह है कि यह अपनी सम्पूर्ण शक्ति प्रायः हड़ताल मे और मालिको से सामूहिक माँगे करने में लगा देते हैं। बहुत कम ऐसी यूनियनें हैं जिन्होंने अपने कार्यक्षेत्र को व्यापक बनाया है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि सामूहिक रूप से माँग करना और हड़ताल करना ट्रेड यूनियनो का महत्वपूर्ण कार्य है परन्तु इसके साथ ही अन्य कार्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत में ट्रेड यूनियन का कार्यक्रम और विस्तृत करने की, आवश्यकता है। इसमे वयस्कों की शिक्षा, सहकारी-आन्दोलन का गठन, जनसेवा कार्य इत्यादि भी सम्मिलित किये जाने चाहिये। इससे ट्रेड यूनियनों की उपयोगिता बढ जायगी।

ट्रेड यूनियन आन्दोलन का एक बहुत बड़ा दोष केन्द्रीय सगठनों का बाहुल्य है। कुल १५३१ यूनियनों मे से आई० एन० टी० यू० सी, ए० आई० टी० यू० सी० हिन्द मजदूर सभा और यूनाइटेड टी० यू० सी० से संयोजित यूनियनों की सख्या क्रमश. ६१७, ५५८, ११६, और २३७ और उनके सदस्यों की सख्या क्रमश: ६ ७२ लाख, ४ २३ लाख, २·०४ लाख, और १ ५६ लाख १६५६ के अन्त में थी। इन केन्द्रीय सगठनो को एक शक्तिशाली सस्था में सगठित करना सम्भव है। इसमे सदेह नहीं कि इन केन्द्रीय सगठनो के राजनीतिक

अध्याय ३४

रेल यातायात

भारतीय रेलों ने उल्लेखनीय प्रगति की है। १८५३ मे भारतीय रेलवे लाइन की लम्बाई केवल २० मील थी, १९०० में यह २४,७५२ मील हुई और १९५१-५२ में इसका प्रसार ३४,११९ मील और १९५६-५७ में ३४,७४४ मील हो गया, जिसमें ३४,२९१ मील सरकारी प्रबन्ध के अन्तर्गत था। १९०० मे भारतीय रेलों से १७ करोड़ ५० लाख यात्रियो ने यात्रा की, ४ करोड़ ३० लाख टन सामान ढोया गया। १९५६-५७ में यात्रियों की संख्या १३८ करोड़ ३० लाख और ढोये जाने वाले माल की मात्रा १२ करोड़ ५० लाख टन हो गई। १६ अप्रैल १९५३ को भारतीय रेलों ने अपनी उपयोगी सेवाओं के १०० वर्ष पूरे किये। ठीक १०० वर्ष पूर्व १६ अप्रैल १८५३ को प्रथम भारतीय रेल ने बम्बई शहर से थाने तक २१¾ मील की दूरी तय की थी। यद्यपि रेलवे सगठन मे कुछ त्रुटियाँ हैं और कुछ दोष भी हैं परन्तु फिर भी जिस गति से उसने प्रगति की है उस पर भारतीय रेलवे गर्व कर सकती है।

मुख्य विशेषताएँ—भारतीय रेलवे के विकास मे कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। (१) भारत में रेल का कार्य निजी उद्योग के रूप में प्रारम्भ किया गया। रेल-उद्योग करने वालो को सरकार ने कुछ सुविधाएँ दीं जैसे इन्हें भूमि मुफ्त दी गई और पूँजी की वसूली की गारन्टी दी गई। इससे रेलवे निर्माण के व्यय में वृद्धि हुई और सारे देश को इसका भार वहन करना पड़ा। ऐसे समय में जब रेलों का निर्माण करने के लिए उद्योगपति पूँजी लगाने को प्रस्तुत नहीं थे यह सुविधायें देना सम्भवत अत्यन्त आवश्यक था परन्तु यदि इस ओर किंचित् सावधानी से कार्य लिया जाता तो इनको काफी कम भी किया जा सकता था। रेलो का प्रबन्ध निजी उद्योगपतियों के हाथ में होने से इसकी काफी आलोचना की गई है। आलोचकों ने प्रबन्धकों द्वारा पक्षपात किये जाने और कच्चे माल के निर्यात तथा तैयार माल के आयात के भाड़े में रियायतें देने की शिकायतें कीं, क्योंकि बन्दरगाहों से देश के अन्दर सामान लाने और बन्दरगाहों तक सामान पहुँचाने के लिए रेल के भाड़े की दर अन्य दरों की अपेक्षा कम रखी गई थी। एकवर्थ समिति (Acworth Committee) ने सुझाव दिया कि राष्ट्रीय हित में रेल के निजी उद्योग को क्रमश. राज्य को अपने हाथ मे ले लेना चाहिए। इस दिशा मे १९२५ में प्रथम प्रयास किया गया। सरकार ने ईस्ट इण्डिया और जी. आई. पी. रेलवे

को अपने अधिकार में ले लिया परन्तु इस प्रक्रिया को पूरा होने में २० वर्ष लगे और जहाँ तक ब्रिटिश भारत का सम्बन्ध है १९४४ में निजी उद्योग समाप्त कर राज्य ने इसको पूर्णतया अपने अधिकार में ले लिया। १९५० में संघीय वित्तीय एकीकरण के पश्चात् भूतपूर्व रियासतों की रेलों को भी भारत-सरकार ने अपने हाथ में ले लिया और अब रेलवे एकमात्र राजकीय उद्योग बन चुका है।

रेल उद्योग निजी उद्योगपतियों के हाथ में होने की अपेक्षा सरकार के हाथ में होने से अनेक लाभ हैं—(अ) इससे साधनों की अनावश्यक हानि और विभिन्न रेलवे-प्रबन्धों में प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है। (ब) राजकीय उद्योग होने के कारण देश के औद्योगिक और कृषि साधनों के विकास के महत्व को दृष्टि में रखते हुए रेल के भाड़े की उचित दर निश्चित की जा सकती है और (स) इस उद्योग से जो लाभ होगा वह केन्द्रीय धन कोष में जमा हो सकता है।

(२) दो विश्वयुद्धों के कारण, १९३० की आर्थिक मंदी और १९४७ में देश के विभाजन से रेलों पर बहुत भार पड़ा है और उसका परस्पर सम्बन्ध भी विच्छिन्न हो गया। युद्ध के कारण रेलों की कार्यक्षमता पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया, पुराने कल-पुर्जों इत्यादि को नहीं बदला गया और नई मशीनें लगाने की योजना स्थगित कर दी गई। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ८ प्रतिशत मीटर-गेज के इञ्जन, १५ प्रतिशत मीटर-गेज के वैगन, ४ हजार मील लम्बी पटरियाँ और ४० लाख स्लिपर भारतीय रेलों से लेकर मध्यपूर्वी देशों को भेजे गये। युद्ध के समय रेलों के सामान का और पटरियों का अत्यधिक उपयोग किया गया, उनको न बदला जा सका और न नया सामान लगाया जा सका। इससे रेलों की कार्य-क्षमता घट गई। देश का विभाजन हो जाने से रेलों का कुछ सामान पाकिस्तान के भाग में चला गया और शरणार्थियों को लाने-पहुँचाने के कार्य में रेलों पर और अधिक भार पड़ा। गत कुछ वर्षों में रेलों पर आवश्यकता से अधिक भार कुछ कम किया गया है, पुराने सामान को बदला गया है और सामान की मात्रा बढ़ाई गई है परन्तु इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है।

(३) अतीत में इञ्जनों, बायलरों, डिब्बों इत्यादि के लिए भारतीय रेलों को आयात पर निर्भर करना पड़ता था। इससे देश का बहुत-सा धन विदेश चला जाता था और देश को विदेशी विनिमय साधनों की गम्भीर क्षति होती थी। परन्तु इधर कुछ वर्षों से स्थिति में सुधार हुआ है और अब देश में ही इञ्जन डिब्बे इत्यादि बनने लगे हैं। भारतीय कारखानों में डिब्बों का उत्पादन बढ़ रहा है और रेलवे की आवश्यकता की अधिकाधिक पूर्ति की जा रही है। चित्त-रञ्जन के इञ्जन बनाने के कारखाने में इञ्जन के लगभग ७० प्रतिशत कल पुर्जों

का उत्पादन किया जाता है और केवल ३० प्रतिशत का आयात करना पड़ता है।

(४) भारत मे अनेक रेलें थीं परन्तु पुनर्वर्गी-करण योजना लागू करके इनको ७ क्षेत्रों में सगठित किया गया है। एकीकरण से पहिले भारत में ३५ रेलवे थीं जिनमें से २२ सरकार के अधिकार मे थीं। रेलवे बोर्ड की जॉच करने के लिये नियुक्त समिति (१९५०) की सिफारिश पर भारत सरकार ने भारतीय रेलों को ६ क्षेत्रों में सगठित करने का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया। दक्षिणी रेलवे का १४ अप्रैल १९५१, पश्चिमी और केन्द्रीय रेलवे का ५ नवम्बर १९५१ को और शेष तीन उत्तरी, उत्तरी पूर्वोत्तर और पूर्वी रेलवे का १४ अप्रैल १९५२ को उद्‌घाटन हुआ। पहली अगस्त १९५५ से सातवें क्षेत्र का निर्माण पूर्वी रेलवे को दो क्षेत्रों में विभाजित करके किया गया: (१) पूर्वी रेलवे जिसमें पुरानी ई० आई० आर० का मुगलसराय तक का भाग (सियालदह डिविजन को लेकर) सम्मिलित थी, और (२) दक्षिणी पूर्वी रेलवे जिसमें सम्पूर्ण बी० एन० आर० सम्मिलित थी। इस प्रकार भारतीय रेलवे को निम्न सात क्षेत्रों मे विभाजित कर दिया गया।

(१) दक्षिणी रेलवे—इसमे एम० एन्ड एस० एम०, एस० आई० और मैसूर राज्य रेलवे सम्मिलित है।

(२) पश्चिमी रेलवे—इसमें भूतपूर्व बी० बी० सी० आई०, सौराष्ट्र, राजस्थान तथा जैपुर रेलवे और जोधपुर रेलवे का कुछ भाग सम्मिलित कर दिया गया है।

(३) केन्द्रीय रेलवे—इसमें जी० आई० पी०, एन० एस०, सिन्धिया राज्य और धौलपुर राज्य रेलवे सम्मिलित है।

(४) उत्तरी रेलवे—इसमे ई० पी०, जोधपुर और बीकानेर रेलवे, ई० आई० आर० के इलाहाबाद, लखनऊ और मुरादाबाद डिवीजन और बी० बी० एन्ड सी० आई० रेलवे का दिल्ली रेवारी-फजिल्का क्षेत्र सम्मिलित है।

(५) दक्षिणी पूर्वी रेलवे—इसमें बी० एन० आर० शामिल है।

(६) उत्तरी पूर्वी रेलवे—इसमे ओ० टी० एन्ड आसाम रेलवे, ई० आई० आर० का कुछ भाग और बी० बी० एन्ड सी० आई० रेलवे का फतेहगढ क्षेत्र है।

(७) पूर्वी रेलवे—इसमें पुरानी ई० आई० का मुगलसराय तक का भाग और सियालदह डिवीजन सम्मिलित है।

७ क्षेत्रों का वर्गीकरण इस प्रकार हुआ है कि जिसमें विभिन्न क्षेत्रों का कार्य कम व्यय के साथ चलाया जा सके और विभिन्न क्षेत्रों में यातायात की

उचित सुविधा प्राप्त हो। विभिन्न क्षेत्रों के रेल पथों का विस्तार २३३१ मील से लगाकर (जो कि पूर्वी रेलवे का है) ६३३६ मील तक है। (जो कि उत्तरी रेलवे का है) इस बात का ध्यान रखा गया है कि कर्मचारियों और अन्य सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर कम से कम हटाना पड़े और केवल ईस्ट इंडिया और बी० बी० एन्ड सी० आई० रेलवे को छोड़कर जहाँ तक सम्भव है वर्तमान रेलवे व्यवस्था को बिना छिन्न भिन्न किए एक या दूसरे भाग में सम्मिलित कर लिया जाए।

रेलवे के पुनर्वर्गीकरण योजना की आलोचना की गई है। कहा गया है कि (अ) पुनर्वर्गीकरण से एक रेलवे के कर्मचारियों को दूसरी रेलवे में परिवर्तित किया गया, उनमें अनेक को नोकरी से अलग कर दिया गया, (ब) इससे कम से कम दो रेलवे—ईस्ट इन्डियन और बी० बी० एन्ड० सी० आई० रेलवे—तोड़ी गई जिससे अनेक जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो गई, और (स) इससे भारतीय व्यापार एवम् उद्योग को अनेक कठिनाइयाँ हुई हैं। रेलवे के पुनर्वर्गीकरण जैसे बड़े परिवर्तन में थोड़ा-बहुत सम्बन्ध विच्छेद होना और कुछ कर्मचारियों को नौकरी से अलग कर दिया जाना अनिवार्य था। उससे बचा नहीं जा सकता था। परन्तु इतने से ही पुनर्वर्गीकरण की योजना अवाछनीय और अनुपयुक्त सिद्ध नहीं होती क्योंकि इस योजना के लागू हो जाने से जो लाभ होंगे वह इससे होनेवाली हानियों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं। यह भी कोई तर्क नहीं, जैसा कि कुछ समितियों ने सुझाव दिया था, कि यह योजना पाँच वर्ष बाद लागू की जाय और सरकार को इस समय इसे स्थगित कर देना चाहिए था। यदि पुनर्वर्गीकरण की नीति स्वीकार कर ली गई है तो इसे जितना शीघ्र लागू किया जाय उतना ही अच्छा है। इस योजना के लागू करने से तीन निश्चित लाभ हैं :—(क) इससे वह सभी लाभ प्राप्त हो सकेंगे जो प्रबन्ध व्यवस्था बड़े पेमाने पर सगठित करने म होते हैं। (ख) इससे एक ही काम अनेक बार करने से छुटकारा मिल जायगा और हानिकारक प्रतियोगिता भी नहीं हो सकेगी और (ग) इससे रेलवे की आर्थिक स्थिति दृढ होगी और कार्य के स्तर में सुधार किया जा सकेगा। इस व्यवस्था के पश्चात् रेल के भाडे और किराये की दर, यात्रियों की सुविधाओं, मजदूरों के वेतन और सुविधाओं इत्यादि के सम्बन्ध में सारे देश में समान नीति लागू की जा सकेगी। यह कोई छोटी सफलता नहीं।

(५) भारतीय रेलवे की कार्यक्षमता अभी भी बहुत नीचे स्तर की है। युद्ध आरम्भ होने के पूर्व की कार्यक्षमता के स्तर तक भी अभी भारतीय रेलवे नहीं पहुँच सकी है। इस बात का प्रमाण माल के डिब्बों का चक्कर लगाकर अपने

स्थान पर पहुचने में दस अथवा ग्यारह दिन के समय का लगना है जब कि युद्ध के पूर्व केवल नौ दिन लगते थे। रेल के सामान के अभाव के अतिरिक्त कार्य प्रबन्ध में देर लगना भी माल क एक स्थान से दूसरे स्थान तक देर से पहुँचने का प्रधान कारण है। समय की पाबन्दी तथा माल के डिब्बों के प्रयोग सूचक अब बहुत नीचे स्तर पर हैं। छोटी लाइन की स्थिति और भी बिगड़ी हुई है।

भारतीय रेलवे में कोयले का व्यय भी बहुत अधिक है। वर्तमान समय म १०५ लाख टन कोयला ३०½ करोड़ रुपये की लागत का प्रयोग में आता है। रेलवे फ्यूल जाँच कमेटी ने विभिन्न उपायों द्वारा २०% बचत करने का सुझाव दिया था। यदि यह सम्भव हो सका तो रेलवे को प्रति वर्ष ६ करोड़ रुपये की बचत अगले पाँच वर्षों मे सम्भव हो सकेगी। इसके अतिरिक्त अन्य मितव्ययिता के उपायों का पूरी जाँच होनी चाहिए और इनका प्रयोग होना चाहिये जिसमें रेलवे का व्यय कम हो जाय तथा आय में वृद्धि हो जायगी।

रेलवे की वित्त व्यवस्था—एकवर्थ समिति के सुझाव पर १९२४ म रेलवे की वित्त व्यवस्था केन्द्रीय सरकार की सामान्य वित्त व्यवस्था से भिन्न कर दी गई। १९२४ के पृथक्करण समझौते मे यह व्यवस्था की गई थी कि रेलवे मे लगी हुई पूँजी पर ब्याज के साथ ही व्यवसाय में लगी पूँजी का एक प्रतिशत, अतिरिक्त लाभांश का ⅕ भाग और रेलवे के सुरक्षित कोष में ३ करोड़ रुपया जमा कर देने के बाद बचे अत्यधिक अतिरिक्त लाभांश का ⅓ भाग राजस्व के नाम मे जमा करेगी। महत्वपूर्ण रेलों की हानि का भार केन्द्रीय सरकार वहन करेगी। रेलवे के सुरक्षित कोष म से सामान्य राजस्व दिया जायगा और यदि आवश्यकता पड़ी तो टूट-फूट के लिये पूँजी और रेलवे की आर्थिक स्थिति को दृढ़ बनाने के लिए भी इसमें से धन लिया जायगा। रेलवे के सामान को बदलने और नया सामान मँगाने के लिए १ अप्रैल १९२४ मे टूट-फूट के लिए एक भिन्न सुरक्षित कोष बनाया गया है। केन्द्रीय सरकार की सामान्य वित्त व्यवस्था से रेलवे की वित्त व्यवस्था को भिन्न करने क दो लाभ हुये हैं: (अ) अतीत में सामान्य वित्त की कठिनाइयों और अनिश्चितता पर ही रेलवे का भविष्य निर्भर करता था। इस कारण वह पहले से ही अपने विकास की योजना निर्माण नहीं कर पाते थे। अनुमान है कि पृथक्करण समझौते के अनुसार वित्त व्यवस्था पृथक् कर देने मे रेलवे की स्थिति अधिक सुरक्षित हो जायगी और इसके प्रसार करने के लिये तथा इसमें सुधार करने के लिए निश्चित धन राशि प्राप्त हो जायगी। (ब) अतीत मे यह निश्चित नहीं था कि केन्द्रीय राजस्व को रेलवे से कितनी आय

होगी परन्तु पृथक्करण समझौते के अनुसार इसके अन्तर्गत धन राशि निश्चित कर दी गई है।

पृथक्करण समझौते में संशोधन किया गया जो १ अप्रैल, १९५० से लागू हुआ। इस संशोधन के अनुसार (१) जनता को रेलवे का हिस्सेदार माना गया है और जो ऋण ली गई पूँजी रेलवे में लगाई गई है उस पर सरकार को (अर्थात् जनता को) ४ प्रतिशत का निश्चित रूप से लाभ मिलेगा। यह धन रेलवे की आय में से केन्द्रीय सरकार को दिया जाता है। पहले १९२४ के समझौते के अनुसार सामान्य राजस्व में दी जाने वाली धन राशि की कोई निश्चित निर्धारित मात्रा नहीं थी पर इस संशोधन से यह निश्चित कर दिया गया कि रेलवे में जो कुछ पूँजी लगी है उसका एक निर्धारित प्रतिशत सामान्य राजस्व में दिया जायगा। (२) समझौते में रेलवे विकास कोष स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। इस कोष से (अ) नई रेलवे लाइनों का निर्माण करने में वित्तीय सहायता दी जायगी। इन नई लाइनों से आय होना आवश्यक नहीं है, (ब) यात्रियों की सुविधा के लिए व्यय किया जायगा और (स) श्रम कल्याण कार्य इत्यादि में व्यय किया जायगा। (३) समझौते के संशोधन के अनुसार प्रथम पाँच वर्षों में रेलवे के टूट-फूट कोष में कम से कम १५ करोड़ रुपया संग्रह किया जाना चाहिए और शेष अतिरिक्त आय से एक ऐसे कोष का निर्माण किया जाना चाहिए जिससे आर्थिक सन्तुलन रखा जाय। रेलवे का सामान अधिक महँगा होने के कारण १९५० के पृथक्करण समझौते के पश्चात् से टूट-फूट के कोष में ३० करोड़ रुपये की नियत धनराशि संग्रह कर दी गई है।

पुराने समझौते में सामान्य राजस्व के अन्तर्गत जमा की जानेवाली धन-राशि निश्चित नहीं थी परन्तु नये समझौते में यह रकम निश्चित कर दी गई है। इससे रेलवे का योजनाबद्ध विकास किया जा सकता है, सुरक्षित कोष का निर्माण किया जा सकता है और पुनर्वास तथा प्रसार का कार्यक्रम कार्यान्वित किया जा सकता है। टूट-फूट के कोष में प्रति वर्ष जमा की जाने वाली धनराशि में इस आधार पर वृद्धि कर दी गई है कि कल पुर्जों, मशीन, इञ्जन इत्यादि बदलने के व्यय का मूल व्यय से और उपयोग में लाई जाने वाली सम्पत्ति के जीवन काल से कोई सम्बन्ध नहीं है। अब तक इन्हीं दो आधारों पर टूट-फूट के कोष में योगदान निर्धारित किया जाता था। नये समझौते के अनुसार व्यय का भार बढ़ाने का उद्देश्य रेलवे को अत्यधिक पूँजी संग्रह करने से रोकना है। विकास कोष की स्थापना के समय यह बात मान ली गई है कि भविष्य में रेलवे का विकास केवल व्यवसायिक दृष्टिकोण से सीमित नहीं रखा जा सकता है। देश के आर्थिक विकास

में रेलवे को जिसका राष्ट्रीकरण किया जा चुका है एक महत्वपूर्ण और निश्चित योगदान देना है।

स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् रेलवे की वित्तीय स्थिति में निरन्तर सुधार हुआ है। वास्तविक आय जो कि १९४८-४९ में ४२ ३४ करोड़ रुपये थी १९५१-५२ में बढ़कर ६१.७५ करोड़ रुपया हो गई है और १९५८-५९ के बजट के अनुसार ७६ ९२ करोड़ रुपया अनुमान किया गया है। १९५१-५२ में सामान्य आय के प्रति ३३.४१ करोड़ रुपया दिया गया था और १९५८-५९ में ४९.५८ करोड़ रुपयों के दिये जाने का अनुमान किया गया है जब कि १९४८-४९ मे केवल ७.३४ करोड़ रुपये ही दिये गये थे। इतने पर भी रेलवे की अतिरिक्त आय जो कि १९४८-४९ में १९.९८ करोड़ रुपये थी १९५१ ५२ में बढ़कर २८ ३४ करोड़ रुपये और १९५८-५९ के बजट अनुमान के अनुसार २७.३४ करोड़ रुपये मानी गई हैं। यह सारी रकम विकास कोष में जमा कर दी गई है जब कि १९४८ ४९ में केवल १० करोड़ रुपये ही इस कोष में जमा किये गये थे। रेलवे की वित्त स्थिति में इस सुधार का कारण यह है कि (१) यात्रियों की सख्या में और माल के यातायात में वृद्धि हुई है और (२) रेलवे के किराये तथा भाडे में भी वृद्धि हुई है। देश के औद्योगिक विकास में वृद्धि होने से और आर्थिक कारोबार बढ़ाने से रेलों द्वारा यातायात भी बढ़ा है। वास्तव में रेलें बढ़ते यातायात की माँग पूरी कर सकने में असमर्थ रही हैं, यातायात बढ़ने के साथ ही रेल का किराया भी बढ़ा है। १९४८ ४९ मे रेलवे को यात्रियों से ८४ करोड़ रुपयों और १९५१-५२ में १०९ ८८ करोड़ रुपयों की आय हुई। १९५८-५९ के बजट में लगाये हुए अनुमान के अनुसार यह आय १२४.७३ करोड़ रु० होगी। इसी प्रकार माल होने से आय जो कि १९४८-४९ मे १०८-२९ करोड़ रुपये थी, १९५१-५२ मे बढ़कर १५६.७९ करोड़ रुपये हो गई और १९५८-५९ में अनुमान है कि २५० ५० करोड़ रुपये हो जायगी।

रेल से यातायात कम होने का वास्तविक कारण १९५१-५२ और १९५५-५६ के बीच यह था कि १९४८ से रेल के किराये में और भाडे में अत्यधिक वृद्धि हुई है। युद्ध के तुरन्त पश्चात् रेल के किराये और भाडे में इतनी वृद्धि नहीं हुई जिसका यातायात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता परन्तु १९५१ में रेल के किराये तथा भाडे में पर्याप्त वृद्धि हो जाने से यात्रियों और माल से होनेवाली आय कम हो गई।

	यात्रियों से होनेवाली आय (करोड़ रुपयों में)	माल ढोने का आय (करोड़ रुपयों मे)
१९४८-४९	८४ ००	१०८ २६
१९४९-५०	८६ २६	१३०·३७
१९५०-५१	९७ ८४	१४३·०१
१९५१-५२	१०९ ८८	१५६·७६
१९५२-५३	१००·३८	१४६·१२
१९५३-५४	१००·००	१४७ १८
१९५४-५५	१०२·६२	१५८·६९
१९५५-५६	१०७ ७१	१८०·२८
१९५६-५७	११६·३३	२०३ ६६
१९५७-५८ (संशोधित)	१२०·९०	२३१ ००
१९५८-५९ (बजट)	१२४ ७३	२५०·५०

पिछले तीन वर्षों मे यात्रियों तथा माल के यातायात में औद्योगिक विकास के कारण वृद्धि होने से स्थिति में उन्नति हुई है।

रेलवे के किराये और भाडे की दर सम्बन्धी नीति—रेलो के किराये और भाडे का उद्योग, कृषि, व्यापार और वाणिज्य के विकास में और स्वयं रेलों की वित्तीय स्थिति को दृढ बनाने में बहुत महत्व है। यदि भाड़ा अधिक होगा तो उससे उत्पादन व्यय पर प्रभाव पडेगा और उत्पादन व्यय में वृद्धि होगी। इससे देश के औद्योगीकरण को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। इसके विपरीत यदि भाडे की दर निश्चित करने में त्रुटि रह गई है तो उससे उद्योगो के स्थाननिर्धारण पर और औद्योगीकरण के ढाचे पर बुरा प्रभाव पड़ता है। रेल का किराया और भाड़ा अधिक होने से यातायात को प्रोत्साहन नहीं मिलता है, यातायात रेलों के द्वारा न होकर अन्य साधनों से होता है जिससे रेलवे को क्षति पहुँचती है। यदि भाड़ा कम है तो इससे औद्योगिक तथा कृषिक विकास में अवश्य सहायता मिलेगी, परन्तु यदि इससे रेलवे को हानि पहुँचती है और वह अपना व्यय पूरा करने के पश्चात् उचित लाभ नहीं उठा सकता है तो यह व्यावसायिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल तथा अनुचित है। इसलिए रेल के किराये तथा भाडे की दर सम्बन्धी नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे रेलवे के हित में और उद्योग तथा कृषि के हितो में सन्तुलन स्थापित किया जा सके और जिससे देश में प्राप्त साधनों के आधार पर देश का कृषि तथा औद्योगिक विकास पूरी तीव्रता से किया जा सके, पंचवर्षीय योजना में

निर्धारित लक्ष्य पूरे किये जा सकें और रेलवे की वित्तीय स्थिति पर्याप्त सुदृढ रखी जा सके।

१९४८ से पहले भारत मे रेलवे के किराये तथा भाड़े की दरें इसके अनुकूल नहीं थीं और उसकी कड़ी आलोचना की गई है

(१) भारतीय रेलवे मे किराये तथा भाडे की दर निर्धारित करते समय दूरी का ध्यान नहीं रखा गया। इससे लम्बी यात्रा करने वालों को या काफी दूर सामान भेजने वालों को बहुत अधिक भाडा देना पड़ता था। इससे माल की खपत के लिए बाजार की स्थिति तथा अन्य कारणों के अनुकूल रहते हुए भी उद्योगों को कच्चे माल के स्रोतों से दूर स्थापित करने को प्रोत्साहन न मिला। उद्योग के लिए रेलों के भाडे की दर कुछ कम थी, साथ ही विशेष स्टेशनों के बीच रियायतें भी दी गई थीं परन्तु इससे व्यापार और उद्योगों को विशेष लाभ नहीं हुआ।

(२) भारत से कच्चे माल को विदेशों को निर्यात और विदेशी माल के आयात को सस्ता करने के लिए रेलवे ने देश के किसी भाग से बन्दरगाहों तक और बन्दरगाहों से देश के अन्य उपयोग के केन्द्रो तक का किराया कम रखा। भारत में विदेशी सरकार की इस त्रुटिपूर्ण नीति से भारतीय उद्योग को क्षति पहुँची और विदेशी उद्योगों को अधिक प्रोत्साहन मिला।

(३) भारतीय रेलवे के कुछ भागों में किराये की दरें मीलों के आधार पर निश्चित की गईं और ब्लाक रेट की प्रणाली अपनाई गई अर्थात् एक रेल द्वारा कम दूरी तक माल ढोने पर प्रति मील अधिक किराया वसूल किया गया। इसका उद्देश्य यह था कि माल कुछ दूर ढोने के बाद दूसरी रेल से न ढोया जाय बल्कि लम्बी यात्राओं में उसी रेल का उपयोग करें। इसके परिणामस्वरूप ब्लाक-रेट नीति से बचने के लिए सामान को आवश्यकता से अधिक दूर तक ले जाना पड़ता था। इससे लागत बढ़ती थी और यातायात के साधनों पर भी अनुचित भार पड़ता था।

(४) एक ही सामान के लिए विभिन्न रेलों की विभिन्न दरें थीं। इससे व्यापारियों को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त विभिन्न सामनों के भाडे की दरों में भी काफी अंतर था।

१९४८ में रेल के किराये तथा भाडे की दरों की कुछ त्रुटियाँ दूर कर दी गईं। किराया प्रति मील की दर से निर्धारित किया गया, साथ ही अनाज, दाल, आटा और बीज इत्यादि की दरें निश्चित कर दी गईं। इसके लिए सर्वप्रथम दूसरे समूह की रेलों—आसाम, ईस्ट इन्डिया, जी० आई० पी० और ओ० टी० रेलवे—

में दर निश्चित की गई और तत्पश्चात् पहले समूह की रेलों में। दोनो समूहों में इस अतर का कारण यह था कि दूसरे समूह की रेलों की दरें पहले समूह की रेलों की अपेक्षा पहले से ही कम थीं और यदि दोनों समूह की रेलों की दरें एक साथ बढा दी जातीं तो इससे अधिक कठिनाई होती है।

रेल के किराये तथा भाडे की दरों में इस प्रारम्भिक परिवर्तन के पूरे हो जाने के बाद १ अप्रैल १९५२ को कुछ और परिवर्तन किये गये। दूरी के आधार पर किराये की दर निर्धारित करने की नीति त्याग दी गई। शेष दरों का प्रमाणीकरण हुआ और इस प्रक्रिया में उनमें वृद्धि की गई। लोहे और इस्पात उद्योग के लिए निश्चित विशेष दरों को खत्म करके नई सशोधित दरें लागू की गई जो स्टैन्डर्ड टटकर की दर से कम रखी गई। दक्षिण को चीनी के यातायात की रियायती दरें खत्म कर दी गईं। कोयले के भाडे में ३० प्रतिशत की वृद्धि कर दी गई और यह कहा गया कि पहले की दर व्यय से बहुत कम थी। १९५५-५६ के बजट में भाडे की दरों में अन्य परिवर्तन किये गये। अन्न तथा खाद का प्रति गाड़ी भाड़ा कम कर दिया गया तथा विभिन्न श्रेणियों का यात्रियों के लिये किराया ६०० मील से अधिक दूरी के लिये कम कर दिया गया और प्रथम ३०० मील की यात्रा का किराया बढा दिया गया पर ३०१ से ६०० मील की दूरी के किराये में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

इससे रेलवे को अनावश्यक हानि उठानी पडी जब कि रेलों द्वारा कुल जितने सामान का यातायात होता है उसका ४० प्रतिशत कोयला होता है। यह सुझाव दिया गया कि कोयले के भाडे की दर अधिक होने से रेलवे को लाभ होगा इससे रेलवे के हितों की रक्षा होगी।

रेलवे भाडा पर जाच कमेटी—जो कमेटी जून १९५५ में नियुक्त की गई थी उसने १९५८ के आरम्भ में सरकार को अपनी रिपोर्ट दी। सरकार के विचाराधीन होने के कारण अभी तक वह कार्यान्वित नहीं की गई है। कमेटी यह सिपारिश की है कि किराये की दरे निम्नतर श्रेणी से-उच्चतम श्रेणी तक वृद्धिमान आधार पर होनी चाहिये। इस विचार को कार्यान्वित करने के लिये कमेटी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि सबसे सरल और सतोषप्रद ढग आधार रूप में एक दर निश्चित करना और अन्य दरें इसी पर के प्रतिशत वृद्धि के आधार पर नियत करना होगा। इसके लिये कमेटी ने एक सामान्य दर जो कि मान दण्ड होगा नियत किया है जिसे (Class 100 rate) वर्ग १०० दर कहा जायगा। कमेटी ने वर्तमान वर्ग ९ को सबसे अधिक सुविधाजनक समान्य (Norm) और अन्य वर्गों को इसके ऊपर तथा नीचे माना है। इसी प्रकार गाड़ी भर माल की दरे

भी १०० के नये वर्ग के आधार पर प्रतिशत अंकों में व्यक्त किये गये हैं। प्रत्येक वर्ग कितने प्रतिशत होगा व्यक्त कर दिया गया है। प्रत्येक वस्तु के लिये गाड़ी-भर माल के आधार पर वर्गीकरण किया जाना चाहिये और साथ ही साथ छोटी मात्राओ (smalls) का भी वर्गीकरण होना आवश्यक है। कमेटी ने छोटी मात्रा में माल की दरों में गाड़ी भर माल की दरों की अपेक्षा १५ से लगाकर ३६ प्रतिशत वृद्धि करने की अनुमति दी है।"

कमेटी ने यह मत दिया था कि (i) सीमा कर रद्द कर दिये जाने चाहिये पर नये दरों के बनाते समय इस बात को विचाराधीन रखना चाहिये, (ii) थोड़ी दूरी के लिये अतिरिक्त भाड़ा वसूलना अनुचित समझा जाना चाहिये, (iii) घाट सम्बन्धी और स्थानान्तरण सम्बन्धी वसूली बन्दी कर दी जानी चाहिये। (iv) भाड़ा वसूलने की न्यूनतम दूरी २५ मील तक बढ़ा दी जानी चाहिये और चाहे माल एक रेल अथवा कई रेलों द्वारा ले जाया जाय एक ही बार उसकी बुकिंग होनी चाहिये, (v) माल गाड़ियों द्वारा भेजे जाने के लिये न्यूनतम वजन २० सेर होना चाहिये, और (vi) जो १ रु० १२ आ० प्रति गाड़ी माल पर न्यूनतम सम्मिलित वसूली की जाती है बन्द कर दी जानी चाहिये।

कमेटी ने यह भी सिफारिश की है कि ३०० मील की दूरी की प्रथम सीढ़ी को भाड़े की दर निश्चित करने के लिये चार भागों में बाँट देना चाहिये, जैसे १ से २५ मील तक, २६ से ७५ मील तक, ७६ से १५० मील तक, और १५१ से ३०० मील तक। स्पष्ट रूप से उसने यह सिफारिश की है कि "कर्मचारियों की यह निश्चित नीति होनी चाहिये कि जहाँ तक सम्भव हो सके थोड़ी थोड़ी दूरी के लिये रेल का प्रयोग न किया जाय वरन् अन्य परिवहन के साधनों का उसके स्थान प्रयोग बढ़े।"

इस बात को विचाराधीन रखते हुये कि (१) दरें लम्बी दूरी तक लेजाने वाले माल पर भार स्वरूप न हों, (२) उनमें सीमा सम्बन्धी तथा अन्य सम्बन्धों में जो वसूली की जाती है सम्मिलित हो, (३) आय और व्यय के बीच जो ३०० करोड़ रुपयों का व्यवधान है उनसे पूरा हो जाय। कमेटी ने निम्न दरों के लागू किये जाने की सिफारिश की है :—

मील—	प्रतिमील प्रतिमन पाइयों की इकाई में दरें
१ से २५ तक	३.६०
२६ से ७५ तक	१.४०
७६ से १५० तक	१.२०
१५१ से ३०० तक	१.०५

मील—	प्रतिमील प्रतिमन पाइयो की इकाई से दरे
३०१ से ५०० तक	०.८५
५०१ से ८०० तक	०.७०
८०१ से १२०० तक	०.६०
१२०१ से आगे तक	०.५०

कमेटी की सिफारिशें (i) रेलवे की भाडे की दरों को सरल और सुगम बना देगी और इस प्रकार उनकी अनेकों जटिलतायें और असगतायें दूर हो जायँगी, (ii) उनसे रेलवे की आय में वृद्धि होगी जिसकी बहुत आवश्यकता है, (iii) रेलवे को इसमें आवश्यक सुविधा प्राप्त होगी और सड़क द्वारा छोटी दूरी क परिवहन को प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु उद्योगो का उत्पादन लागत पर रेल के किराये का अत्यधिक और अनुचित भार पडेगा। वर्तमान मुद्रा स्फीति की दशा में इससे हानि होगी। बाहर भेजे जाने वाले माल के सम्बन्ध में तो किराये की बढ़ी हुई दरें भारतीय माल की विदेशी बाजारों में स्पर्धा शक्ति क्षीण कर देगी जिससे विदेशी विनिमय की कठिनाइयों के और भी अधिक बढ जाने का भय होगा।

जनवरी १९४८ में यात्रियों के लिए भारतीय रेलों में प्रति मील किराये की समान दर निश्चित की गई। परन्तु कुछ रेलों में किराये की दर कम थी। उसे भी अन्य रेलों की किराये की दर के समान ही कर दिया गया। १९५१ में रेल का किराया २० से २५ प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया।

१९५५-५६ के बजट में किराये की दरें निम्न प्रकार निश्चित की गई हैं

	पाइ प्रति माल प्रति यात्री		
	१-१५० माल	१५१–३०० माल	३०१ मील और इससे अधिक
एयर कन्डीशन श्रेणी	३४	३४	३२
प्रथम श्रेणी	१८	१६	१५
द्वितीय श्रेणी (मेल/एक्सप्रेस)	११	१०½	९½
,, ,, (साधारण)	९½	९	८½
त्रितीय श्रेणी (मेल/एक्सप्रेस)	६¼	६	५
,, ,, (साधारण)	५¼	५	४½

रेलों का पुन: सगठन करने से रेल के किराये तथा भाडे में जो सुधार किया जा सका उससे (१) रेल का किराया निर्धारित करने का आधार सरल हो गया, (२) रेल की दरों में जो अव्यवस्था फैली हुई थी वह दूर हो गई, और (३)

रेलवे का विकास कर सकने के लिए अधिक धन भी प्राप्त हुआ। रेल के किराये के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि सुधार करने से किराये और भाड़े में कुछ वृद्धि कर दी गई है। इससे उद्योगों का उत्पादन व्यय बढ़ा है और यात्रियों तथा सामान के यातायात से प्राप्त होनेवाली आय घटी है।

रेलों की कार्य प्रणाली में दोष—फेडरेशन आफ इन्डियन चेम्बर्स आफ कामर्स ऐंड इन्डस्ट्री ने अपने स्मारक पत्र में भारतीय रेलवे कार्य प्रणाली के अनेकों दोषों और त्रुटियों की ओर ध्यान आकृष्ट कराया था, जैसे गाड़ी के डिब्बों का न मिलना, बहुत दिनों तक माल के यातायात में प्रतिबन्ध का लगना, यातायात में अधिक समय लगना, भाड़े सामान के यातायात की सुविधा में अभाव, माल के डिब्बों की माँग करने और प्राप्त करने में समय का लम्बा व्यवधान, कुछ जंक्शनों में लाइनों का अभाव, बड़ी और छोटी लाइनों में परस्पर अदला बदली की सुविधाओं का अभाव, कुछ रास्तों में लाइनों का अभाव, मार्ग में माल का चोरी होना और खो जाना या चोरी हुए माल की हानि निश्चित करने में अधिक देर लगना, और कर्मचारियों की कार्यक्षमता में सामान्यतः अभाव इत्यादि। इस सम्बन्ध में मुख्य समस्या तो यह है कि कृषि और उद्योगों की आवश्यकता के अनुसार रेलवे की सुविधा कम है। इस देश में आर्थिक व्यवस्था विकासोन्मुख है, यहाँ कृषि एवं उद्योगों के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि हो रही है और वर्तमान यातायात सुविधायें पूर्णरूपेण अपर्याप्त हैं। फेडरेशन ने इस सम्बन्ध में निम्न सिफारिश की है।

(१) रेलवे के विस्तार और सुधार के लिए ४०० करोड़ रुपयों का प्रथम पंचवर्षीय योजना में नियत करना अपर्याप्त था और कम से कम १०० करोड़ रुपये प्रति वर्ष और अधिक नियत करना चाहिये था। इस प्रकार द्वितीय योजना के अन्तर्गत १४८० करोड़ रुपये व्यय किये जाने की माँग रेलवे बोर्ड ने की थी जिसे योजना आयोग ने घटा कर ११२५ करोड़ रुपये कर दिया है। यह धन भारतीय रेलवे की आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त न होगा।

(२) प्रथम योजना में रेलवे के वर्तमान सामान की मरम्मत पर अधिक जोर दिया गया था जो गत बीस वर्षों से बदले भी नहीं गये। यद्यपि यह बहुत आवश्यक है, फिर भी अब अधिक ध्यान रेलवे के विस्तार पर दिया जाना चाहिये। विस्तार इतना होना चाहिये कि न केवल यातायात की आवश्यकतायें ही पूर्ण हो सकें, वरन् भविष्य में बढ़ी हुई आवश्यकता को भी पूरा कर लेने की पर्याप्त शक्ति हो। यद्यपि द्वितीय योजना में अधिक जोर विस्तार पर दिया गया है फिर भी यह अपर्याप्त है।

(३) रेलवे के कार्य करने की क्षमता में वृद्धि होनी चाहिए। देश के औद्योगीकरण में प्रोत्साहन देने के लिये आवश्यक है कि रेल द्वारा यातायात की सुविधा सस्ती हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि रेलवे का चालू व्यय कम हो। भारतीय रलवे की कुल किराये भाडे से प्राप्त आय १६४८ को २१३ करोड़ रुपयो से बढकर ४०७ ४८ करोड़ रुपये १६५८-५६ के बजट में अनुमान की गई है। कुल व्यय १७३ करोड़ से बढकर २६८ ३५ करोड़ रुपये हो गया है। इससे वह पता लगता है कि बढी हुई आय का अधिकाश व्यय की वृद्धि में प्रयुक्त हुआ है और यह सम्भव है कि किराया और भाड़ा घटाया जा सके।

(४) माल के यातायात में सुविधा प्रदान करने के लिए ऐसे अस्थायी उपायों से कार्य लेना चाहिए जैसे मुकामा घाट, आगरा और साबरमती और अन्य स्थानों पर मशीनों द्वारा माल को स्थानान्तरित करना, कन्वेयर प्रणाली का प्रयोग करना और मुगलसराय वाल्टेयर, भागलपुर आदि जक्शनों पर माल की गाड़ियों की अदला-बदली की गति में तीव्रता लाना क्योंकि इन स्थानों पर बड़ी भीड़ रहती है। जिन रास्तों पर लाइनों के अभाव के कारण कठिनाई हो जाती है वहाँ अधिक लाइनों का खोलना और विशेष प्रकार के माल के डिब्बों की सख्या बढाना।

(५) व्यापारियों को मार्ग में माल के चोरी हो जाने और खो जाने और बहुत देर में हानि मिलने के कारण बहुत कठिनाई उठानी पड़ती है। रेलवे व्यवस्था को इस प्रकार की सधी हुई चोरियों के रोकने और रेलवे कर्मचारियो की असावधानी और चरित्रहीनता के कारण गाड़ी मे माल के जाने की रोक थाम के लिये विशेष प्रयत्नशील होना आवश्यक है। हानि जल्दी चुकाने के उपायों को भी सोचना आवश्यक होगा। विभाग का विकेन्द्रीय करण करना, कुल माल के खो जाने पर हानि तुरन्त चुकाना, इस दशा पर कि यदि एक वर्ष के भीतर ही भीतर माल मिल गया तो पाया हुआ हर्जा रेलवे को वापिस दे देवें। ऐसी कामर्स एडवाइसरी कमेटी की स्थापना करना जिसके सदस्य उन उद्योगों और व्यापारो के प्रतिनिधि हो जो कामर्स विभाग के कर्मचारी से सम्बन्धित हैं आदि कुछ ऐसे उपाय हैं जिनके प्रयोग मे लाने से रेलवे के दोष मिट सकते हैं।

रेलवे के कर्मचारी इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि रेल के कार्य प्रणाली की क्षमता बढ जाय और सुविधायें भी बढ जॉय, माल की सधी चोरियों और उनके खोने पर रोक थाम करने के लिए रेलवे करपशन इनक्वारी कमेटी की नियुक्ति की गई है जो शीघ्र ही अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष उपस्थित करने वाली है। रेलवे के चालू व्यय पर रोक थाम में सहायता करने के लिये

और रेलवे का विकास करने के लिए, विकास में वैज्ञानिक ढग का प्रयोग करने के लिये तथा बड़ी-बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये, जिन्हें पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत रेलवे को पूर्ण करना है, रेलवे बोर्ड की सदस्य सख्या चार के स्थान पर पाँच कर दी गई है।

योजना के अन्तर्गत—प्रथम पंचवर्षीय योजना में ४०० करोड रुपये के व्यय का प्रस्ताव रेलवे के नये सामान के क्रय करने तथा पुराने की मरम्मत के के लिये किया गया था। वास्तव में यह आशा की जाती है कि प्रथम योजना के समाप्त होने तक लगभग ४३२ करोड़ रुपया व्यय हो जायगा। गन्त्रयानादि और और सर्वांग सयत्र पर व्यय प्रस्तावित धन से बहुत अधिक हो गया है। गन्त्रयानादि पर अधिक व्यय होने के कारण यात्रा और ढुलाई १९५३-५४ और १९५४ ५५ के बीच साढे आठ प्रतिशत बढ गई और आशा की जाती है कि योजना के अन्तिम वर्ष में नो प्रतिशत बढ जायेगी। प्रथम योजना के आरम्भ के समय रेलवे के पास ८२०९ इन्जन, १९२२५ यात्रियों क डिब्बे और २२२४४१ माल के डिब्बे थे। इनमे से २११२ इन्जन, ७०११ यात्रियो क डिब्बे और ३९५८४ माल के डिब्बे पुराने थे। प्रथम योजना में १०३८ इन्जनो और ५६७४ यात्रियों के डिब्बे और ४९१४३ माल के डिब्बों के क्रय करने का प्रबन्ध किया गया था। वास्तव में उपर्युक्त सख्या से कुछ अधिक इन्जन और माल के डिब्बे और कुछ कम यात्रियो के डिब्बे प्रथम योजना के अन्तर्गत क्रय किए जा सकेंगे। इतनी अधिक मरम्मत और नये सामान के क्रय किए जाने के पश्चात् भी भारतीय रेलवे का सामान बहुत पुराना और पुराने ढग का है। द्वितीय पचवर्षीय योजना के आरम्भ मे ९२६२ इन्जन, २३७७९ यात्रियो के डिब्बे और २६६०४९ माल के डिब्बे काम मे आते हुये होंगे जिनमें से २८१३ इन्जन और ६३०५ यात्रियो के डिब्बे और ४९५६८ माल के डिब्बे बहुत पुराने घिसे हुये होंगे और उनके स्थान पर नये लाने आवश्यक होंगे। इससे यह पता लगता है कि रेलवे के विस्तार की इतनी आवश्यकता होते हुये भी उनकी मरम्मत और उनके स्थान पर नये सामान लाने की जरूरत बहुत बड़ी है।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत ११२५ करोड़ रुपया भारतीय रेलवे पर व्यय किया जायगा जिसमे से ७५० करोड़ सामान्य आय मे से, २२५ करोड़ रेलवे के अवक्षरण कोष से, १५० करोड़ रेलवे की आय से प्राप्त होगा। रेलवे बोर्ड के १४८० करोड़ रुपये के व्यय किये जाने के प्रस्ताव के स्थान पर '११२५ रु० का व्यय किया जायगा।

द्वितीय योजना में १६०७ मील के रकाथ के दुगने किये जाने का, २६५

छोटी लाइन को बड़ी लाइन में परिवर्तित कर देने का, लगभग ८२६ मील तक बिजली पहुँचाने, १२९३ मील तक पीडब्वाल्स सुविधा देने का, ८४२ मील नई लाइन बिछाने, २००० मील लाइन की मरम्मत करवाने और २२५८ इन्जनों को क्रय करने तथा ११३६४ यात्रियों के डिब्बों और १०७,२४७ माल के डिब्बों को क्रय करने का आयोजन किया गया है।

भारतीय रेलवे १२ करोड़ टन माल के ढोने के स्थान पर १९५५-५६ में ११ करोड़ ५० लाख टन माल ढोयगी और इस प्रकार ५० लाख टन माल के ढोये जाने की कमी रह जायेगी। यदि द्वतीय योजना के अन्त तक जो ६ करोड़ ० लाख टन माल के ढोये जाने की आवश्यकता बढ़ जायेगी उसका विचार किया जाय तो हम कह सकते हैं कि १९६०-६१ तक १८ करोड़ ८ लाख टन के ढोये जाने की आवश्यकता होगी। ऐसा भय है कि जितना धन रेलवे के विकास के लिये नियत कर दिया गया है उसके प्रयोग से रेलवे इतना माल न ढो सके और जिन सुविधाओं के प्रदान करने का इरादा किया गया है वे आवश्यकता से १०% यन्त्रयानादि के सम्बन्ध में और ५% अपनी शक्ति के सम्बन्ध मे कम कर देनी पड़े।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के आधार पर योजना आयोग के मतानुसार (मई १९५८) "जो कार्यक्रम ११२५ करोड़ रुपयों के व्यय का बनाया गया था उसमें अब मूल्यों में वृद्धि हो जाने के कारण १०० करोड़ रुपयों के और अधिक व्यय होने का अनुमान किया गया है। इस समय ११२५ करोड़ रुपयों की मात्रा बढ़ाई जा नहीं सकती। इसलिये रेलवे को योजना के अन्तर्गत कुछ विकास योजनाओं को स्थगित करना पड़ेगा। विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ भी इसका एक कारण होंगी। जिन विकास योजनाओं को स्थगित करने का इरादा है वे (१) मद्रास रिलूपुरम क्षेत्र तथा कलकत्ते के अन्तर्गत सियालदा क्षेत्र में बिजली पहुँचाने की योजना, (२) मीटर गेज कोच फैक्ट्री (३), इन्टीगरल कोच फैक्ट्री के प्रसाधन विभाग तथा (४) गुना और उज्जैन के बीच नई रेल के लाइन बिछाने की योजनायें हैं।"

"अपने ध्येय को पूरा कर लेने के प्रश्न का जहाँ तक सम्बन्ध है यह आशा की जाती है कि १९६०-६१ तक रेलवे ४२० लाख टन माल ढोकर अतिरिक्त आय प्राप्त कर सकेगी। पर क्या यह आय पर्याप्त होगी। निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। विदेशी विनिमय तथा अन्य कठिनाइयों के कारण विकास योजनाओं के कार्यान्वित करने में ढील देने के कारण ढुलाई की मात्रा योजना के अन्तिम वर्ष तक आरम्भ में किये गये अनुमान से जो कि ६१० लाख टन था कम

हो जायगी पर हो सकता है कि ४२० लाख टन से अधिक हो। कुछ भी हो योजना में की गई रेल द्वारा माल ढोने की मात्रा के अनुमान में कुछ परिवर्तन तो अवश्य ही होगा। जहाँ तक यात्रियों के ढोने के ध्येय से सम्बन्ध है—अर्थात् ३ प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि—वह सम्भवतः पूरी हो जायगी। १९५५-५६ की अपेक्षा १९५६-५७ मे रेल के यात्रियों मे प्रतिशत वृद्धि ६·७ हुई थी। अगर यही रही तो रेल में भीड़ की समस्या और भी अधिक खराब हो जायगी।"

द्वितीय योजना मे भारतीय रेलवे की माल ढोने और यात्रियों के आने-जाने की शक्ति में वृद्धि की व्यवस्था की गई है। परन्तु वृद्धि देश की आवश्यकता से बहुत कम सम्भव हो सकेगी। केवल सरकार को ही नहीं वरन् जनता को भी अधिक मात्रा में यातायात की सुविधा की आवश्यकता पड़ेगी। प्रथम योजना में भी जनता को यातायात की सुविधा में कमी का अनुभव हुआ था। द्वितीय योजना में तो स्थिति और भी खराब होगी। रेलवे के सम्बन्ध में यही सर्व प्रधान आलोचना है। विदेशी विनिमय की कठिनाइयों तथा मूल्यों में वृद्धि होने पर भी योजना में रेलवे के विस्तार के प्रति ध्यान अधिक रखना चाहिये था और व्यय के लिये अधिक धन नियत करना चाहिये था।

अध्याय ३५

सड़क यातायात

भारत में सड़कों का बहुत अभाव है। १६०० में सड़कों की लम्बाई कुल १,७६,००० मील थी और १६५२ में २,५६,००० मील थी। प्रथम योजना के अन्त तक कुल सड़कों की लम्बाई बढ़कर ३१६,००० मील हो गई जिसमें से १२१,००० मील पक्की सड़क थी। इनमें से केवल ⅓ भाग पक्की सड़कें हैं और शेष कच्ची। एक ऐसे देश में जिसका क्षेत्रफल १,१३६,००० वर्गमील है, जिसकी जनसंख्या लगभग ३५ करोड़ ७० लाख है और जिसके उद्योग तथा कृषि का काफी विकास हो चुका है २६५,००० मील सड़कें बहुत कम हैं। भारत में प्रति वर्ग मील में बहुत ही कम सड़कें हैं, अन्य देशों की तुलना में यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। भारत के प्रति वर्ग मील क्षेत्रफल में सड़कों की लम्बाई ०.२ है जब कि इन्गलैण्ड में २.०, बेलजियम में ३.३, फ्रांस में २.४ और अमरीका में १.१ है।

इसमें कुछ सन्देह नहीं कि देश के आर्थिक विकास में सड़कों का विशेष महत्व है। सड़कें होने से ही ग्रामों से कच्चा माल और कृषि उत्पादन कारखानों कस्बों और नगरों तक पहुँचाया जाता है और बन्दरगाहों तथा कारखानों से माल ग्रामों तक भेजा जाता है। देश के विभिन्न भागों के व्यक्तियों के लिए सड़कें यातायात की सुविधा प्रदान करती हैं। सड़कों की सुविधा से ही व्यक्ति एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। वर्तमान काल में परस्पर सम्पर्क स्थापित करने के लिए यातायात के द्रुतगामी साधनों की और अच्छी सड़कों की अत्यन्त आवश्यकता है। रेलों तथा विमानों की सहायता से देश के बड़े-बड़े नगरों और व्यापारी केन्द्रों से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है परन्तु देश के दूर-दूर के स्थानों तक पहुँचने के लिए और उनका लाभ उठा सकने के लिए अच्छी सड़कों का होना अत्यन्त आवश्यक है। युद्ध के समय यदि सड़कें अच्छी हैं तो सेना को शीघ्र एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाया ले जाया जा सकता है, युद्ध-सामग्री आवश्यक स्थानों तक पहुँचाई जा सकती है और इस प्रकार देश की शत्रु के आक्रमण से रक्षा की जा सकती है। वास्तव में भारत की कुछ प्राचीन बड़ी सड़कें इसी उद्देश्य से बनाई गई थीं। यदि देश में अच्छी सड़कों का जाल बिछा हो तो उसका शांतिकाल में तथा युद्ध के समय हर स्थिति में विशेष महत्व होता है।

अतीत मे दिल्ली से कलकत्ता, कलकत्ते से मद्रास, मद्रास से बम्बई और बम्बई से दिल्ली को मिलाने वाली चार बड़ी सड़को के चारों ओर छोटी बड़ी सड़कों का जाल फैला हुआ था। इन चार बड़ी सड़कों को बारहो मास कार्य में नहीं लाया जा सकता है। पुल न होने के कारण और टूट-फूट तथा सामान्यतया स्थिति खराब होने से इन सड़कों का बरसात में उपयोग नहीं किया जा सकता है। इन बड़ी सड़कों को देश के ग्रामों से मिलाने वाली प्रदेशीय सड़कों तथा अन्य छोटी-छोटी सड़को की स्थिति और भी खराब है।

देश की आज सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि सड़कें बढ़ाई जायँ। राष्ट्रीय सड़कें वर्तमान समय की भाँति केवल पूर्व से पश्चिम तक के क्षेत्र मे ही न फैलें वरन् इनका प्रसार उत्तर से दक्षिण तक भी किया जाय। इसके साथ ही इन सड़कों को और प्रदेशीय तथा अन्य छोटी सड़कों को सभी ऋतुओ में कार्य मे लाने योग्य बनाने की आवश्यकता है। मोटर यातायात के लिए भी कुछ सड़कों का होना आवश्यक है। इसके लिए सड़कों के मोड़ सुगम होने चाहियें, जहाँ से सड़क निकाली जाय वह भूमि पक्की होनी चाहिए और सड़कों को ककर तथा डामर या सिमेंट के प्रयोग से पक्का बनाना चाहिए। इन सड़कों की सतह को चिकना होना चाहिये। इसके साथ ही बैलगाड़ियो तथा यातायात के अन्य साधनो के लिए भी ऐसी सड़के होनी चाहिये जो मोटर की सड़क की भाँति अधिक व्ययशील तो न हों परन्तु ऐसी हों जिनको वर्ष भर प्रयोग में लाया जा सकता है। यह बहुत आवश्यक है कि सड़को के निर्माण की सुसम्बद्ध योजना निर्माण की जाय जिसमें बड़ी राष्ट्रीय सड़कों, प्रदेशीय सड़को और ग्रामों इत्यादि को मिलाने वाली छोटी-छोटी सड़कों को विशेष महत्व दिया जाय।

भारत में सड़कों के विकास की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है, इसके कई कारण हैं:—(१) सरकार ने और स्थानीय सस्थाओं ने सड़कों के विकास का महत्व नहीं समझा। नगर पालिकाओं और जिला बोर्डों की देख-रेख में अनेक सड़के हैं परन्तु इन सस्थाओं ने सड़कों के विकास की ओर उचित ध्यान नहीं दिया। प्रदेशीय तथा केन्द्रीय सरकारों ने भी अन्य विकास कार्यों को इसकी अपेक्षा प्राथमिकता दी है। इधर कुछ वर्षों से ही सड़कों के विकास की आवश्यकता और इसके महत्व की ओर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों का ध्यान गया है और दोनों सरकारों ने इसके लिए योजनाएँ बनाई हैं, (२) सड़कों के निर्माण के लिए आवश्यक बहुत प्रकार के सामान और मशीनो का भारत में अभाव है और इनका आयात करने के लिए हमे विदेशों पर निर्भर करना पड़ता है। अब भारत में सिमेंट तथा सड़क-निर्माण के अन्य सामानों का उत्पादन होने लगा है साथ

ही सड़क कूटनेवाले, भाप से चलनेवाले इञ्जनों तथा डिजिल इञ्जनों का भी भारत में उत्पादन आरम्भ हो गया है परन्तु फिर भी एसफाल्ट के लिए विदेशों पर ही निर्भर करना पड़ता है। आशा है कि पेट्रोल शोधशालाओं का निर्माण पूरा हो जाने पर देश की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए एसफाल्ट प्राप्त हो जायगा; (३) देश में वित्त का अभाव है। नगर पालिकाओं और जिला बोर्डों की देख-रेख में जो सड़कें हैं वह वित्त के अभाव के कारण अच्छी दशा में नहीं रह पातीं। राज्य सरकारों के पास विकास के लिए कोष है परन्तु उनका उपयोग सड़कों के निर्माण में कम और अन्य कार्यों में अधिक किया गया है। यही स्थिति केन्द्रीय सरकार की भी है।

सड़क कोष—सड़क विकास समिति (१९२७) की सिफारिश पर १९२९ में सड़क विकास कोष स्थापित किया गया और प्रति गैलन पेट्रोल पर कर ४ आने से बढ़ाकर ६ आने कर दिया गया जिसमें से प्रति गैलन दो आना सड़क विकास कोष में जमा किया गया। बाद में पेट्रोल पर अतिरिक्त कर लगाकर सड़क विकास कोष में दो आने की जगह ढाई आना जमा किया गया। परन्तु दुर्भाग्यवश सड़क विकास कोष के धन का उचित उपयोग नहीं किया गया है। सड़क विकास कोष स्थापित हो जाने के बाद राज्य सरकारों ने अन्तर-राज्य तथा अन्तर-जिला सड़कों के विकास में स्वयं अपने बजट से व्यय कम कर दिया। इसके साथ ही ग्रामों को मिलाने वाली छोटी-छोटी सड़कों को अपने भाग्य पर छोड़ दिया गया। इस प्रकार सड़क विकास कोष निर्माण का उद्देश्य ही व्यर्थ हो गया। सड़कों का विकास करने के लिए उपलब्ध साधनों में अपनी ओर से सहायता देने की अपेक्षा राज्य सरकारों ने अपने व्यय में कटौती कर दी।

भारत सरकार ने सड़क विकास कोष के धन को व्यय करने में कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये। सरकार ने यह व्यवस्था की कि (१) इस कोष का धन सड़कों के निर्माण तथा सुधार में और पुलों के निर्माण तथा सुधार में व्यय किया जाय परन्तु इस कोष का वर्तमान सड़कों की मरम्मत और देखभाल में उपयोग नहीं किया जा सकता है, और (२) सड़क विकास कोष में राज्य के योगदान का कम से कम २५ प्रतिशत छोटी छोटी सड़कों में व्यय किया जाय और उन सड़कों पर २५ प्रतिशत से अधिक व्यय न किया जाय जो रेल मार्ग की प्रतियोगी हैं। यह सब होते हुए भी यह सत्य है कि सड़क विकास कोष से प्राप्त होने वाला धन आवश्यकता से कम है और १९५०-५१ के अंत तक २० करोड़ रुपये के व्यय की योजनाओं को स्वीकृति प्रदान की जा चुकी थी और १७ करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका था। १९५१-५२ से दिसम्बर १९५५ तक २७ करोड़ रुपये के व्यय की

योजनाओं को स्वीकृति दी जा चुकी थी और मार्च १६५५ तक लगभग १२ करोड़ रुपया उनके कार्यान्वित करने में व्यय किया जा चुका था।

सरकार अपनी वर्तमान आय मे से सड़को के निर्माण मे पर्याप्त व्यय नही कर सकती है साथ ही इस कार्य के लिए सड़कों का उपयोग करने वालो पर लगाए गये करों से भी पर्याप्त आय नहीं होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि सड़को के निर्माण के लिए ऋण लिया जाय। यह सोचना बिल्कुल निरर्थक है कि सड़कों पर व्यय किये जाने वाले रुपयों से प्रत्यक्ष रूप मे ऐसी आय नहीं होती है जिससे इस कार्य के लिए उपलब्ध ऋण का ब्याज चुकाया जा सके, इसलिए यह व्यय अनुत्पादक है और इसको नही करना चाहिए। यह सभव है कि सड़को के विकास से प्रत्यक्ष रूप में कोई आय न हो परन्तु इससे निरसन्देह देश की आर्थिक समृद्धि बढ़ती है और साथ ही जनता की कर देने की शक्ति मे वृद्धि होती है। भारतीय सड़क एवम् यातायात सघ ने कुछ वर्ष पहले एक जाँच की जिसमे पता चला कि एक विशेष क्षेत्र में सड़क का विकास करने से १२ लाख रुपये का वार्षिक लाभ हुआ जब कि सड़क निर्माण में तथा उसकी देखभाल में केवल ४½ लाख रुपया वार्षिक व्यय किया गया। इससे स्पष्ट है कि सड़कों पर व्यय किये गये प्रति १०० रुपयों पर जनता को २७७ रुपये का लाभ होता है। सड़कों के विकास से जनता समृद्धिशाली बनती है, सरकार की आय में वृद्धि होती है, इसलिए ऋण लेकर सड़कों पर निर्माण करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

नागपुर योजना—१६४३ में विभिन्न राज्यों के मुख्य इञ्जीनियरों की नागपुर मे एक बैठक हुई और देश की न्यूनतम आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक सड़क निर्माण-योजना निर्माण की गई। इस योजना का विशेष महत्व है क्योकि इसके पश्चात भारत में सड़कों के निर्माण की सभी योजनाओं पर इसका प्रभाव पड़ा है। नागपुर योजना में सड़को को चार श्रेणियों मे विभक्त किया गया है :—(१) राष्ट्रीय सड़कें, (२) राज्य की सड़कें, (३) जिलों की बड़ी छोटी सड़कें और (४) ग्रामों की सड़कें। योजना में इन चार प्रकार की सड़को का १० वर्ष के अन्दर सुनियोजित और सुसम्बद्ध आधार पर विकास करने का सुझाव दिया गया था जिससे पक्की सड़कों की लम्बाई लगभग ६६,४०० मील से १,२२,००० मील तक और अन्य सड़को की लम्बाई १,१२,००० से २,०७,५०० मील तक बढ़ाई जा सके। इसके साथ ही योजना में वर्तमान सड़को में सुधार करने का भी सुझाव दिया गया। नागपुर योजना का उद्देश्य यह था कि विकसित कृषि क्षेत्र का कोई भी ग्राम मुख्य सड़क से ५ मील से अधिक दूर न पड़े और कोई

भी गाँव चाहे कहीं हो सड़क से २० मील से अधिक दूर न पड़े। इस योजना के अनुसार युद्ध पूर्व के मूल्यों में ५० प्रतिशत वृद्धि के आधार पर निर्माण-कार्य में ३७२ करोड़ रुपया लगेगा जिसमें से ६६.५ करोड़ रुपया राष्ट्रीय सड़कों पर और ३०५.५ करोड़ रुपया अन्य सड़कों पर व्यय किया जायगा। यदि मूल्य युद्ध पूर्व के स्तर से २०० प्रतिशत बढ़े मान लिये जावें जिससे व्यय का अनुमान वर्तमान समय के मूल्य के अधिक निकट आ सके तो, जैसा कि योजना-आयोग ने बताया है, नागपुर योजना को कार्यान्वित करने में कुल ७४४ करोड़ रुपया व्यय होगा जिसमें से १३३ करोड़ रुपया राष्ट्रीय सड़कों के लिए और ६११ करोड़ रुपया अन्य सड़कों पर व्यय किया जायगा।

रेल मार्ग से सम्बन्ध—भारत में सड़कें अपर्याप्त होने और सड़कों की स्थिति दोष पूर्ण होते हुए भी १९३० के आसपास सड़क यातायात से रेलवे को गहरी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। निजी बस सर्विसों की ओर रेल की अपेक्षा अधिक यात्री आकर्षित हुए जिसमें अधिकतर कम आय वाले व्यक्ति थे। इसके साथ ही हल्के सामान को लाने लेजाने के लिए भी मोटरों को सुविधाजनक समझा गया। मोटर यातायात प्रायः और सुगमता से हो जाता है इससे रेल को गहरी हानि उठानी पड़ी। अनेक रेलवे जाँच समितियों ने रेलवे तथा सड़क यातायात की प्रतियोगिता पर विचार किया और रेलवे को सड़क की प्रतियोगिता में रक्षा करने के अनेक सुझाव दिए। रेलवे ने सस्ते वापसी टिकटों के रूप में रियायत देनी शुरू कर दी, कुछ विशेष समय के लिये टिकट दिये, अच्छी सर्विस और कम किराये की व्यवस्था की। परन्तु इससे प्रतियोगिता का जोर कम नहीं हुआ और यह आशंका की जाने लगी कि सड़क यातायात से रेलवे को गहरी क्षति पहुँचेगी।

रेलवे के हितों की रक्षा करने के लिए सरकार ने अनेक उपायों का आश्रय लिया और १९३९ में मोटर गाड़ी कानून लागू किया गया जिसमें यह व्यवस्था की गई कि सभी मोटरों तथा बसों के लिए लाइसेन्स लिया जाय। कानून में बसों को रखने तथा अधिक यात्री न बैठाने और बसों की चाल इत्यादि पर नियन्त्रण की शर्तें माननी अनिवार्य कर दी गई। बसों का बीमा आवश्यक कर दिया गया। इस कानून से यात्रियों के हितों की रक्षा के साथ ही हानिकारक प्रतियोगिता को रोकने का प्रयत्न करके रेलवे के हितों की रक्षा की भी व्यवस्था की गई। परन्तु सड़क यातायात की ओर से प्रतियोगिता प्रचलित रही और १९४६ में इस प्रतियोगिता को रोकने के लिए एक त्रिदलीय संगठन का निर्माण करने की नीति अपनायी गई। इस संगठन में मोटर मालिकों, राज्य सरकार और रेलवे

के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई। परन्तु इस योजना को आशा के अनुकूल सफलता नहीं मिली। बाद मे भारत सरकार ने सड़क यातायात कार्पोरेशन कानून (१६४८) लागू किया जिसके स्थान पर १६५० में एक और व्यापक कानून लागू किया गया।

वर्तमान में रेल और सड़क की प्रतियोगिता समाप्त हो गई है क्योंकि (१) यातायात का अभाव है और वर्तमान समय में रेल और मोटर यातायात को साथ साथ कार्य करके लाभ उठाने का काफी अवसर है, (२) कुछ तो सरकार के प्रतिबन्धों के कारण और कुछ मोटरों के तथा उनके विभिन्न-कल-पुर्जों के मूल्य अधिक होने से सड़क यातायात का व्यय बढ गया है, और (३) अनेक राज्यों मे यातायात का राष्ट्रीकरण कर देने से रेलवे तथा रोडवेज में अधिक उचित सम्बन्ध स्थापित हो गया है।

राज्य द्वारा संचालित सड़क यातायात के क्षेत्र निश्चित हैं और मोटरे यात्रियों तथा सामान को उसी क्षेत्र के अन्दर लाती ले जाती हैं। इस बात पर महत्व दिया गया है कि यातायात इस प्रकार संचालित किया जाय जिससे रेल-सड़क यातायात का सुसम्बद्ध विकास हो। यातायात इस प्रकार नियोजित हो कि यात्रियो तथा सामान को रेलवे केन्द्रो तक पहुँचाया जाय जहाँ से आगे का यातायात रेलवे सँभालेगी। जहाँ तक रोडवेज का सम्बन्ध है यात्रियों को दी जानेवाली सुविधाएँ बढी हैं, अधिक भीड़-भाड़ पर नियन्त्रण रखा गया है और गाड़ियाँ अच्छी दशा में रखी गई हैं।

यह योजना १६४६ में बम्बई में प्रारम्भ की गई और १६४८ से १६५० तक ढाई वर्ष में यातायात के मार्गों की सख्या ८ से ४६५ तक बढ गई। आरम्भ में २४० मील तक यातायात की व्यवस्था थी। १६५० में यह व्यवस्था १५,०३६ मील तक फैल गई और १६४८ से १६५० तक क्रमशः कुल १,०८,७७२ और २,६१६,२४७ मील के बीच यातायात किया गया। इसके बाद के वर्षों में इस दिशा में प्रगति धीमी रही है परन्तु सभी दृष्टिकोणों मे रोडवेज ने उन्नति की है। उत्तर प्रदेश में १६४७-४८ में ३१ सरकारी रोडवेज सर्विसे चालू हुई जो १६५५-५६ में ३३७ हो गई। यह यातायात व्यवस्था ६,००० मील तक फैली हुई है। यह अनुमान लगाया गया है कि कुल १०,००० मील के क्षेत्र में यात्रियों के यातायात का राष्ट्रीकरण करने मे २,३०० बसो को आवश्यकता होगी। द्वितीय योजना के अन्तर्गत इस यातायात सुविधा का विस्तार ६६६४ मील हो जायगा और उसमे १६०० बसे होगी।

बम्बई में राजकीय रोडवेज ने ८ से ६ पाई प्रति मील किराया वसूल

किया। इससे पहले इस क्षेत्र में किराये की यही दर वसूली गई थी, परन्तु गुजरात में मोटर मालिकों ने रेलवे की प्रतियोगिता में किराया कम वसूला था। बम्बई में यद्यपि किराया कम नहीं किया गया है परन्तु रोडवेज की सर्विस में निस्सन्देह काफी सुधार हुआ है और जनता को राष्ट्रीकरण से पहले की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। जहाँ तक उत्तर प्रदेश का सम्बन्ध है रोडवेज का अपर तथा लोअर क्लास का किराया अक्टूबर १९५२ में क्रमशः ९ पाई और ७½ पाई से बढ़ाकर १०½ पाई और ८ पाई प्रति मील कर दिया गया। किराये में वृद्धि करने का उद्देश्य मोटर इत्यादि के कल-पुर्जों तथा अन्य सामानों की बढ़ी मूल्यों को पूर्ण करना था। परन्तु चूँकि केन्द्रीय कारखाने स्थापित कर देने से मरम्मत इत्यादि में पहले की अपेक्षा कम व्यय करना पड़ता है इसलिए १९५३ में किराये में कमी कर दी गई। अब किराये की दर अपर क्लास के लिए १०½ पाई प्रति मील से घटाकर ९ पाई प्रति मील कर दी गई और लोअर क्लास के लिए किराये का दर ८ पाई से घटाकर ७½ पाई कर दी गई। अक्तूबर १९५२ से पहले किराये की यही दर थी। लोअर क्लास का किराया अब भी रेल के तीसरे दर्जे के किराये से अधिक है। रेल में तीसरे दर्जे का १५० मील का किराया यदि डाकगाड़ी या एक्सप्रेस से सफर किया जाय तो ६⅞ पाई प्रति मील है और यदि सामान्य गाड़ी से सफर किया जाय तो दर ५⅞ पाई प्रति मील है परन्तु आशा की जाती है कि भविष्य में रोडवेज किराया और घटायेंगी।

राजकीय रोडवेज प्रणाली सन्तोषजनक रीति से चल रही है परन्तु (१) गाड़ियों को रखने तथा मरम्मत इत्यादि करने का व्यय अधिक है और रोडवेज को उतना लाभ नहीं होता है जितना की आशा थी। (२) अभी कुछ दिशाओं में यात्रियों को और अधिक सुविधाएँ प्रदान की जा सकती हैं। परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि रोडवेज ने सड़क यातायात की अवस्था में काफी सुधार किया है और भारत में रोडवेज यातायात व्यवस्था का प्रसार करने के लिए कोई बाधा नहीं है।

निजी उद्योग की कठिनाइयाँ—भारत के सड़क यातायात के विकास में अनेकों कारणों से बाधायें पहुँची हैं (१) मोटर गाड़ियों को बहुत अधिक कर देना पड़ता है जिससे व्यक्तियों की इस कार्य को करने की शक्ति टूट जाती है। मोटर गाड़ी कर जाँच कमेटी ने यह बात कही थी कि भारत में मोटर गाड़ियों का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों पर संसार भर में सब से अधिक कर लगाया जाता है। इसी रिपोर्ट के अनुसार प्रत्येक लारी पर प्रति वर्ष कुल कर मद्रास में ६,०७७ रुपये, बम्बई में ५,००० रुपये से लगा कर ५,२५८ रु० तक

और अन्य राज्यों में औसत कर लगभग ५,१३४ रु० था। इस कमेटी ने यह भी अनुमान लगाया था कि माल ढोने वाली लारियाँ केन्द्रीय और स्वदेशीय राज्यों को जितना कर देती हैं, (स्थानीय करों को छोड़ कर) यदि वे २० हजार मील से अधिक यात्रा करती हो तो वह रेल द्वारा प्रति टन प्रति मील ढुलाई के औसत किराये से सौ प्रतिशत अधिक था। पिछले तीन वर्षों में लारियों पर यह भार वास्तव में अनेकों राज्यो मे और अधिक बढा ही है।

(२) प्रादेशिक सरकारों ने सड़को पर बहुत कम धन व्यय किया है और उनकी देख-रेख भी ठीक नही होती। इससे व्यक्तियो को बस चलाने के कार्य मे बड़ी कठिनाई पड़ती है। "मोटर गाडी कर जाँच कमेटी ने पता लगाया था कि 'क' राज्यों को १९४९ में रजिस्टर की हुई मोटर गाड़ियों और वस्तुओं से प्राप्त २३'२९ करोड़ रुपयों के लगभग थी जब कि सड़कों की मरम्मत पर केवल ११'७ करोड़ रुपया व्यय किया गया था जो कि वसूल किये हुये कर के आधे से भी कम है। यह स्थिति बड़ी विचित्र है कि सड़क यातायात पर कर इतना अधिक है कि यात्रियो और माल ढोने में उनका प्रयोग करने मे बाधा पड़ती है, पर फिर भी मोटर गाड़ियो से वसूल हुये कर के धन का पूरा प्रयोग सड़कों के बनाने मे नही किया जाता।" सड़क की ठीक मरम्मत न होने से सड़क यातायात के व्यय मे भी वृद्धि हो जाती है। कमेटी ने अनुमान लगाया था कि एक बस साधारण खराब और बहुत खराब सड़कों पर एक वर्ष में २५,००० मील चलाने में व्यय अच्छी सड़क में चलाने मे व्यय की अपेक्षा २९०० रु० अधिक होगा।

(३) १९३९ मे मोटर गाड़ी एक्ट ने उन लंबी यात्राओं पर जो उस समय बम्बई और कलकत्ते, बम्बई और देहली, बम्बई और पेशावर और बम्बई और मद्रास आदि के बीच प्रचलित थी प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। इस एक्ट की योजना है कि सड़क यातायात को राज्यों के छोटे-छोटे क्षेत्रों में ही सीमित कर दिया जाय जिसमे कि कोई मोटर राज्य की एक सीमा से दूसरी सीमा तक बिना अनेको यातायात अधिकारियों की आज्ञा के न जा सके। ऐसी आज्ञा बहुत ही कम दी जाती है। ऐसी स्थिति में अन्तर प्रदेशीय यातायात की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती। मोटर गाड़ियों के चलाये जाने के क्षेत्र को सीमित करने के अतिरिक्त क्षेत्रों के कर्मचारियो को यह अधिकार भी प्रदान किया हुआ है कि वे अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों मे चलाई जाने वाली मोटर बसों की संख्या भी सीमित कर सकते हैं। मोटर गाड़ी एक्ट ने छोटे-छोटे क्षेत्रों मे अनेकों अधिकारियों को बनाकर सड़क के यातायात को छोटे-छोटे भागो में विभाजित करके तथा प्रतिबन्ध लगा

कर निहित स्वार्थ का अवसर प्रदान कर दिया है। इसके परिणाम स्वरूप सड़क यातायात के वैज्ञानिक ढग पर विकास में बाधा पड़ी है।

(४) जिस प्रकार सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण विभिन्न राज्य द्वारा किया गया है उससे राष्ट्रीयकरण की योजना के अन्तर्गत अधिक महत्वशाली योजनाओं पर जो धन व्यय किया जाना चाहिये था वही नहीं रोका गया वरन् व्यक्तियों को यह कार्य करने में बड़ी भारी बाधा भी पहुँची है। इस दोष को रोकने के लिये योजना आयोग ने १९५३ में प्रादेशिक राज्यों से अपनी-अपनी लाइसेंस देने की नीति को सुधारने की आज्ञा दी थी क्योंकि वह व्यक्तियों को सड़क यातायात का कार्य करना आरम्भ करने में बहुत बाधक थी परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रादेशिक राज्यों ने इस आज्ञा को अनसुनी कर दिया है क्योंकि कि इनके सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के कार्य क्रम में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता। अपनी आज्ञा को मनवा सकने के लिये योजना आयोग को अपनी आज्ञा निश्चित शब्दों में निश्चित निर्देशों सहित भेजनी चाहिये थी। स्थिति के अपने अन्तिम परीक्षण में योजना-आयोग केन्द्रीय मन्त्रालय के सहयोग से इस परिणाम पर पहुँचा है कि द्वितीय योजना में माल और यात्रियों के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्तों का अनुसरण आवश्यक है।

माल की ढुलाई के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त निम्न हैं :—

१ सड़क द्वारा ढोने वाली सस्थाओं के राष्ट्रीयकरण की कोई योजना १९६१ तक अर्थात् द्वितीय योजना के अन्त तक नहीं सोची जानी चाहिये।

२ १९३९ के मोटरगाड़ी एक्ट के अनुसार कम से कम तीन वर्ष के लिये ऐसी सस्थाओं को जो पनप सकती हैं परमिट स्वतन्त्रता पूर्वक देना चाहिये। मोटरगाड़ी एक्ट के अन्तर्गत अधिक से अधिक पाँच वर्ष तक का परमिट देकर प्रोत्साहन देना चाहिये।

यात्रियों के यातायात के लिये निम्न सिद्धान्तों की सिफारिश की गई है—

(१) जो प्रादेशिक राज्य यात्रियों के यातायात सेवा सस्थाओं का राष्ट्रीयकरण करना चाहें उन्हें योजना आयोग के समक्ष क्रमिक कार्य-क्रम बनाकर विचार करने के लिये रखना चाहिये जिससे वह कार्यक्रम को योजना में सम्मिलित कर सके। इस कार्य-क्रम को उन्हें १९६० ६१ तक जिन क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण करना है उनका निश्चित रूप से विवरण दिया जाना चाहिये। इसका विचार आयोग द्वारा तभी हो सकता है जबकि शर्तें प्रादेशिक राज्यों द्वारा स्वीकार कर ली जायँ।

(२) राष्ट्रीयकरण योजना के बाहर की सड़कों पर यातायात के लिये

परमिट कम से कम तीन वर्षों के लिये १६३६ के मोटर गाड़ी एक्ट के अनुसार दिया जाय।

(३) उन क्षेत्रों में जो स्वीकृत राष्ट्रीयकरण योजना के अन्तर्गत आते हैं परमिट अधिक से अधिक समय तक के लिये, जो कि विस्तार के कार्य-क्रम के अन्तर्गत मोटरगाड़ी एक्ट की सीमा के अन्दर ही है, दिये जाने चाहिये।

(४) जहाँ पर सरकार के सहयोग की सम्भावना है एक त्रिदलीय संस्था स्थापित की जानी चाहिये जिसमे प्रादेशिक सरकारें, रेलवे और इस कार्य मे संलग्न व्यक्ति सम्मिलित हों।

(५) उन क्षेत्रों में जिन्हे पूर्णतया व्यक्तिगत लोगों के अधिकार मे छोड़ दिया जाय प्रतिस्पर्धा दलों को विशेष प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये।

राज्यों में सड़कों के विकास में बाधा डालने वाली अनेक कठिनाइयों मे से एक तो निर्देशन करने वाले उपयुक्त कर्मचारियों का अभाव है जिनका कार्य मोटर द्वारा परिवहन की व्यवस्था पर ध्यान देना, सड़कों के नियोजित विकास की अपेक्षा विशेष हो। १६५८ के आरम्भ में भारत सरकार ने एक कमेटी इस मामले की जाँच करने के लिये श्री० एम० आर० मसानी की अध्यक्षता में नियुक्त की थी। सरकार ने १६५८ के आरम्भ में एक अन्तर-राज्य यातायात आयोग की भी नियुक्ति की थी जिसको मोटरगाड़ो (संशोधित) एक्ट की ६३ ए धारा के अनुसार नियन्त्रण तथा निर्देशन के सम्बन्ध मे बहुत विस्तृत अधिकार प्राप्त है और जिससे यह आशा की जाती है कि (१) वह परिवहन की गाड़ियों के सचालन तथा उनके विकास सम्बन्धी योजनाओं को तैयार करे और अपनी योजनाओं में माल लादने वाली गाड़ियों का जो कि अन्तर्राज्यों में यह कार्य कर रही है विशेष ध्यान रक्खें, (२) इस सम्बन्ध में जो कुछ भी झगडे अथवा मतभेद उत्पन्न हो उन सब को निबटायें और उन पर निर्णय लें, (३) और दो अथवा दो से अधिक राज्यों में पड़ने वाले मार्गो पर मोटर गाड़ी चलाने, नये परमिट देने, पुरानों को फिर से चालू करने तथा रद्द करने के सम्बन्ध में राज्य विशेष के यातायात अधिकारी को अथवा क्षेत्र विशेष के यातायात अधिकारी को निर्देश दे।" इस आयोग से आशा की जाती है कि यह अन्तर राज्य यातायात की सुविधाओं का प्रभावशाली रूप से विकास करने में सफल होगा।

योजना के अन्तर्गत—जब कि प्रथम पंचवर्षीय योजना आरभ हुई भारत में ९७५४६ मील पक्की सड़कें और १५१००० मील कच्ची सड़कें थी। योजना के अन्तगत पहिले ११० करोड़ रुपया व्यय करने के लिये रक्खा गया था जो कि बाद में बढाकर १३५ करोड़ रुपया कर दिया गया जिसमें से प्रथम योजना काल

में लगभग १३४½ करोड़ रुपये वास्तव में खर्च कर दिये गये थे। इसके परिणाम स्वरूप २४००० मील नयी भूमि के समतल सड़कें, और ४४००० मील नीची सड़कें बनवाई गई और इस प्रकार सड़कों की लम्बाई १२१००० मील पक्की और १९५००० मील कच्ची अर्थात् कुल ३१६००० मील हो गई जब कि नागपुर योजना का ध्येय केवल १२३००० मील पक्की तथा २०८००० मील कच्ची अर्थात् कुल ३३१००० मील सड़कों का ही था।

इसके अतिरिक्त अनेकों सड़कों के बीच के व्यवधानों को मिलाने तथा पुलों के बनाने की भी व्यवस्था की गई थी। "पहली अप्रैल १९४७ को जब कि भारत सरकार ने राजपथ कही जाने वाली सड़कों के विकास तथा बनाये रखने का वित्तीय दायित्व अपने ऊपर लिया उस समय लम्बी लम्बी दूरी तक सड़कों के व्यवधान पड़े हुये थे तथा मुख्य-मुख्य स्थानों पर अनेकों सड़कों पर पुल नहीं थे। प्रथम योजना के आरम्भ तक ११० मील सड़कें दो सड़कों के बीच के व्यवधान को जोड़ने के लिये तथा तीन बड़े-बड़े पुल बनवाये गये और १००० मील सड़कों की मरम्मत करवाई गई। प्रथम योजना काल के आरम्भ में ही केन्द्रीय सरकार ने सड़कों के विकास तथा सुधार का कार्यक्रम आरम्भ किया जिसके अन्तर्गत १२५० मील बीच की गायब सड़कों तथा ७५ बड़े-बड़े पुलों का बनवाना तथा ६००० मील सड़कों की मरम्मत करवाना सम्मिलित था। इसमें से योजना काल में ६४० मील बीच की गायब सड़कें तथा ४० पुल तथा २५०० मील पुरानी सड़कों की मरम्मत पूरी हो जाने की आशा की गई थी। योजना के खत्म होते-होते ६३६ मील बीच की गायब सड़कें, ३० बड़े-बड़े पुल और ४००० मील पुरानी सड़कों की मरम्मत हो पाई थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जितनी बीच की गायब सड़कों के बनवाने का ध्येय बनाया गया था वह लगभग पूरा हो गया और वर्तमान राजपथों की मरम्मत का काम सोची हुई मात्रा से लगभग दुगना कर लिया गया। योजना में २७.८० करोड़ रुपये राजपथों पर व्यय के लिये नियत किये गये थे जिसमें से २७.६२ करोड़ रुपये व्यय कर दिये गये।

प्रथम योजना में सड़कों द्वारा यातायात पर १२⅓ करोड़ रुपये व्यय किये गये। राज्यों ने ३००० मोटर गाड़ियाँ और बढ़ाई जिससे कुल मोटर गाड़ियों की सख्या जो सरकार की ओर से यातायात की सेवा में लगी हुई थी ११००० हो गई। प्रथम योजना के अन्त तक मोटर द्वारा जनता की यातायात सेवा का २५% सरकारी विभाग द्वारा किया जाने लगा था। माल परिवहन व्यक्तिगत एजेन्सियों के ही अधिकार में रहा।

द्वितीय योजना में (सड़कों के विकास के लिये) २४६ करो रुपयों के

व्यय की व्यवस्था की गई है जिसमें से ८२ करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा
और १६४ करोड़ रुपये राज्यों द्वारा व्यय किया जायगा। यह रकम केन्द्रीय सड़क
कोष से प्राप्त होने वाले १५ करोड़ रुपयों के अतिरिक्त है। द्वितीय योजना के पूरे
होने पर यह आशा की जाती है कि पक्की सड़कें बढ़कर १४३,००० मील और
कच्ची सड़कें २३५,००० मील अर्थात् कुल योग ३७८,००० मील हो जायगा।
यह मात्रा नागपुर योजना से कहीं अधिक है।

द्वितीय योजना का कार्यक्रम पहिली योजना ही की तरह बड़े-बड़े पुलों का
निर्माण तथा बड़े-बड़े राजपथों का मिला देने वाली सड़कों के निर्माण का और
पुरानी सड़कों की मरम्मत का ही है। इस योजना के अन्तर्गत आरम्भ किये हुये
निर्माण कार्य पर कुल व्यय लगभग ८७·५ करोड़ रुपये का है। यह व्यय निम्न
प्रकार का है।

प्रथम योजना के अपूर्ण निर्माण कार्य पर जिसमें बनिहाल टनल सम्मिलित है—	३०·०	करोड़ रुपया
बड़े-बड़े राज पथों को मिलाने वाली	१०·५	,,
सड़कों पर (६०० मील)	२०·०	,,
बड़े-बड़े पुलों के निर्माण पर (६०)	५·०	,,
छोटे-छोटे पुलों के निर्माण पर	७·०	,,
पुरानी सड़कों की मरम्मत पर		
सड़कों के (१२ फीट से २२ फीट) चौड़ी कराने पर (३००० मील)	१५·०	०
कुल	८७·५	०

द्वितीय योजना काल में वास्तविक व्यय लगभग ५५ करोड़ रुपये का अनु-
मानित किया गया है। राष्ट्रीय राज्यपथों के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने कुछ
महत्वशाली सड़कों का निर्माण प्रथम योजना में करवाना आरम्भ कर दिया था।
यह कार्य इस योजना में प्रचलित रहेगा और लगभग ६ करोड़ रुपया इस पर
व्यय हो जायगा। कुल मिला कर केवल १५० मील नई सड़क बनाई जायेंगी
और लगभग ५०० मील सड़कों को उच्चस्तल कर दिया जायगा।

द्वितीय योजना में १३३ करोड़ रुपयों की राज्यों की सड़क यातायात सम्बन्धी
विकास कार्य-क्रमों के लिये व्यवस्था की गई है। १९५० के रोड ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन
एक्ट के अन्तर्गत राज्य सरकारों को कारपोरेशन स्थापित करने की सलाह दी गई
है और रेलवे योजना के अन्तर्गत १० करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई है कि

रेलवे इन कारपोरेशनों में सम्मिलित हों। इसके अतिरिक्त यातायात मन्त्रालय की योजना में देहली ट्रान्सपोर्ट सरविस के लिये एक ३ करोड़ रुपये का कार्य-क्रम भी स्वीकृत कर लिया गया है। इस प्रकार सरकारी सड़क यातायात पर कुल विनियोग द्वितीय योजना में १७ करोड़ रुपयों के लग भग होता है।"

१६५६-५७ में कुल सड़कों के कार्य क्रम पर व्यय ४२ ७१ करोड़ रुपया था और १६५७-५८ के लिये संशोधित अनुमान ४४ ३२ करोड रुपयों का है इस प्रकार प्रथम तीन वर्षों से कुल व्यय १२६'२६ करोड़ रुपया होता है। बचे हुये दो वर्षों के लिये ११६ ८६ करोड़ रुपया रह जायगा। अन्तिम दो वर्षों के लिये वजट में इस रक़म की व्यवस्था सम्भव हो सकेगी इसमें सदेह मालूम पड़ता है। इसके अतिरिक्त लोहे की कमी के कारण पुलों के निर्माण में बाधा पड़ने का भय भी है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि योजना के विकास कार्य-क्रम में कुछ कमी अवश्य ही आयेगी।

अध्याय ३६

जल यातायात

भारतीय यातायात अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत के पास १२,५०० जी० आर० टी० (ग्रास रजिस्टर्ड टनेज) के जलयान थे। प्रथम योजना के आरम्भ में भारत के पास ३,६०७०७ जी० आर० टी० के जलयान थे जिनमे से २,१७,२०२ जी० आर० टी० भारतीय तटों पर और १,७३,५०५ जी० आर० टी० के जलयान विदेश में व्यापार कार्य में व्यस्त थे। प्रथम योजना के अन्त में कुल टनेज ४,८०,००० जी० आर० टी० था जिसमें से २,४०,००० जी० आर० टी० तटीय व्यापार तथा समीपवर्ती देशों से व्यापार का था और २४०००० जी० आर० टी० दूर विदेशी व्यापार का। लायड के जलयान के रजिस्टर के अनुसार ३० जून, १६५७ को समस्त ससार का कुल टनेज १,१०२ करोड़ जी० आर० टी० था जबकि १६५५ के अन्त मे १,००६ करोड़ जी० आर० टी० ही था। इस प्रकार भारत का कुल टनेज ससार के टनेज के ½% से कुछ अधिक था जब कि भारत का विदेशी व्यापार ससार के कुल व्यापार का ३% से अधिक था। अन्तराष्ट्रीय समुद्री मार्गों के द्वारा भारतीय जलयान भारत के समुद्री व्यापार का केवल ५०% व्यापार कर पाते हैं। इसका यह अर्थ है कि भारतीय जल यातायात के विकास में अभी बहुत लम्बा मार्ग पूर्ण करना है।

भारत के लिए जिसका समुद्री तट ४,१६० मील (अण्डमन द्वीप सम्मिलित करके) तक विस्तृत हुआ है और जो बहुत बड़ी मात्रा मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कर सकता है वास्तव में जलयान का बहुत अधिक महत्व है। यदि हमारे पास अपने जलयान हों तो भारतीय उद्योग का यातायात व्यय कम हो जायगा और विदेशी बाजारों में उसकी प्रतियोगिता शक्ति मे वृद्धि हो जायगी। यदि सामान का भारतीय जलयानों के द्वारा यातायात किया जाय तो हम उतनी विदेशी विनिमय मुद्रा बचा सकते हैं जिसको अन्यथा इन जलयानों में व्यय करना पड़ता है। इसके साथ ही भारत को अपने समुद्रतटीय क्षेत्र की रक्षा करने के लिये और युद्ध के समय अपने व्यापार की सुरक्षा के लिए एक शक्तिशाली जल सेवा की आवश्यकता है। सकट के समय व्यापारी जलयान प्रतिरक्षा की दूसरी पंक्ति का कार्य देते हैं। यह सहायक सेना के रूप में ही सहायक नहीं होते बल्कि इनसे नौ-सेना को शिक्षा दी जा सकती है और युद्ध के समय आवश्यक सामान समुद्र पर पहुँचाने के लिए इनकी अत्यन्त आवश्यकता पड़ सकती है।

मुख्य विशेषताएँ—भारतीय जल यातायात के विकास की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं —

(१) भारत में अँग्रेजी शासन के समय भारतीय जलयानों को ब्रिटिश तथा विदेशी जलयानों की कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा और उसे विकास करने का अवसर ही नहीं दिया गया। १६२० के लगभग अनेक जलयान कम्पनियाँ बनी परन्तु प्रतियोगिता का सामना न कर सकने के फलस्वरूप नष्ट हो गई। इन कम्पनियों के नष्ट होने में विदेशी जलयान कम्पनियों की भाड़े की दर सम्बन्धी नीति का भी बहुत योगदान रहा है। इन विदेशी कम्पनियों ने भारतीय कम्पनियों से प्रतियोगिता के कारण भाड़े की दर घटा दी और जब यह कम्पनियाँ बन्द हो गई तब भी भाड़े की दर में पुनः वृद्धि कर ली। इसके साथ इन कम्पनियों ने यह व्यवस्था की कि यदि किसी व्यापारी ने एक निश्चित समय तक नियमित रूप से इनके जलयानों के द्वारा ही सामान भेजा और मँगाया तो उस अवधि में यह जितना भाड़ा देगा उसका एक अंश उसे वापिस कर दिया जायगा। इन विदेशी कम्पनियों की प्रतियोगिता का केवल सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी ही सामना कर सकी। विदेशी कम्पनियों ने इसे नष्ट करने की अनेक बार चेष्टा की परन्तु वह सफल नहीं हो सके। इससे सिंधिया कम्पनी को भारी क्षति उठानी पड़ी। सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी के दृढ़ रहने पर १६२४ में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार इसे ७५ हजार टन सामान प्रतिवर्ष ले जाने की अनुमति दी गई। भारतीय जलयान कम्पनियों के नष्ट हो जाने का एक कारण यह था कि विदेशी कम्पनियों की प्रतियोगिता शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और दूसरा कारण यह था कि भारतीय कम्पनियों के पास वित्त की उपयुक्त व्यवस्था नहीं थी और इनका कुल व्यय भी बहुत अधिक था। थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ यह प्रतियोगिता स्वतन्त्रता मिलने तक चलती रही और स्वतन्त्रता मिलने से भारतीय जल यातायात का भारत के तटीय व्यापार में महत्व बढ़ गया है और साथ ही विदेशी व्यापार में भी एक सीमा तक इसने अपना विशेष स्थान बना लिया है।

(२) ब्रिटिश शासनकाल में सरकार ने भारतीय जल यातायात को कुछ भी सहायता नहीं दी और स्वतन्त्र व्यापार नीति का बहाना लेकर भारतीय उद्योग को टाल दिया गया और अपने लिए स्वयं मार्ग बनाने को छोड़ दिया गया। इसका यह परिणाम हुआ कि इस अवधि में भारतीय जल यातायात ने विशेष प्रगति नहीं की। स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् भारत सरकार ने इस ओर ध्यान दिया है। भारत सरकार ने जलयान उद्योग को ऋण तथा अन्य आर्थिक

सहायता दी। सरकार ने जलयान निर्माताओं से जिस मूल्य पर जलयान क्रय किए भारतीय जलयान कम्पनी को उससे कम मूल्य पर बेचे और अन्तर को अपने कोष से दिया। लाइसेन्स की प्रथा लागू करके १९४८ में भारत के तटीय व्यापार पर नियन्त्रण स्थापित किया गया और १९५० मे तटीय व्यापार केवल भारतीय जलयानो के लिये सुरक्षित कर दिया गया। इसके फलस्वरूप भारतीय समुद्र तट पर १९४८ में जितने टना के जलयान व्यापार करते थे उसमें ५३ प्रतिशत की वृद्धि हो गई और १९५२-५३ तक व्यापार मे १०० प्रतिशत की वृद्धि हुई। एक जल यातायात बोर्ड स्थापित किया गया है जिसका कार्य जल यातायात के कार्य का सचालन करना है। सरकार की सहायता प्राप्त करके अब भारतीय कम्पनियाँ विश्व जल यातायात सम्मेलन की सदस्य हैं।

१९४७ में भारत सरकार ने प्रस्ताव रखा कि तीन जल यातायात कार्पो-रेशन बनाये जायँ, प्रत्येक के पास १० करोड़ रुपये की पूँजी हो और तीनों कार्पोरेशन तीन मार्गों से व्यापार इत्यादि करे। परन्तु १९५५ तक मार्च १९५० में १० करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी का केवल एक कार्पोरेशन, पूर्वी कार्पोरेशन लिमिटेड, स्थापित किया जा सका था। सरकार ने दो करोड़ रुपये की नियमित पूँजी का केवल ३/४ भाग दिया और शेष पूँजी मैनेजिंग एजेन्टों ने लगाई। जून १९५६ मे दूसरे कार्पोरेशन (पश्चिमी शिपिंग कार्पोरेशन) की स्थापना हुई। यह पूर्ण रूप से राज्य के अधिकार में है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ईस्टर्न शिपिंग कार्पोरेशन से आगामी पाँच वर्षों के अन्दर यह आशा की जाती थी कि ४०,००० जी० आर० टी० व्यापार और अधिक कर सकेगा। परन्तु वह केवल २१,६०० जी० आर० टी० व्यापार प्रथम तीन वर्षों मे बढ़ा पाया। सरकार ने जलयान उद्योग को और अधिक वित्तीय तथा अन्य प्रकार की सहायता दी है। इसलिये यह आशा करना सर्वथा युक्ति सगत होगा कि कुछ समय मे भारतीय जल यातायात उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच जायगा।

(३) प्रारम्भ मे देश-विदेश व्यापार मे भारतीय जलयानो ने भी भाग लिया। परन्तु उनमें से अधिकतर छोटे थे और अधिकतर सेलिंग वेसिल, टग्स, बार्जेज, कोसटर्स इत्यादि थे। अतीत में एक सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि देश मे जलयान उद्योग नहीं था जिससे जलयानों का व्यय अत्यधिक हो गया था। अब विशाखापट्टम् में जलयान कारखाना है। यह जून १९४१ में स्थापित किया गया था। यह आशा की जाती थी कि २,१५,००० जी० आर० टी० में से जो कि प्रथम योजना के प्रथम तीन वर्षों में प्राप्त कर लेना चाहिए था हिन्दुस्तान

शिपयार्ड १ लाख जी० आर० टी० की पूर्ति करेगा। परन्तु शिपयार्ड की उन्नति
बड़ी धीमी रही है और प्रथम तीन वर्षों में वह केवल ३५,८०४ जी० आर० टी० ही
की पूर्ति करने में समर्थ हो सका है। भारतीय जल यातायात कम्पनियों को
विशाखापट्टम् शिपिङ्ग यार्ड से अधिकाधिक संख्या में जलयान के पाने की आशा
की जा सकती है। इसमें सबसे कठिनाई जलयान के विभिन्न कल-पुर्जों की प्राप्ति
में कठिनाई है जिन्हें विदेशों से मँगाना पड़ता है। जैसे ही यह कठिनाई दूर हो
जायगी और शिपयार्ड की उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो जायगी, भारतीय जलयानों
के टनेज के विस्तार में वास्तविक सहायता पहुँच सकेगी।

(४) भारतीय जल यातायात के विकास में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि
हमारे देश में जलयानों को बन्दरगाह की उचित सुविधायें नहीं मिल पाती हैं।
भारत के पाँच बड़े बन्दरगाहों, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कच्छ और विशाखापट्टम
में पेट्रोल, जलयान में जलानेवाला कोयला इत्यादि को छोड़कर केवल दो करोड़
टन सामान प्रतिवर्ष उतारा लादा जा सकता है। १६४६-५० में पेट्रोल तथा
जलयान में जलने वाले कोयले को सम्मिलित करके इन बन्दरगाहों में दो करोड़
टन सामान लादा उतारा गया। प्रथम योजना के अन्तर्गत विकास के कारण
माल लादने उतारने की शक्ति बढ़कर दो करोड़ पचास लाख टन हो गई है।
बन्दरगाहों पर यथाशक्ति कार्य हो रहा है। जलयानों को बहुत देर तक प्रतीक्षा
करनी पड़ती है। माल डॉक में पड़ा रहता है इसके पूर्व कि लादा जा सके। यह
प्रस्ताव किया गया है कि बन्दरगाह की सुविधाओं का विस्तार किया जाय और
काण्डला और मंगलौर के दो नये बन्दरगाह बनाये जा रहे हैं। बन्दरगाहों पर
आवश्यक सामान, आकाशदीप तथा अन्य सुविधायें बढ़ाई जा रही हैं।

पुनर्निर्माण नीति उपसमिति—पुनर्निर्माण नीति उपसमिति (१६४७) ने
भारतीय जल यातायात की पूर्णतया जाँच की और निम्नलिखित सिफारिशें कीं —

(१) भारत को प्रति वर्ष १ करोड़ टन सामान लाने ले जाने के लिये
और ३० लाख यात्रियों को ले जाने के लिये छोटे जलयानों को छोड़कर २० लाख
टन के जलयानों की आवश्यकता होगी।

(२) हमारा उद्देश्य है कि १६५७ तक भारत के तटीय व्यापार का १००
प्रतिशत, भारत-बर्मा लंका तथा अन्य पड़ोसी देश से व्यापार का ७५ प्रतिशत,
दूर देशों से भारत के व्यापार का ५० प्रतिशत और धुरी राष्ट्रों द्वारा किये जाने
वाले व्यापार का ३० प्रतिशत सँभाला जाय।

(३) भारत सरकार की नीति का उद्देश्य भारतीय जल यातायात का
प्रसार होना चाहिए और दरों में कमी और वृद्धि होने से इसकी रक्षा की जानी

चाहिए। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए जल यातायात बोर्ड को पूरे अधिकार देने चाहिएँ।

पुनर्निर्माण नीति उपसमिति ने जो लक्ष्य निर्धारित किये थे भारतीय जल यातायात का स्तर वहाँ तक नहीं पहुँच पाया है। यह निजी उद्योग तथा भारत सरकार के लिए अत्यन्त खेद की बात है। वर्तमान मे भारतीय जल यातायात का टनेज केवल ५ लाख टन है जब कि समिति ने २० लाख टन का सुझाव दिया था। भारतीय जलयान कुल विदेशी व्यापार का केवल ५ प्रतिशत पूरा करते हैं जब कि समिति ने सुझाव दिया था कि भारतीय जलयानों को अपने कुल विदेशी व्यापार का ५० प्रतिशत स्वय करना चाहिये। केवल तटीय व्यापार के सम्बन्ध मे समिति की अभिलाषा पूर्ण हुई है।

भारतीय जल यातायात के प्रसार एवम् सगठन के सम्बन्ध मे सरकार को परामर्श देने के लिये जल यातायात के मालिको की परामर्शदात्री समिति की १९५२ के मध्य में एक बैठक हुई। समिति ने अनेक सुझाव दिये। समिति ने सुझाव दिया है कि भारत मे जलयानों की सख्या बढाई जानी चाहिये परन्तु पचवर्षीय योजना मे इस कार्य के लिए जितने धन की व्यवस्था की गई है वह अपर्याप्त है। सरकार को अधिक से अधिक २ प्रतिशत वार्षिक ब्याज पर भारतीय जलयान कम्पनियो को ऋण देना चाहिए और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे पूँजी सरलता से चुकाई जा सके। समिति ने यह भी सुझाव दिये कि (१) पुराने जलयानों के स्थान पर नये जलयानो को खरीदने के लिए जो लाभाश जमा किया गया है उस पर आय कर न लगाया जाय, (२) भारतीय जलयानों में जलने वाले तेल पर चुङ्गी न लगाई जाय और (३) जलयानो का सामान वेचने वाले स्टोरों पर बिक्री-कर न लगाया जाय।

यह भी सुझाव दिया गया है कि तटीय व्यापार करनेवाला जलयान वेड़ा सन्तुलित होना चाहिये। इसमें विभिन्न आकार प्रकार के जलयान होने चाहिये जो तटीय व्यापार की विशेष वस्तुओं जैसे नमक, कोयला और तेल लाने ले जाने के उपयुक्त हों। कुछ लोगो का विचार है कि नमक और कोयला ले जाने के लिए ६,००० से ८,००० डी० डब्लू० टी० के जलयान अधिक उपयुक्त होते हैं और खाद्यान्न की सामग्री इत्यादि का यातायात करने के लिए छोटे आकार के जलयानों का प्रयोग किया जा सकता है।

इस समिति ने बताया कि भारतीय बन्दरगाहों मे सामान लादने और उतारने की अच्छी व्यवस्था नहीं है। विशेषकर कोयला लादने के लिए बर्थों (जलयान खडे होने का स्थान) का अभाव है और कुछ टूटी-फूटी स्थिति मे हैं

और उससे कार्य अच्छी प्रकार नहीं लिया जा सकता है। समिति ने सुझाव दिया कि बन्दरगाहों में माल लादने और उतारने इत्यादि का कार्य तीव्र गति से करने के लिए मशीनें लगाने की और वर्तमान सामान को और बढ़ाने की आवश्यकता है।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—प्रथम पचवर्षीय योजना मे भारतीय जलयानों की सख्या बढ़ाने पर और बन्दरगाहों इत्यादि की सुविधाएँ बढ़ाने पर जोर दिया गया था। योजना में कहा गया था कि तटीय व्यापार में जो पुराने और घिसे-पिटे जलयान प्रयुक्त किये जा रहे हैं जलयान कम्पनियों को उन्हें बदलने में सहायता देने के लिए केन्द्रीय सरकार ने विशाखापटनम में जलयानों के निर्माण हेतु रुपया लगाया है। आशा की जाती है कि पचवर्षीय योजनाकाल में ही विशाखापट्टम के कारखाने मे कुल १ लाख जी० आर० टी० के जलयान प्राप्त किये जा सकेंगे। इनमें से ६० हजार जी० आर० टी० के जलयानों से पुराने घिस-पिटे जलयानों को बदला जायगा और शेष जलयान विशेष कर तटीय व्यापार में प्रयुक्त किये जायँगे। विशाखापटनम कारखाने मे जलयान कम्पनियों के हाथ जलयान उचित मूल्यों पर बेचे जायेंगे। यदि निर्माण व्यय मे और बिक्री मूल्य मे कुछ अन्तर रहेगा तो उसके लिए सरकार जलयान निर्माण उद्योग को आर्थिक सहायता देगी। इस प्रकार जलयान निमाण कार्य का प्रसार करने का विशाखापटनम कारखाने के विकास से गहरा सम्बन्ध है जिससे विशाखापटनम की उत्पादन शक्ति का पूर्ण उपयोग किया जा सके। योजना के अनुसार तटीय व्यापार को सुरक्षित बनाए रखने के लिए कम से कम ३ लाख जी० आर० टी० के जलयानों का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसमें यह व्यवस्था की गई थी कि पाँच वर्ष के अन्दर भारतीय जलयान कम्पनियों को ४ करोड़ रुपया ऋण दिया जायगा और जलयान कम्पनियाँ अपने साधनों से शेष २ करोड़ रुपया एकत्रित करेंगी। अनुमान था कि इस ६ करोड़ रुपये से भारतीय जलयान कम्पनियों के पास पर्याप्त जलयान हो जायँगे। पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विदेशी व्यापार के लिए १,००,००० डी० डब्लू० टी० के जलयानों की और आवश्यकता समझी गई थी जिसमें ईस्टर्न शिपिंग कार्पोरेशन के लिए आवश्यक ६० हजार डी० डब्लू० टी० के जलयानों को सम्मिलित नहीं किया गया था जिसके लिए सरकार ने अपने भाग के ४४ करोड़ रुपये की व्यवस्था कर दी थी।

प्रथम योजना में १९५५-५६ तक ६ लाख जी० आर० टी० तक जलयानों के बढ़ाने का विचार किया गया था। पर वास्तव में योजना काल के अन्त तक कुल ४,८०,००० जी० आर० टी० का कार्य किया जा सका। जो ध्येय ६,००,०००

जी० आर० टी० का सोचा गया था वह तो तभी पूरा हो सका जब कि योजना
काल मे ही मँगाये हुये जहाज प्राप्त हो सके ।

जल यातायात उद्योग के सम्बन्ध में जो प्रथम योजना के अन्तर्गत व्यवस्था
की गई है उसकी लोगो ने निम्न आलोचना की है (१) सन् १९५६ तक
८,००,००० जी० आर० टी० के जलयानों की वृद्धि पुनर्निर्माण नीति-उपसमिति की
उफारिश की तुलना में बहुत कम है । समिति ने सिफारिश की थी कि १९५- तक
१० लाख टन के जलयान हो जाने चाहिएँ परन्तु इस काय में अनेक कठिनाइयां
का सामना करना पड़ा है । वित्त के साथ ही आवश्यक सामान का अभाव है
और व्यवहारिक दृष्टि से पचवर्षीय योजना समिति के कार्यक्रम को अपना लक्ष्य
नहीं बना सकती थी। योजना में व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर लक्ष्य
निर्धारित किये हैं । (२) भारतीय जलयान समिति ने सुझाव दिया है कि सरकार
तटीय एवम् विदेशी व्यापार में जो रुपया व्यय करेगी वह जलयानों और अन्य
सामान के बढे हुए मूल्यो को देखते हुए बहुत कम है । पचवर्षीय योजना मे जो
लक्ष्य निर्धारित किया गया है उसको पूरा करने मे भी कही अधिक रुपया लगेगा,
(३) सरकार ऋण दी गई पूँजी पर जितना ब्याज वसूल रही है और ऋण के
साथ जो शर्तें लगी हैं उनसे ऋण लेना उद्योग के लिए असुविधाजनक हो गया
है । उद्योग को यह ऋण मँहगा पड़ता है। यह सुझाव दिया गया है कि सरकार
को २० वर्ष के लिए ऋण देना चाहिए और पहले ५ वर्षों मे उस पर कुछ ब्याज
नहीं लेना चाहिए । छठे वर्ष से ३ प्रतिशत वार्षिक ब्याज वसूल किया जा सकता
है और इसी समय से ऋण ली गई पूँजी भी किश्तों मे चुकानी आरम्भ हो जायगी,
(४) योजना की अन्य सुविधाओं की कुछ चर्चा नहीं की गई है, जैसे जलयान मे
जलने वाले तेल पर से चुङ्गी हटाना, जलयान सामान के स्टोर पर से बिक्री-कर
हटाना और आय-कर पर रियायत देना । जल यातायात उद्योग ने इन सुविधाओं
की माँग की है । इनके बिना भारतीय जल यातायात की तेजी मे प्रगति नही की
जा सकती है ।

द्वितीय योजना मे यह प्रस्ताव किया गया है कि ९० हजार जी० आर०
टी० के घिसे-पिटे जलयानों को निकाल कर ३० लाख जी० आर० टी० के जल-
यानों की वृद्धि की जाय । इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त तक कुल टनेज ९
लाख जी० आर० टी० हो जाना चाहिए । योजना का ध्येय है (१) तटीय व्यापार
की आवश्यकताओं को रेलवे द्वारा प्राप्त माल और यात्रियों की मात्रा को ध्यान मे
रखते हुए पूर्ण करना, (२) भारत के विदेशी व्यापार का अधिक से अधिक भाग

भारतीय जलयानों के लिए प्राप्त करना, (३) टैंकों का बेड़ा तैय्यार करने के लिए केन्द्र स्थापित करना।

नीचे लिखे निश्चित ध्येय को पूरा कर लेने के पश्चात् भारत का १२ से १५ प्रतिशत समुद्रपार देशों से व्यापार और आस-पास के देशों से व्यापार का ५०% भारतीय जलयानों के भाग में आ जायगा जब कि वर्तमान में इन व्यापारों का केवल ५ और ४० प्रतिशत उनके भाग में है।

जी० आर० टी०

	योजना के पहले	प्रथम योजना के अन्त में	द्वितीय योजना के अन्त में
तटीय और निकटस्थ	२१७२०२	३१२२०२	४१२२००
समुद्र पार	१७३५०५	२८३५०५	४०५५०५
ट्रैम्प			६००००
टैन्कर्स		५०००	२३०००
सेलवेज टग			१०००
कुल	३६०७०७	६००७०७	६०१७०७

प्रथम योजना में १६.५ करोड़ रुपया जल यातायात के लिये नियत किया गया था। बाद में यह धन बढ़ा कर २६.३ करोड़ रुपया कर दिया गया। योजना काल में वास्तविक व्यय १८.७१ करोड़ रुपये किया गया। द्वितीय योजना में जल यातायात के विकास के लिये ४५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। जल यातायात के विकास के लिये ४५ करोड़ रुपयों के व्यय की व्यवस्था यद्यपि की गई है फिर भी क्योंकि पिछली योजना का ८ करोड़ रुपया बचा हुआ है इसलिये केवल ३७ करोड़ रुपया ही इस योजना में विकास कार्यों के लिये प्राप्त होगा।

योजना आयोग के द्वितीय पचवर्षीय योजना के कार्यों तथा यानी सफलता के मत के अनुसार (मई १९५८) जितने व्यय की द्वितीय योजना में व्यवस्था की गई है उसका व्यय तो हो ही चुका है और उसके फलस्वरूप जो जल यातायात का कार्य होगा (टनेज मिलेगा) वह लगभग १८०००० जी० आर० टी० होगा जबकि योजना का ध्येय ३६०,००० जी० आर० टी० टनेज प्राप्त करने का था, जिसमें ६०००० जी० आर० टी० टनेज पुराने जहाजों के स्थान पर नये प्रयोग में ले आने के कारण प्राप्त होने वाला था। अपने ध्येय को पूरा कर सकने के लिये लगभग ४५ करोड़ रुपयों की और आवश्यकता होगी।

बन्दरगाह—प्रथम योजना की रूपरेखा जब उपस्थित की गई थी उसमें बन्दरगाहो के विकास अथवा सुधार का कोई स्थान नहीं था। इस अभाव की पूर्ति की महत्ता समझी गई और जब योजना की सशोधित रूपरेखा बनाई गई तो उसमें ३३ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई थी। बाद में यह मात्रा बढा कर ३६·१६ करोड़ कर दी गई थी। चूंकि बन्दरगाहों के सुधार का कार्यक्रम देर से आरम्भ हुआ, इसलिये योजना-काल में व्यय की मात्रा केवल २७·५७ करोड़ रुपयों की हो पाई। कुछ भी हो यह विकास कार्यक्रम जो आरम्भ किया गया बड़े महत्व का था। काण्डला के नये बन्दरगाह के बनवाने के अतिरिक्त जिस पर १२·१ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की जा चुकी थी, इस कार्यक्रम के अन्तर्गत मुख्य योजनाएँ बम्बई और कलकत्ता में थी जिनके लिये योजना में ११ तथा ८ करोड़ रुपयो की व्यवस्था क्रमशः की गई थी। योजना के अन्त तक काराडला पर ८·५ करोड़ रुपये बम्बई पर ११ करोड़, और कलकत्ता पर ३·५ करोड़ रुपये व्यय किये जा चुके थे।

"मुख्य मुख्य बन्दरगाहों की क्षमता प्रथम योजना काल में २०० करोड़ टन से बढ कर २५० करोड़ टन हो गई। १९५०-५१ में कुल माल जो इन मुख्य बन्दरगाहों द्वारा उतारा अथवा चढाया गया १८०·२ करोड़ टन था जिसमें ११२·५ करोड़ टन आयात का माल और ६७·७ करोड़ टन निर्यात का माल सम्मिलित था। १९५५-५६ में अनुमान है कि उतारे और चढाये जाने वाले कुल माल की मात्रा २२० करोड़ टन थी जिसमें १३० करोड़ टन आयात और ९० टन निर्यात का माल था।"

लगभग २२६ छोटे-छोटे बन्दरगाह २६०० मील के तट पर फैले हुये हैं जिनमें १५० बन्दरगाहों से माल आता-जाता है। १९५१-५२ मे इन बन्दरगाहों द्वारा ३७·६ करोड़ टन माल उठाया गया, और १९५४ तक यह मात्रा बढ कर ४१·५ करोड़ टन हो गई। प्रथम योजना में इन छोटे-छोटे बन्दरगाहों के विकास कार्यक्रम में मद्रास, सौराष्ट्र, बम्बई, उड़ीसा आदि मुख्य स्थान सम्मिलित किये गये थे। कुल व्यय जो किया गया था वह २ करोड़ रुपयों से कुछ ही कम था।

द्वितीय योजना का साधारण ध्येय है कि प्रथम योजना मे जो कार्य आरम्भ किया जा चुका है उसे पूर्ण कर दिया जाय और सर्व सुविधाओं का प्रबन्ध करके डॉकों को आधुनिक रूप प्रदान कर दिया जाय ताकि देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास के कारण जो आवश्यकतायें हों पूर्ण की जा सकें। ४० करोड़ रुपये की व्यवस्था बड़े-बडे बन्दरगाहों के सुधार कार्यक्रम के लिये की जा चुकी है। जो निर्माण कार्य आरम्भ किये जायेंगे, जिनमें प्रथम योजना के अधूरे कार्यों

को पूर्ण करने का कार्य भी सम्मिलित होगा, उनमें लगभग ७६ करोड़ रुपया व्यय होगा। योजना में व्यवस्थित ४० करोड़ रुपये के अतिरिक्त कुछ धन बन्दरगाहों के अपने निजी कोषों से भी प्राप्त होगा। योजना में निर्धारित धन सरकार की ओर से काण्डला में लगाया जायगा और पोर्ट ट्रस्ट की सहायता के लिये दिया जायगा। वर्तमान रियायती ऋण की पोर्ट ट्रस्ट के लिये सुविधा दूसरी योजना काल में भी रहेगी। द्वितीय पचवर्षीय योजना के बड़े-बड़े बन्दरगाहों के सुधार के कार्यक्रम में कलकत्ते मे १६.६ करोड़ रुपया व्यय किये जाने वाली, बम्बई में २६·३ करोड़ रुपया व्यय किये जाने वाली, कोचीन में ४ ० करोड़ रुपया व्यय किये जाने वाली और काण्डला में १४·० करोड़ रुपया व्यय किये जाने वाली, योजनाएँ हैं।

भारत में लगभग १५० छोटे बन्दरगाह हैं जिनमें से १८ विशेष महत्व के हैं। उनका सुधार अत्यन्त आवश्यक है। प्रथम योजना में छोटे छोटे बन्दरगाहों के सुधार की योजनाएँ सम्मिलित की गई थीं जिनका कुल व्यय २ ४१ करोड़ रुपया नियत था, इसमें से १ करोड़ केन्द्रीय कोप से प्राप्त होना था और शेष बन्दरगाहों के कर्मचारियों को अपनी ओर से एकत्रित करना था। द्वितीय योजना में छोटे-छोटे बन्दरगाहों के सुधार के लिए ५ करोड़ रुपया नियत किया गया है।

अध्याय ३७

हवाई यातायात

वर्तमान युग में देश के औद्योगिक, आर्थिक और अन्य कार्यों का मूलाधार 'गति' है और यातायात के मूलाधार हैं यात्रियों एवम् सामान का तीव्र गति से यातायात कर सकने वाले साधन। भारत जैसे विशाल देश में हवाई यातायात का विशेष महत्व है। विमानों द्वारा यात्रा करने से समय की बहुत बचत होती है, अनेक असुविधाओं से बचा जा सकता है, व्यापारी, सरकारी कर्मचारी तथा अन्य लोग बड़ी कुशलता से कार्य कर सकते हैं, अपने कारखानों से सम्पर्क रख सकते हैं, दूर-दूर स्थित कार्यालयों से सम्बन्ध बना रह सकता है और नियन्त्रण के साथ ही साथ उनका अच्छी प्रकार निरीक्षण किया जा सकता है। सकटकाल में, बाढ अथवा भूकम्प के समय हवाई यातायात का महत्व और भी अधिक हो जाता है। इसके अतिरिक्त शातिकाल में नागरिक उड्डयन के कर्मचारी जो अनुभव प्राप्त करते हैं उसका युद्ध के समय सदुपयोग किया जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय और देश विभाजन के पश्चात् भारत की हवाई कम्पनियों ने यात्रियों तथा सामान का यातायात करने में, निरीक्षण करने में और सरकार के निर्देश पर शरणार्थियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में प्रशसनीय कार्य किया। हवाई यातायात का यथासभव विकास करने की अत्यन्त आवश्यकता है, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते हैं।

विकास—यह खेद का विषय है कि भारत में हवाई यातायात अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था मे है। यद्यपि भारत में १९११ से ही विमानों का उपयोग आरम्भ हो गया था और प्रथम विश्वयुद्ध के समय इस दिशा में कुछ प्रगति भी की गई थी परन्तु भारतीय हवाई यातायात में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय और उसके पश्चात् ही विशेष प्रगति की जा सकी। भारत के हवाई यातायात के विकास में कुछ उल्लेखनीय बातें हुई हैं : (१) १९२७ में नागरिक उड्डयन विभाग स्थापित किया गया और १९२८ में दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई और करॉची मे 'फ्लाइग क्लब' खोले गये। विमान-चालको और टेकनीशियनों के शिक्षण की व्यवस्था की गई और इम्पीरियल एयरवेज सर्विस का १९२९ में दिल्ली तक प्रसार करने का प्रबन्ध किया गया। भारत में हवाई यातायात के विकास का यही प्रारभकाल था, (२) १९३२ में टाटा एयरवेज लिमिटेड ने इलाहाबाद,

कलकत्ता और कोलम्बो के मध्य हवाई यातायात आरम्भ किया और तत्पश्चात् करांची और मद्रास तक इसका प्रसार कर दिया। देश के कुछ मार्गों पर इण्डियन नेशनल एयरवेज ने भी यातायात कार्य शुरू कर दिया, (३) १९३८ में एम्पायर एयरमेल योजना लागू की गई जो युद्ध प्रारम्भ होने पर स्थगित कर दी गई परन्तु तत्पश्चात् बहुत सीमित पैमाने पर इसे फिर लागू किया गया; (४) १९४६ में कुछ सुसगठित विश्वासनीय निजी व्यवसायिक सस्थाओं को आवश्यक सरकारी सहायता देकर देश के अन्दर तथा विदेश से हवाई यातायात की सुविधा का विकास एवम् प्रसार करने को प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार ने एक निश्चित उड्डयन नीति निर्धारित की। १९४६ में हवाई यातायात लाइसेंसिंग बोर्ड स्थापित किया गया। यह निश्चित किया गया कि लाइसेन्स देते समय बोर्ड इन बातों पर पर विचार करेगा (अ) कम्पनी की वित्त स्थिति, (ब) कार्यक्षमता का उचित स्तर, (स) यातायात की माँग और (द) जनता की आवश्यकता के अनुकूल कम्पनी की हवाई यातायात का विकास कर सकने की क्षमता। बार्ड को लाइसेन्स-प्राप्त कम्पनियों के किराये तथा भाडे की अधिकतम तथा न्यूनतम दर निर्धारित करने का अधिकार दिया गया। बोर्ड ने अपने कार्यकाल में अनेक कम्पनियों को लाइसेन्स दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि हवाई यातायात में बहुत सी कम्पनियों चालू हो जाने से जटिलता आ गई और इनमें परस्पर हानिकारक प्रतियोगिता चलने लगी। इससे कम्पनियो को क्षति भी उठानी पड़ी, (५) भारत सरकार ने टाटा के सहयोग से विदेशी हवाई यातायात के लिए एयर इण्डिया इन्टरनेशनल की स्थापना की। टाटा के साथ यह समझौता किया गया कि इस नई कम्पनी में ४९ प्रतिशत शेयर सरकार लेगी जो ५१ प्रतिशत तक बढ़ाये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त ५ वर्ष तक यदि घाटा हुआ तो इस घाटे को भी सरकार पूर्ण करेगी।

हवाई यातायात जाँच समिति (१९५२)—हवाई यातायात जाँच समिति ने, जो राजाध्यक्ष कमेटी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, भारतीय हवाई कम्पनियों की स्थिति और उनकी समस्याओं की पूर्ण जाँच की और इस परिणाम पर पहुँची कि हवाई यातायात लाइसेन्सिग बोर्ड ने अपना कार्य सन्तोष-जनक रीति से नहीं किया और बिना किसी प्रकार का भेद किये कम्पनियों को लाइसेन्स दिये, जिसका परिणाम यह हुआ कि दो वर्ष के अन्दर ११ कम्पनियों को लाइन्सेस मिल गये जब कि सपूर्ण कार्य केवल चार कम्पनियाँ अच्छी प्रकार चला सकती थीं। इतनी अधिक कम्पनियाँ होने से उन्हें हानि उठानी पड़ी, इसके साथ ही हवाई कम्पनियों ने सतर्कता से कार्य नहीं किया और कम्पनी के सङ्गठन इत्यादि में बहुत अधिक

रुपया व्यय किया जब कि यातायात की स्थिति को देखते हुए यह उचित नहीं था। कम्पनियों का उत्पादन व्यय भी पेट्रोल के मूल्य १ रुपया १४ आना प्रति गैलन (१६४६) से बढ़कर १६४६ में २ रुपया ६ आना प्रति गैलन हो जाने से, बढ गया।

समिति हवाई कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में नहीं थी। समिति का मत था कि हवाई यातायात के क्षेत्र में समय के अनुकूल परिवर्तनशील नीति की और साहस-पूर्वक नयी योजना कार्यान्वित करने की आवश्यकता है परन्तु यदि हवाई कम्पनियों को सरकार अपने अधिकार में ले लेगी तो इसकी सभावना कम हो जायगी। इस कारण समिति ने सिफारिश की कि वर्तमान कम्पनियों का चार कम्पनियो में एकीकरण किया जाय और बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा हैदराबाद में उनके अड्डे स्थापित हों। इससे हानिकारक प्रतियोगिता कम हो जायगी और कम्पनियों में कार्य का वितरण भी वैज्ञानिक तथा क्षेत्रीय आधार पर किया जा सकेगा। समिति ने सुझाव दिया कि उड़ान के घण्टो में कमी करने के लिए वर्तमान कम्पनियों की मार्गों को निर्धारित कर दिया जाय, विमानों की सख्या घटा दी जाय, अतिरिक्त कर्मचारियो की छटनी की जाय, और हवाई यातायात के सचालन-व्यय, उचित लाभाश और विमानों का प्रयोग करनेवाले यात्रियों की व्यय शक्ति पर विचार करके किराये तथा भाडे की दर मे वृद्धि की जाय। समिति ने सिफारशि की कि स्टैन्डर्ड-व्यय के आधार पर हवाई कम्पनियों को सरकार आर्थिक सहायता दे।

राष्ट्रीयकरण—हवाई कपनियाँ स्वेच्छा से एकीकरण के लिए प्रस्तुत नहीं हुई जैसी कि हवाई यातायात जाँच समिति को आशा थी। हवाई यातायात में अव्यवस्था के कारण कम्पनियों को भारी क्षति उठानी पड़ी और उनकी स्थिति डाँवाडोल होने लगी। यद्यपि जाँच समिति ने राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध अपनी राय प्रकट की थी परन्तु हवाई कम्पनियों की बिगड़ती दशा को देखते हुए सरकार ने राष्ट्रीय करण करने का निश्चय किया। यह तर्क किया गया कि (१) राष्ट्रीयकरण हो जाने से उड़ान में जो समय व्यर्थ नष्ट होता है वह कम हो जायगा, एक ही कार्य अनेक बार नहीं करना पडेगा और हानि भी कम हो जायगी, (२) राष्ट्रीयकरण से सयुक्त प्रबन्ध होने से हवाई यातायात की कार्यक्षमता बढ़ेगी और (३) नागरिक उड्डयन का अच्छा सङ्गठन किया जा सकेगा जिससे युद्ध जैसे सकट काल में विमान चालकों, टेकनीशियनों इत्यादि के अभाव का सामना नहीं करना पडेगा।

हवाई कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के लिये ससद ने १६५३ का हवाई यातायात कार्पोरेशन कानून पास किया है जिसके अन्तर्गत १ अगस्त १६५३ को दो कार्पोरेशन स्थापित किये गये जिनमें से एक देश के अन्दर के हवाई यातायात

और दूसरा विदेशी यातायात सर्विसों का प्रबन्ध करेगा। मुआवजे के सम्बन्ध में बहुत विवाद चला। यह कहा गया कि मुआवजा मूल मूल्य में से टूट-फूट का व्यय घटाकर नहीं वरन् विमानों, विमान के अतिरिक्त कल-पुर्जों इत्यादि के वर्तमान बाजार-भाव के आधार पर दिया जाय। अनुमान था कि मुआवजे के वर्तमान आधार पर डेकोटा विमान लगभग ५०,००० रुपये मे लिया जा सकता है जब कि उसका बाजार-भाव तीन लाख रुपया है, और स्काई मास्टर विमान ४ से ६ लाख रुपये मे लिया जा सकता है जबकि बाजार में उसकी वर्तमान कीमत ३० लाख रुपया है। कानून में 'गुडविल' के लिए, कपनियों द्वारा कर्मचारियों की शिक्षा में और नवीन मार्ग खोलने इत्यादि में व्यय किए गए धन का उचित मुआवजा देने की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। परन्तु यदि इन सब के लिए मुआवजा दिया जाय तो व्यय बहुत बढ जायगा और राष्ट्रीयकरण से हवाई यातायात मे सुधार करने का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकेगा। साथ ही राष्ट्रीयकरण से उस घाटे की पूर्ति नहीं की जा सकेगी जिससे वर्तमान कपनियाँ पीड़ित हैं।

मुआवजे की समस्या १९५५ मे ६ ०१ करोड़ रुपया देकर सदा के लिये निश्चित कर दी गई। जहाँ तक राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप बेकारी का प्रश्न था, यह निश्चित कर लिया गया कि वे सब कर्मचारी जो ३० जून १९५२ के पूर्व कम्पनियों द्वारा नियुक्त किये गये थे उनकी बदली कारपोरेशन में कर दी गई और इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया जा रहा है कि कर्मचारियों को पुनर्व्यवस्था और विस्तार के कार्य-क्रम में खपा लिया जाय।

वर्तमान स्थिति—१९५३ के आरम्भ मे भारत में ९ हवाई कपनियाँ थीं जिनके पास २१½ करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी और टूट-फूट के कोष मे ३ करोड़ रुपये स कुछ कम थे। इन कम्पनियों के विमान कुल २८,००० मील के क्षेत्र में चलते थे। जून १९५२ के अन्त तक भारत में ६७७ रजिस्टर्ड विमान थे, जिनमें २०३ विमानो को योग्यता के प्रमाण-पत्र दिये जा चुके थे। हवाई अड्डों पर कार्य करने वाले लाइसेन्स-प्राप्त विमान चालकों की संख्या ५५७ थी तथा ए लाइसेन्स प्राप्त चालकों की सख्या ५९२, ए–१ के लाइसेंस-प्राप्त विमान चालको की सख्या १९, और बी लाइसेन्स प्राप्त विमान चालको की सख्या ४२९ थी। इसमे पहले वर्ष की तुलना में इञ्जीनियरों तथा 'ए' लाइसेन्स-प्राप्त विमान चालकों की सख्या में वृद्धि हुई परन्तु ए—१ चालकों और बी. लाइसेन्स प्राप्त चालको की सख्या घटी।

१९५२ और ५३ में हवाई यात्रा की स्थिति में अवनति होती रही और यात्रियोंकी सख्या और यातायात के माल की मात्रा में कमी आई जिसके कारण १९५३

में यात्रियों की सख्या घटकर ४०४ लाख और ढुलाई के माल की मात्रा घट कर ८४'८ लाख पौंड हो गई जबकि यह सख्या १९५२ में क्रमशः ४'३ लाख एव ८६'०४ लाख पौंड थी। इसका कारण कुछ तो जनता के पास धन की कमी और कुछ भारतीय हवाई सर्विस की दुर्व्यवस्था थी। यद्यपि डाक की मात्रा १९५२ में बढकर ८४ लाख पौंड और १९५३ में ८८ लाख पौंड हो गई फिर भी यात्रियो और यातायात के माल की कमी का घाटा इससे पूर्ण न हो सका।

भारत में हवाई कम्पनियों के कार्य के असतोषजनक होने के अनेक कारण हैं: (१) हवाई कम्पनियों के कार्य-सचालन का व्यय बहुत अधिक है। इसमें विमानों में प्रयुक्त होनेवाले पेट्रोल और विमानों की देख-रेख इत्यादि का व्यय सम्मिलित है। कुल सचालन व्यय का ५० प्रतिशत पेट्रोल, विमान के कल-पुर्जों और स्टोर में व्यय होता है और ४० प्रतिशत पारिश्रमिक तथा वेतन में। श्रम न्यायालय के निर्णय के अनुसार पारिश्रमिक और वेतन अधिक निर्धारित किये गये हैं और पेट्रोल, स्टोर इत्यादि के व्यय में वृद्धि हवाई कम्पनियों की शक्ति के बाहर है। सचालन व्यय अधिक होने का एक कारण तो सरकार की नीति का दोष है और कुछ दोष उन परिस्थितियो का है जिन पर हवाई कपनियों का कोई नियत्रण नहीं और इसके लिए कम्पनियों को दोषी भी नहीं ठहराया जा सकता है, (२) हवाई कम्पनियों की सख्या यातायात को देखते हुए आवश्यकता से अधिक है, इस कारण किसी भी कम्पनी को पर्याप्त कार्य नहीं प्राप्त होता। इस दोष के लिए हवाई यातायात लाइसेन्सिग बोर्ड उत्तरदायी है। बोर्ड ने अनेक कम्पनियों को उद्योग चालू करने की अनुमति दी और आवश्यकता का ध्यान रखे बिना विमानो की सख्या बढाने दी, (३) कम्पनियों की कार्यक्षमता को देखते हुए कार्य पर्याप्त नहीं है परन्तु यह व्यवसाय ऐसा है जिसमे कुछ विमान चालको, इञ्जीनियरों और टेकनीशियनों को नियुक्त करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप कम्पनियों को आवश्यकता से अधिक कर्मचारियों का भार वहन करना पड़ता है, (४) किराये और भाडे की जो न्यूनतम और अधिकतम दरें सरकार ने निश्चित कर दी हैं वह पर्याप्त नहीं हैं। प्रति यात्री से प्रत्येक मील के लिए अधिक से अधिक ४ आना किराया वसूल किया जा सकता है परन्तु रात मे चलनेवाली डाक सर्विस के लिए किराये की दर २½ आना प्रति मील है। यह किराया भारतीय वायुयान कम्पनी के व्यय से बहुत कम है। यदि एक विमान पूर्ण वर्ष में १५०० घण्टे चलाया जाय तो प्रति घण्टे का स्टेन्डर्ड व्यय ५८६ रुपया होता है। इसलिए प्रत्येक सीट का प्रति मील का किराया विमान की ७ प्रतिशत जगह भरने

तालिका नं० १

अनुसूचित भारतीय हवाई सेवाओं के आँकड़े

वर्ष	यात्रा मीलों में (दस-लाख में)	यात्रियों की संख्या	यातायात माल की मात्रा (दस लाख पौं० में)	डाक की मात्रा (दस लाख पौंड में)
१९४६	४'५२	१०५२५१	·८८	१'०३
१९४७	९'३६	२५४८६०	५'५	१'४०
१९४८	१२'६५	३४००८६	११'९७	१'५८
१९४९	१५'१०	३५७४१५	२२'५०	५'०३
१९५०	१८'९०	४५२८६६	८०'०१	८'३६
१९५१	१९'५०	४४९८९२	८७'९६	७'१८
१९५२	१९'५६	४२४४८०	८९'०४	८'१८
१९५३	१९'२०	४०३९९२	८४'८२	८'८३
१९५४	१९'८०	४३१४९५	८९'४१	१०'६७
१९५५	२१'२७	४९९०००	९८'२०	११'४८
१९५६	२३'४८	५५९०००	९९'२३	१२'६९
१९५७	२३'३४	५९४०००	८५'०९	१२'९४

के आधार पर ४२ आना होना चाहिए। चूँकि किराया कम है इसलिए हवाई कम्पनियों को हानि होना स्वाभाविक ही है।

राष्ट्रीयकरण के पश्चात् हवाई सेवाओं की स्थिति में बहुत सुधार हुआ है। उड़ने का विस्तार १९५४ को १९८ करोड़ मी० से बढ़कर १९५७ में २३'३४ करोड़ मील हो गया। मेल तथा यात्रियों की संख्या भी बढ़ी है। मेल की मात्रा १९५४ में १०'६७ करोड़ पौंड थी जो कि १९५७ में बढ़ कर १२'९४ करोड़ पौंड हो गई और यात्रियों की संख्या जो कि १९५४ में ४३१४९५ थी बढ़ कर १९५७ में

५६४००० हो गई। लादने वाले माल की मात्रा १९५६ में ९६२ ३ करोड़ पौंड थी जो कि १९५७ में थोड़ा घट गई और ८५०९ करोड़ पौंड हो गई। इस उन्नति का अंशतः कारण आपसी विनाशकारी प्रतिद्वन्द्विता का समाप्त हो जाना तथा कुशलता संगठन रहा है जो कि कारपोरेशन की व्यवस्था के कारण सम्भव हो सका है, और अंशतः औद्योगिक और आर्थिक विकाश रहा है जिसके कारण हवाई सेवाओं की अधिक माँग की गई हैं।

दोनों एयर कारपोरेशनो ने बहुत ही सन्तोषजनक उन्नति की है। उन्होंने कार्य-क्षेत्र बढ़ाया है और जनता को बहुत सी सुविधायें प्रदान की हैं। "ये कारपोरेशन अपनी वायुयान सम्बन्धी कार्यो के एकीकरण तथा उनके कुशल संगठन मे व्यस्त रहे हैं। इण्डियन एअर लाइन्स अपने ९३ हवाई जहाजो, ६७ डकोटा, १२ वाइकिंग, ६ स्काई मास्टर और ८ हेरौन्स के द्वारा देश के प्रमुख केन्द्रो को सम्बन्धित करते हैं और उसके हवाई मार्गो का विस्तार १९,९८५ मील है। दि एयर इण्डिया इन्टरनेशनल अपने वायुयानों द्वारा जिसमें ५ सुपर कान्सटेलेशन्स, ३ कान्सटेलेशन्स और १ डकोटा है १५ देशों तक अपने कार्यों को प्रसारित किये हुये है। उसके हवाई मार्ग का विस्तार २३,४८३ मील है।"

इण्डियन एअर लाइन्स कारपोरेशन का कुल कार्य-क्षेत्र तीन भागो मे विभाजित कर दिया गया है। प्रत्येक भाग एक मैनेजर के अधिकार मे है और बम्बई, कलकत्ता और देहली के किसी न किसी अड्डे से नियन्त्रित होगा। आई० ए० सी० को निरन्तर घाटा हो रहा है। १९५४-५५ में इस घाटे की रकम ९० १५ लाख रुपया, १९५५-५६ में ११९'४० लाख रु० और १९५६-५७ में १०८ ७९ रुपया थी। परन्तु इसके विपरीत एयर इन्डिया इन्टरनेशनल को निरन्तर लाभ होता रहा है। आई० ए० सी० के घाटे का कारण अंशतः कर्मचारियो को अत्यधिक सख्या का होना है तथा अंशतः सेवा की अत्यधिक लागत और वे कठिनाइयाँ है, जो इसे उन प्राइवेट कम्पनियो से मिली थी जिन्हे इसने ले लिया था।

हवाई भाड़ा—अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये तथा हानि बचाने के लिये ए० आई० सी० ने अपने भाडे की दर में वृद्धि की घोषणा १५ जून, १९५८ से एअर ट्रान्सपोर्ट काउन्सिल की सलाह के अनुसार की। किसी-किसी मार्ग के भाडे में वृद्धि १०% हुई है और अब बम्बई से कलकत्ते का किराया बजाय २२० रु० के २४२ रु० हो गया है। इस भाडे की वृद्धि से ए० आई० सी० को ३० लाख रुपये वार्षिक अतिरिक्त आय होगी। इससे हवाई सेवा पर लगाये

टेक्स के कारण तथा पेट्रोल पर लगाये टेक्स तथा अन्य टेक्सों के कारण हवाई सेवा की लागत में वृद्धि का प्रभाव घटाया जा सकेगा—

ए० आई० सी० के लिये एअर ट्रान्सपोर्ट काउन्सिल ने हवाई भाड़े में वृद्धि की सिपारिश की और निम्न दरों का सुझाव दिया .

मील	प्रति मील प्रति यात्री भाड़ा आना पाई में
१ से ३० तक	०—६—६
३१ से १०० तक	०—५—०
१०१ से २०० तक	०—४—६
२०१ से ५०० तक	०—४—६
५०१ से ६०० तक	०—४—३
६०० से ऊपर	०—४—०

काउन्सिल की सिफारिश का आधार—"आर्थिक दृष्टिकोण से अधिकतम सख्या में यात्रियों को अधिक काम में आने वाले मार्गों की सेवा का प्रयोग करने का प्रोत्साहन देना था ताकि कम प्रयोग मे लाये जाने वाले मार्गों से होने वाले घाटे के कारण जो सेवा की लागत और आय मे अन्तर होता था वह न रहे और हवाई यात्रा के लाभों के कारण लोगों के मन में हवाई यात्रा करने की इच्छा स्थायी रूप से उत्पन्न हो जाय।" अधिक अच्छा होता यदि सरकार टेक्सों की मात्रा कम करके उनकी सहायता करती और कारपोरेशन अपना खर्च कम करने का प्रयत्न करते। हवाई यात्रा के भाड़े के बढ जाने से उसकी सर्वप्रियता के घट जाने का भय है। एयर ट्रान्सपोर्ट काउन्सिल की अल्पसख्यक रिपोर्ट ने भी यह सकेत किया है कि, "भारत मे हवाई यात्रा की ऊँची दरों के कारण हवाई यात्रा के प्रति आकर्षण के नष्ट होने का भय है और इस बात की आशका है कि लोग बहुत बड़ी मात्रा में हवाई जहाजों द्वारा यात्रा के स्थान पर रेल द्वारा यात्रा करना अधिक पसन्द करने लगेंगे।"

योजना के अन्तर्गत—प्रथम योजना के अन्तर्गत वायुयान कारपोरेशन के निमित्त ६.५ करोड़ रुपयों का व्यय नियत किया गया था। पर वास्तव में प्रथम योजना में १५.४ करोड़ रुपया व्यय किया गया था जिसमें ६ करोड़ रुपयों की रकम एयर क्राफ्ट खरीदने के लिये सम्मिलित थी। कुछ धन की मात्रा भूमि पर यातायात के साधन खरीदने, वर्तमान दफ्तरों के सुधार तथा नये दफ्तरों के खोलने पर भी व्यय की गई थी।

द्वितीय योजना में ३०.५ करोड़ रुपये व्यय किये जाने की व्यवस्था की गई है जिसमें से १६ करोड़ रुपया तो इन्डियन एअर लाइन्स कारपोरेशन पर और १४.५ करोड़ एयर इन्डिया इन्टरनेशनल पर व्यय किया जायगा। व्यय के मुख्य शीर्षक निम्न हैं :—

	करोड़ रुपये में
मुआवजे का चुकाना	५.१४
एअर क्राफ्टों का क्रय	१५.३४
इन्डियन एअर लाइन्स के कार्य में हानि	७.००
इन्डियन एअर लाइन्स के दफ्तर और कर्मचारियों के आवास	०.५०
एअर इन्डिया इन्टरनेशनल के कारखाने का विस्तार	१.६५
इन्डियन एअर लाइन्स के आवश्यक सामान	०.५०
एअर इन्डिया इन्टरनेशनल के ऋणपत्रों का चुकाना	०.०६
कुल	३०.५३

इन्डियन एअर लाइन्स के बेड़े को आधुनिक बनाने के निमित्त व्यय का प्रबन्ध किया जा रहा है। कारपोरेशन ने ५ वाई काउन्टों के क्रय करने के लिए प्रथम योजना में ही आर्डर दे रक्खा था और आशा की जाती है कि १६५७ के मध्य तक वे आ जायेंगे और अन्य जहाजों के क्रय करने के लिये आर्डर दिये जाने के सम्बन्ध में छानबीन की जा रही है। इन्डिया इन्टरनेशनल के लिए यह व्यवस्था की गई है कि कुछ टर्बो-प्राप या जेट एअर क्राफ्ट बढ़ी हुई मांग को पूर्ण करने के लिये तथा अतिरिक्त सेवा के लिये क्रय किए जायें। हवाई सेवाओं के विस्तार के कार्यक्रम को निश्चित करते समय अनेकों बातों का ध्यान में रखना आवश्यक होगा जैसे कि क्रय किये जाने वाले एअरक्राफ्टों के प्रकार, उनको चलाने का व्यय, किराये-भाड़े की दर, संगठन की कुशलता, हानि रोकने की सम्भावना, सेवाओं की सुरक्षा, और देश के सभी भागों को कुशल हवाई सेवा द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित कर देने की आवश्यकता इत्यादि।

अध्याय ३८

यातायात का परस्पर सम्बन्ध और नियोजन

भारतीय यातायात व्यवस्था में सुसम्बन्ध स्थापित करने और उसका नियोजन करने की दृष्टि से यातायात की सभी प्रकार की सुविधाओं का प्रसार होना चाहिए, यातायात के विभिन्न साधनों मे होने वाली अनुचित प्रतियोगिता को रोकना चाहिए और उपभोक्ता के लिए यातायात के व्यय को कम किया जाना चाहिए।

भारत की सबसे बड़ी समस्या यह है कि देश की आवश्यकताओं को देखते हुए यातायात के वर्तमान साधन पूर्णतया अपर्याप्त हैं। यदि प्रति व्यक्ति को प्राप्त यातायात की सुविधा की भारत के बराबर क्षेत्रफल और जनसंख्या वाले अन्य देशों से तुलना की जाय तो ज्ञान होगा की भारतीयों को अन्य देशों के नागरिकों की अपेक्षा यातायात की बहुत कम सुविधा प्राप्त है। यदि रेलवे और हवाई मार्ग की लम्बाई दूनी कर दी जाय और जलयानों की माल ढोने की शक्ति को चार गुना बढ़ा दिया जाय तब भी इसे बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता है, हाँ इससे देश की आवश्यकता अवश्य पूर्ण हो सकती है।

किसी भी देश के यातायात की सुविधा में वृद्धि का उसके औद्योगिक और आर्थिक विकास से निकट सम्बन्ध होता है। देश के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसमें यातायात की सुविधा पर्याप्त हो, सस्ती हो और यातायात की गति तीव्र हो। उद्योगों के लिए यातायात व्यय उत्पादन का महत्वपूर्ण अंग है इसलिए उद्योगों का व्यय घटाने के लिए यातायात का व्यय घटाने की अत्यन्त आवश्यकता है। यातायात व्यय कम होने से उद्योगों की प्रतियोगिता शक्ति बढ़ेगी और माल का उपभोग भी बढ़ेगा। किसी भी देश की प्रगति में उसके यातायात की व्यवस्था, रेलवे, सड़कों और हवाई जहाजों तथा जलयान कम्पनियों की किराया एवं भाड़ा नीति और उसमें विभिन्न प्रकार के सामानों के यातायात की सुविधा का विशेष योग होता है। यदि यातायात नीति दोषपूर्ण है तो उद्योगों का स्थानीकरण भी दोषपूर्ण होगा। यातायात पर केवल उद्योगों का विकास निर्भर नहीं करता है किन्तु औद्योगिक विकास के प्रकार पर भी यातायात का प्रकार और उसका विकास निर्भर करता है।

पञ्चवर्षीय योजना में बताया गया है कि आगामी कुछ वर्षों में देश में

खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ने से और सिन्द्री में रसायनिक खाद का अधिक उत्पादन होने से इन वस्तुओं का आयात कम करना पड़ेगा, जिसके कारण बन्दरगाहों से इन वस्तुओं को देश के विभिन्न भागों में पहुँचाने के लिए यातायात की कम आवश्यकता होगी और ऐसी स्थिति में देश के अन्दर हुए उत्पादन को नियत स्थानों तक पहुँचाने के लिए यातायात की व्यवस्था में वृद्धि करनी पड़ेगी। दूसरी ओर राजगगपुर के सिमेंट के कारखाने से जिसने १९५२ के आरम्भ से उत्पादन आरम्भ कर दिया है और विजयवाड़ा में स्थित आन्ध्र सिमेंट कम्पनी के प्रसार से उपभोग के केन्द्रों में ही उत्पादन व्यवस्था का प्रसार होने के फलस्वरूप यातायात की सुविधा की माँग कम हो जायगी। साधारणतया योजना को कार्यान्वित करने का प्रभाव यह होगा कि यातायात की सुविधाओं को बढ़ाने की माँग बढ़ेगी। इसलिए यह आवश्यक है कि (अ) यातायात की सुविधा का प्रसार किया जाय, (ब) यातायात की सुविधाओं का बढ़ाने के कारणों का पता लगाया जाय और (स) यातायात की अन्य व्यवस्था करके वर्तमान व्यवस्था पर पड़े अनुचित भार को कम किया जाय।

भारत में वास्तविक कठिनाई यह है कि पचवर्षीय योजना के होते हुए भी विकास की गति बहुत धीमी है। पचवर्षीय योजना के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी यातायात की सुविधाएँ देश की आवश्यकता को देखते हुए कम ही रहेंगी। यातायात की सुविधा में तीव्र गति से प्रगति न होने के अनेक कारण हैं :

(१) वित्त का अभाव है, इस कारण अधिक सड़कों का निर्माण करने में, अधिक रेलवे लाइन बिछाने में और रेलवे के लिए अधिक रोलिंग स्टाक क्रय करने में, सड़कों के लिए मोटर तथा बस क्रय करने में और विमान तथा जलयानों को क्रय करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। केवल प्रसार योजना की माँग पूर्ण करने के लिए ही नहीं किन्तु वर्तमान में चालू गाड़ियों, बसों और जलयानों को बदलने के लिए, जो कि प्रायः बेकार हो चुके हैं, अधिक गाड़ियों, बसों और जलयानों की आवश्यकता है। इसलिए हमें अपने सभी उपलब्ध वित्त साधनों का यातायात की वर्तमान स्थिति के सुधार में और उसके प्रसार में सुसम्बद्ध उपाय से व्यय करना चाहिए। दूसरी कठिनाई यह है कि यातायात के साधनों के लिए आवश्यक सामग्री के मूल्य बहुत बढ़े हुए हैं। यदि वित्त आवश्यकता पूर्ण भी हो जाय तब भी उससे इतनी अधिक मूल्यों पर सभी आवश्यक सामग्री नहीं क्रय की जा सकती। वित्त अभाव और सामानों का अधिक मूल्य होने के कारण भारत में यातायात की सुविधा के प्रसार में बाधा उत्पन्न हो जाती है।

(२) सड़क बनाने और रेलवे लाइन बिछाने के लिए आवश्यक सामान का अभाव है। इसके साथ ही मोटरों, रेलों के डिब्बों, इञ्जनों, जलयानों, विमानों और इनके अलग कल पुर्जों तथा स्टोर का भी बहुत अभाव है। इनमें से अधिकांश के लिए भारत को विदेशों से आयात पर निर्भर करना पड़ता है। इधर कुछ वर्षों से भारत में इञ्जनों, जलयानों इत्यादि के उत्पादन में वृद्धि हुई है परन्तु अभी बहुत लम्बा मार्ग तय करना है। भारतीय यातायात के विकास की समस्या का (अ) सड़क अथवा रेल के निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री का उत्पादन करनेवाले उद्योगों के विकास से और (ब) मोटर तथा जलयानो का निर्माण करनेवाले उद्योगो के विकास से गहरा सम्बन्ध है। उद्योगों के धीरे-धीरे विकास होने से यातायात की सुविधा की प्रगति भी सीमित हो गई है।

(३) कुशल कारीगरो, इञ्जीनियरों, विमान चालकों इत्यादि का बहुत अभाव है, यातायात की व्यवस्था का विकास करने के लिए इनका अभाव नहीं होना चाहिए। इसलिए इनकी सख्या को बहुत अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। सरकार ने कारीगरी की शिक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की है और यातायात की सुविधाओं का प्रसार उसी गति से होगा जिस गति से कारीगरों और अन्य कुशल कर्मचारियों के अभाव की पूर्ति होगी।

यातायात म सुसम्बन्ध स्थापित करने की नीति का उद्देश्य है कि उपभोक्ता को यातायात में कम से कम व्यय करना पड़े। इसका तर्कसगत परिणाम यह निकला कि हमें यातायात के उन सभी साधनो को समाप्त कर नये साधनों का उपयोग करना पड़ेगा जो उपयुक्त नहीं हैं; समय की माँग पूर्ण नहीं कर सकते हैं और पुराने हैं। उपभोक्ता के लिए सड़क यातायात रेलवे की अपेक्षा अधिक सस्ता और सुविधाजनक है क्योंकि सड़कों से आसपास के सभी क्षेत्र लाभ उठा सकते हैं और रेलवे स्टेशन तक माल ले जाने और वहाँ से लाने में जो अनावश्यक व्यय होता है उसकी बचत हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि सड़क यातायात के प्रसार और विकास से या तो रेल यातायात बन्द हो जायगा या उसका क्षेत्र सकुंचित हो जायगा। यदि मोटर, ट्रक और बसें बैलगाड़ियों से अधिक बचत वाले और तीव्रगति चल सकने वाले साधन हैं तो इसका तात्पर्य है कि नगरों और कस्बों में बैलगाड़ियों का अस्तित्व ही रह जायगा। यदि भाप से चलनेवाले जलयान हवा से चलने वाले जलयानो से अधिक बचत वाले हैं तो हवा से चलने वाले जलयानों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। परन्तु व्यवहारिक क्षेत्र में इस प्रकार का तीव्र परिवर्तन न तो संभव है और न इसकी सलाह दी जा सकती है क्योंकि (१) पूँजी इस समय ऐसे साधनों में लगी हुई है जो आधुनिक

साधनों की तुलना में कुशल साधन नहीं कहे जा सकते। यदि इन साधनों को बिल्कुल समाप्त कर दिया जाय या इनका कार्यक्षेत्र सकुचित कर दिया जाय तो इसके परिणामस्वरूप राष्ट्र को गहरी क्षति पहुँचेगी। ऐसी स्थिति मे यातायात के पुराने साधनों के स्थान पर नये साधनों का उपयोग करना एक धीमी प्रक्रिया है। इसमे काफी अधिक समय लगेगा। यातायात के कुशल और उपयुक्त साधनों का धीरे-धीरे उपयोग बढाया जायगा और अकुशल तथा अपेक्षाकृत कम उपयुक्त साधनों को धीरे धीरे हटाया जायगा। यह प्रक्रिया तब तक प्रचलित रहेगी जब तक उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता; (२) भारत में कुछ समय तक हवा से चलने वाले जलयानों और बैलगाड़िया का उपयोग करना पडेगा अन्यथा यातायात की माँग और उसकी पूर्ति का अन्तर और बढता जायगा। भारत मे यातायात की कुल व्यवस्था ऐसी है कि हम अभी काफी समय तक अकुशल और पुराने साधनों को समाप्त नहीं कर सकते।

इस स्थिति को ध्यान मे रखते हुए इस दिशा मे सर्वोत्तम नीति यह होगी कि वर्तमान के यातायात के साधनों को प्रचलित रखा जाय और (अ) कार्य को सुनियोजित करके, कुछ साधनो के अत्यधिक कार्य भार को हल्का करके और अनेक साधनो की उपयुक्त शक्ति का उपयोग करके यातायात की वर्तमान व्यवस्था का दुरुपयोग बचाया जाय, (ब) यातायात से विभिन्न साधनो की परस्पर अनुचित प्रतियोगिता को रोका जाय, साथ ही एक ही प्रकार के साधन की विभिन्न इकाइयों की अनुचित प्रतियोगिता को समाप्त किया जाय, और (स) रेलवे, सड़क, जल यातायात तथा हवाई कपनियों को उचित लाभ के साथ ही साथ उपभोक्ताओं के लिये यातायात सस्ता किया जाय।

वर्तमान में रोडवेज और रेलवे, रेलवे और जल यातायात और रेलवे तथा वायु यातायात मे तीव्र प्रतियोगिता नहीं है। यातायात के सभी साधनों का अभाव है और सभी साधनों के कार्यक्षेत्र पर्याप्त हैं इसलिए कुछ अपवादो को छोड़कर व्यापार हथियाने के लिए इनमे कोई प्रतियोगिता नहीं है। इसके साथ ही विभिन्न साधनों का किराया इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि प्रतियोगिता नहीं हो सकती है। सरकारी बसे वर्तमान में बम्बई तथा उत्तर प्रदेश मे भिन्न-भिन्न किराया वसूलती हैं। बम्बई का किराया ८ से ९ पाई प्रति मील है और उत्तर प्रदेश का ७½ से ९ पाई प्रति मील है, जब कि रेल की तीसरी श्रेणी का किराया साधारण या डाक गाड़ी से १५० मील तक क्रमशः ५¾ और ६¾ पाई प्रतिमील है। वायुयान का किराया प्रायः ४ आना प्रति मील है और रात की डाक सर्विस से किराया २½ आना प्रति मील है। जब कि रेलवे की प्रथम

श्रेणी का किराया २¼ से २½ आना प्रति मील है। बसों और रेलों में कुछ क्षेत्रों में अवश्य प्रतियोगिता चलती है पर बड़े पैमाने पर कोई अनुचित प्रतियोगिता नहीं है। वायुयान से यात्रा अभी अवश्य कुछ महगी है और रेलवे यात्रा से कुछ अधिक भयप्रद भी है। कुछ उच्च श्रेणी के यात्रियों के अतिरिक्त वायु यातायात से रेलवे को कुछ हानि नहीं है परन्तु भविष्य में जैसे-जैसे सड़क और वायु यातायात अधिक सस्ता और कम भयप्रद होता जायगा वैसे-वैसे रेलवे से प्रतियोगिता भी बढ़ती जायगी।

भारत के कुछ भागों में जलयानों द्वारा तटीय यातायात में और रेलवे यातायात में प्रतियोगिता चलती है और देश के विमानों की तटीय व्यापार में जलयानों से प्रतियोगिता चलती है परन्तु तटीय जलयान व्यापार को नियमित कर देने से यह प्रतियोगिता कम हो गई है। भविष्य में पुन: प्रतियोगिता बढ़ने की सम्भावना है, परन्तु इनमें अनुचित प्रतियोगिता बढ़ने का कोई कारण नहीं है। भविष्य में रेलवे लाइन से समकोण बनाती हुई सड़कों का निर्माण करके और सड़कों के प्रसार की ऐसी योजना बनाकर कि उनसे विभिन्न बन्दरगाहों में जल यातायात की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके यातायात के विभिन्न साधनों के बीच उाचत सम्बन्ध स्थापित कर सकने की पूर्ण सम्भावना है। रेलवे तथा जल यातायात के बीच उचित सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक योजना बनाई गई है जिसमें व्यवस्था की गई है कि मॅगलौर बन्दर से रेल सम्बन्ध चिकामगलुर होते हुए मद्रास से सम्बन्धित किया जाय।

यदि यातायात के सभी साधनों का राष्ट्रीकरण किया जाय तो इनमें परस्पर उाचत सम्बन्ध स्थापित कर सकना सुगम हो जायगा। यदि सभी साधनों की स्वामी सरकार हो और वही इनको चलाये तो सड़कों को जोड़ने और एक स्थान पर कई प्रकार के यातायात उपलब्ध होने इत्यादि में व्यर्थ रुपया नहीं लगाना पड़ेगा। निजी उद्योग होने पर ऐसा आवश्यक हो जाता है। सरकार ने सड़क यातायात का एक सीमित क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण किया है जिसके कारण इन क्षेत्रों में रोडवेज और रेलवे के मध्य कोई अनुचित प्रतियोगिता नहीं है। राष्ट्रीय-करण किये हुये सड़क यातायात से रेलवे को सहायता मिलती है। यह सड़कें विभिन्न क्षेत्रों को रेलवे मार्ग से सम्बन्धित करती हैं। सड़क यातायात को निश्चित क्षेत्र में एक विशेष दूरी तक सीमित करके और रोडवेज सर्विस को उन सड़कों पर चालू करके जहाँ रेलवे यातायात की सुविधा नहीं है यह परिणाम निकला है। रेला से यात्रियों की सुविधा का प्रबन्ध बढ़ा है और किराये में भी वृद्धि हुई है और इससे दोनों में अनुचित प्रतियोगिता की हानियों को समाप्त कर दिया गया

है। यद्यपि राष्ट्रीकरण कर देने से अनुचित प्रतियोगिता तो समाप्त की जा सकती है परन्तु यह व्यवस्था सभी स्थितियों में सुविधाजनक सिद्ध नहीं हो सकती। भारतीय रेलों और वायुयान कम्पनियों का कुछ थोड़े छोटे मार्गों को छोड़कर पूरी तरह राष्ट्रीकरण किया जा चुका है और सड़क यातायात का बहुत सा भाग भी राज्य सरकारें ले चुकी हैं, परन्तु कुछ क्षेत्रों में सड़क यातायात और पूरा जल यातायात अभी निजी उद्योगपतियों के हाथ में है। यातायात के सभी साधनों का राष्ट्रीकरण करना सम्भव नहीं है क्योंकि (१) आवश्यक कर्मचारियों का अभाव है और (२) हानि होने का डर है। यह हानि विशेषकर जल यातायात में अधिक हो सकती है क्योंकि इसका पूर्ण विकास नहीं हो सका है और उसे विदेशी जलयान कम्पनियों की कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। यह कहना अनुचित न होगा कि राष्ट्रीकरण से हानिकारक प्रतियोगिता की समस्या सुलझाई जा सकती है। इसके साथ ही इससे एकाधिकार के दोष भी उत्पन्न हो सकते हैं जैसे उपभोक्ता के हितों की उपेक्षा, कार्य व्यय में वृद्धि और अकुशल कार्य। यदि हानिकारक प्रतियोगिता को समाप्त करने से नई समस्याएँ उत्पन्न हो जायँ तो इस व्यवस्था को उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

यातायात का पूर्ण राष्ट्रीकरण न हो सकने पर भी यातायात के विभिन्न साधनो में निम्नलिखित उपायों से परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है:—(१) कानून द्वारा प्रत्येक प्रकार के यातायात के कार्यक्षेत्र को निर्धारित करके, विभिन्न साधनों के अधिकतम और न्यूनतम किराये की दर निश्चित करके और विभिन्न साधनों द्वारा यात्रियों को दी जानेवाली न्यूनतम सुविधाओं और सामान के यातायात की सुविधाओ को निश्चित करके, (२) यातायात के विभिन्न साधनों के कार्य के निरीक्षण के लिए और उनमें उचित सम्बन्ध स्थापित करने के लिये केन्द्रीय यातायात परिषद् स्थापित करके। यातायात की व्यवस्था में परिस्थितियों के अनुसार शीघ्र परिवर्तन हो जाता है इसलिये यातायात के विभिन्न साधनों के तथा उपभोक्ताओं के हितों की केवल कानून द्वारा ही रक्षा की जा सकती है। इससे किराये की दरों में घटने-बढ़ने की सम्भावना समाप्त हो सकती है और जनता को असुविधा हो सकती है परन्तु यह कठिनाइयाँ पर्याप्त अधिकार दिये जाने पर और सन्तोषजनक रीति से कार्य कर सकने के लिए व्यापक क्षेत्र देने पर राज्य यातायात परिषद् दूर कर सकती है।

प्रथम पचवर्षीय योजना मे ५५७ करोड़ रुपया यातायात और सचार विभाग के लिये नियत किया गया था। यह धन योजना के कुल व्यय का २३·६% था। द्वितीय योजना के अन्तर्गत १३८५ करोड़ रुपया, जो कि कुल योजना के

व्यय का २८.६% है, यातायात और संचार विभाग पर व्यय करने के लिये नियत किया गया है। इस १३८५ करोड़ रुपये में से रेलवे, सड़क, सड़क यातायात, बन्दरगाहों, जल यातायात और हवाई यातायात पर क्रमश ९०० करोड़ (कुल व्यय का १८.८%), २४६ करोड़ (५.१%), १७ करोड़ (०.४%), ४५ करोड़ (०.९%), ४८ करोड़ (१.०%) और ४३ करोड़ (०.९%) व्यय किया जायगा। प्रथम योजना के अन्तर्गत ५५७ करोड़ रुपये के कुल व्यय में से इन्हीं शीर्षकों पर क्रमश. २६८ करोड़ (११.४%), १३० करोड़ (५.५%), १२ करोड़ (०.५%), ३४ करोड़ (१.४), २६ करोड़ (१.१%) और २४ करोड़ रुपया (१.०%) व्यय किया गया था। इन आंकड़ों से ज्ञात होता है कि कुल व्यय का प्रतिशत व्यय रेलवे पर बढ़ा दिया गया है और अन्य साधनों पर कुछ घटा दिया गया है।

	१९५०-५१ की स्थिति	१९५५-५६ में अनुमानित स्थिति	१९६०-६१ तक ध्येय
रेलवे—			
(१) पैसेन्जर गाड़ियाँ (मील दस लाख में)	९५	१०८	१२४
(२) माल जो लादा गया (दस लाख टनों में)	९१	१२०	१६२
सड़क—			
(१) राष्ट्रीय राजपथ (हजार मीलों में)	१२.३	१२.९	१३.८
(२) सरफेस्ड रोड्स (हजार मीलों में)	९७	१०७	१२५
जहाज—			
(१) तटीय और पड़ोसी से सम्बन्धित टेन्करों को सम्मिलित करते हुये (लाख जी आर टी.)	२.२	३.२	४.३
(२) समुद्र पार ट्रैम्प टनेज को सम्मिलित करते हुये (लाख जी आर टी)	१.७	२.८	४.७
बन्दरगाह—			
सेवा करने की शक्ति (दस लाख टनों में)	२०	२५.०	३२.५

ऊपर दिये गये आँकड़ों से यह ज्ञात होता है कि द्वितीय योजना के अन्तर्गत सर्वतोन्मुखी विकास का प्रयत्न किया जायगा। १९५५-५६ की तुलना में सब से अधिक प्रतिशत वृद्धि १९६०-६१ में समुद्र पार की जल यातायात के सम्बन्ध

में की जायगी। जल यातायात के सम्बन्ध में ६८%, रेलवे में ३५%, तटीय जल यातायात में ३४% और बन्दरगाहों पर माल उतारने चढाने की शक्ति मे ३०% की वृद्धि की जायगी।

प्रथम पचवर्षीय योजना का मुख्य ध्येय यातायात सम्बन्ध मे यह था कि यथासम्भव गत १० वर्षों से अत्यधिक कार्य में आने वाले प्रसाधनों को बदल कर नया कर दिया जाय। रेलवे के सम्बन्ध में यह कार्य बहुत कठिन था। जल यातायात, बन्दरगाहों, प्रकाशस्तम्भो, वायु यातायात आदि के सम्बन्ध में भी इस कार्य के लिए बहुत बड़ी धनराशि नियत करना आवश्यक थी। प्रथम योजना काल में क्योकि कृषि और उद्योगो की उत्पत्ति में वृद्धि हो गई थी इसलिये यातायात की सुविधा के अभाव का अनुभव विशेषकर योजना के तीसरे वर्ष से होने लगा था। इस स्थिति का सम्भालने के लिये अतिरिक्त धन का अनुमान रेलवे, सड़कों, जल यातायात, नदियों और वायु यातायात के लिये किया गया और इनके विकास के कार्य-क्रम म भी वृद्धि की गई। रेलवे के गत्रयानादि के क्रय का कार्य-क्रम बढाया गया और उन क्षेत्रों में लाइनें बढाने के लिये विशेष प्रयत्न किया गया जहाँ रेल यातायात की माँग अधिक थी। एक अन्तर्विभागीय अन्वेषण वर्ग द्वारा यातायात के सभी साधनों के पारस्परिक विकास सम्बन्धी प्रश्न पर और मुख्यतः सडक यातायात के विकास सम्बन्धी प्रश्न पर जो बढती हुई माँग के हिसाब से बहुत दिनों से पिछड़ा हुआ था विचार किया गया। सडक यातायात के व्यक्तिगत भाग मे विकास सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिये उपाय किये गए और लाइसेन्स देने की नीति को अधिक उदार बनाया गया। भारतीय जल यातायात की सहायता के उपाय भी किये गये।

यद्यपि प्रसाधनों के नवीनतम करने के कार्य अभी शेप हैं फिर भी द्वितीय योजना में देश के यातायात साधनों के समुचित विकास की (विशेप कर रेलवे की जिसके द्वारा सदा से अधिकतम यातायात की सुविधा प्रदान की गई है) व्यवस्था की जा रही है। रेलवे के विकास के कार्य-क्रम का देश के औद्योगिक विकास के साथ विशेषकर बडे-बडे उद्योगों, जैस स्पात, कोयला, सिमेंट आदि, के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखना आवश्यक होगा। द्वितीय योजना विभिन्न यातायात के साधनों के बीच पारस्पारिक सामजस्य स्थापित करने का भी प्रयत्न करती है। सड़क यातायात की सुविधा में जो सरकार द्वारा प्रदान की जा रही है रेलवे द्वारा अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करने की व्यवस्था की जा रही है। रेलवे और तटीय जल यातायात तथा रेलवे और नदी द्वारा यातायात के सामजस्य पर और भी विशेष ध्यान दिया गया है। इस प्रकार द्वितीय योजन के अन्तर्गत मुख्य मुख्य

यातायात साधनों और उनके पारस्परिक सामजस्य के अधिकतम विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया है ताकि प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र के कार्य को अच्छे से अच्छे ढङ्ग से पूर्ण कर सके। इस स्थिति का निष्कर्ष यह है कि आगामी पाँच वर्षों में सभी प्रकार के यातायात साधनों की माँग बहुत अधिक बढ़ेगी, इसलिये यह प्रस्ताव किया गया है कि प्रतिवर्ष यातायात और सचार के विकास के कार्य-क्रम पर विचार किया जाये ताकि जहाँ कहीं आवश्यक हो ऐसे उपायों को अप-नाया जाय जिनसे यातायात की कठिनाइयों के कारण योजना के अन्य कोई कार्य-क्रम में बाधा न पड़े।

अध्याय ३९

प्रथम पंचवर्षीय योजना

नियोजन का तात्पर्य यह है कि देश के उपलब्ध साधनों का नियमबद्ध रूप से उपयोग किया जाय और इस दिशा में प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाया जाय जिससे उत्पादन बढे, राष्ट्रीय लाभांश बढे, रोजगार और सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो। इसके लिये यह आवश्यक है कि उपलब्ध साधनों की सावधानी से जाँच परख की जाय और राष्ट्रीय उत्पादन और आय में निर्धारित वृद्धि करने के लिये इन साधनों के उपयोग की गति को भी नियोजित किया जाय। भारत की प्रथम पचवर्षीय योजना १९५१-५२ में लागू हुई और १९५५-५६ तक पूरी हो गई। इस योजना पर ५ वर्ष मे २,०६९ करोड़ रुपया व्यय करने की व्यवस्था की गई थी। व्यय की मात्रा निर्धारित करने मे योजना आयोग ने इन बातों पर विचार किया कि (१) विकास की एक ऐसी प्रक्रिया का समारम किया जाय जिसके आधार पर भविष्य में और बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित किया जा सके, (२) विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए देश को कुल कितने साधन उपलब्ध हो सकते हैं, (३) विकास की गति और निजी तथा सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत साधनों की आवश्यकता के बीच निकट सम्बन्ध स्थापित हो, (४) योजना लागू होने के पूर्व केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा आरम्भ की गई विकास योजनाओं को पूरा किया जाय और (५) युद्ध तथा देश विभाजन से देश की अव्यवस्थित आर्थिक व्यवस्था को सुनियोजित आधार प्रदान किया जाय।

भारत की आर्थिक स्थिति मे सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जनसंख्या में प्रतिवर्ष १¼ प्रतिशत की वृद्धि होती है। इस तथ्य पर और देश के सभी उपलब्ध साधनों पर विचार करने के पश्चात् योजना आयोग ने यह व्यवस्था की है कि १९७७ तक वर्षों में प्रति व्यक्ति की आय दूनी हो जाय। भारत की अपेक्षा अधिक विकसित देशों मे प्रति व्यक्ति की आय दूनी करने में कम समय लगेगा परन्तु भारत जैसे पिछड़े देश में इसमे अनिवार्यतः अधिक समय लगेगा क्योंकि देश में साधनो की कमी है, टेकनिकल कुशलता का अभाव है और संगठन की स्थिति कमजोर है। भारत में प्रति व्यक्ति आय दूनी करने के लिए अनेक पचवर्षीय योजनाओं की आवश्यकता पडेगी। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत सरकार ने इस दिशा मे कार्य आरम्भ कर दिया है। समय के साथ कार्य की गति भी जोर पकड़ती जायगी।

पूंजी निर्माण की गति—योजना आयोग ने यह माना है कि आधारभूत वर्ष १६५०-५१ में भारत की राष्ट्रीय आय ६,००० करोड़ रुपया थी और कुल राष्ट्रीय आय का औसतन ५ प्रतिशत बचत की जाती थी। इसका तात्पर्य यह है कि १६५०-५१ में सारी जनता की कुल बचत ४५० करोड़ रुपया थी। यदि १६५१-५२ और १६५५-५६ के बीच प्रात वर्ष २० प्रतिशत अतिरिक्त आय पूंजी निर्माण में लगा दी जाय, अर्थात मशीन इत्यादि और काफी समय तक चलने वाले सामानों पर रुपया लगाया जाय तो पचवर्षीय योजना के अंत तक भारत की राष्ट्रीय आय १०,००० करोड़ रुपये तक बढ़ जायगी और बचत की दर भी ६¾ प्रतिशत वार्षिक हो जायगी। १६५५-५६ में इस प्रकार कुल ६७५ करोड़ रुपया राष्ट्रीय बचत होगी। योजना आयोग ने बताया है कि इसके बाद १६६७-६८ में समाप्त होने वाले १२ वर्षों मे केवल २० प्रतिशत नहीं बल्कि ५० प्रतिशत अतिरिक्त राष्ट्रीय आय प्रतिवर्ष पूंजी निर्माण मे लगाई जानी चाहिये। यदि यह प्रक्रिया जारी रहती है तो १६७७ तक प्रति व्यक्ति की आय (Per capita income) दो गुनी हो जायगी।

प्राथमिकता का क्रम—राष्ट्रीय आय में उक्त-लिखित वृद्धि करने के लिए प्रतिव्यक्ति की आय दोगुनी करने के लिए संशोधित योजना मे २,३५६ करोड़ रुपया विकास योजनाओं मे व्यय करने का निश्चय किया गया। योजना में भारतीय आर्थिक व्यवस्था को सरकारी तथा निजी उद्योग क्षेत्र मे विभाजित किया गया है। सरकारी क्षेत्र में वह उद्योग सम्मिलित हैं जिनका मालिक स्वय सरकार है, जिन पर केन्द्रीय या राज्य सरकार अथवा इन सरकारों के आधीन अधिकारियों का नियन्त्रण है। निजी उद्योग क्षेत्र मे वह उद्योग, वाणिज्य और व्यापार शामिल हैं जिनके मालिक उद्योगपति हैं, जिन पर उनका नियन्त्रण है और जिनका सचालन स्वय इन्हीं उद्योगपतियों द्वारा होता है। इन दोनों उद्योग क्षेत्रों की समस्याएँ प्राय: समान हैं और दोनों को श्रेणियों में स्पष्ट विशेषताओं के आधार पर विभक्त नहीं किया जा सकता है। परन्तु सुविधा की दृष्टि से पचवर्षीय योजना में इन दोनों उद्योग क्षेत्रों पर पृथक रूप से विचार किया गया है। सरकारी उद्योग क्षेत्र के लिए कुल लागत की मात्रा नि ।रत कर ली गई है और इस क्षेत्र की वित्तीय आवश्यकता सरकार पूरी करती है रन्तु निजी उद्योग क्षेत्र के निर्धारित लक्ष्य के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ न कह कर केवल सामान्य लक्ष्य बता दिया गया और इस लक्ष्य की पूर्ति तथा आवश्यक वित्त जुटाने के लिए भी उद्योग क्षेत्र को स्वतन्त्र छोड़ दिया गया। सरकारी उद्योग क्षेत्र में लक्ष्य की पूर्ति सरकार का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व है परन्तु यही बात निजी उद्योग क्षेत्र में लागू नहीं होती

है क्योंकि निजी उद्योग क्षेत्र में सरकार अप्रत्यक्ष रूप से सहायता प्रदान करती और कारोबार के परिणामों का निरीक्षण करती रहती है। इसके मूल में यह विचार निहित है कि यदि निजी उद्योग क्षेत्र निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति नहीं कर पाता है और उसकी प्रगति अपेक्षित गति नहीं हो पाती है तो सरकारी उद्योग का कार्य क्षेत्र बढ़ जायगा और सरकार इन निजी उद्योग क्षेत्र की विभिन्न इकाइयों का कार्य भार धीरे-धीरे स्वय ग्रहण कर लेगी। कुछ समय तक सरकारी और निजी क्षेत्र दोनों ही रहेंगे।

पचवर्षीय योजना के प्रारुप में जो जुलाई १९५१ मे प्रकाशित किया गया था और स्वय पचवर्षीय योजना में जो दिसम्बर १९५२ में ससद के सामने प्रस्तुत की गई थी कृषि विकास को प्राथमिकता दी गई है और इसके बाद यातायात तथा सचार, समाज सेवा कार्य और उद्योग को रखा गया है। पचवर्षीय योजना की यदि योजना के प्रारुप मे तुलना की जाय तो पता चलेगा कि योजना के अतिम रूप मे उद्योग के महत्व को कुछ अधिक बढ़ा दिया गया है पर इससे योजना का प्राथमिकता क्रम नहीं बदलता है। योजना के अतिम रूप में कृषि, सिंचाई और बिजली की लागत कुल लागत का ४३·२ प्रतिशत रखी गई, यातायात तथा संचार की लागत २३ ६ प्रतिशत, समाज सेवा कार्यों पर व्यय की लागत २२·६ प्रतिशत और उद्योग की लागत केवल ७ ६ प्रतिशत रखी गई थी। योजना आयोग ने कृषि को अधिक महत्व प्रदान करने के कारणों पर प्रकाश डाला है। आयोग का मत है कि खाद्यान्न और कच्चे माल के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि न होने से उद्योगों के तीव्र विकास की सभावना नहीं है। सबसे पहले यह आवश्यक है कि आर्थिक स्थिति के मूल को दृढ़ किया जाय, कृषि क्षेत्र में पर्याप्त अतिरिक्त खाद्यान्न तथा कच्चा माल पैदा किया जाय और अन्य क्षेत्रों का कार्य आगे बढ़ाने में उसका उपयोग किया जाय। इसी उद्देश्य के कारण कृषि को प्राथमिकता प्रदान की गई है। सशोधित योजना में यद्यपि कुल व्यय बढ़ाकर २३५६ करोड़ रुपया कर दिया गया फिर भी प्राथमिकता के क्रम में कोई विशेष परिवर्तित नहीं किया गया है।

जहाँ तक औद्योगिक क्षेत्र का सम्बन्ध है प्राथमिकता निर्धारित करते समय इन बातों पर विचार किया गया है कि (१) जूट और प्लाईवुड जैसे उद्योगों (Producer goods industries) की वर्तमान उत्पादन शक्ति का पूरा उपयोग किया जाय और उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले उद्योगों, जैसे सूती कपड़ा, चीनी, साबुन और वनस्पति उद्योगों की भी वर्तमान उत्पादन शक्ति का पूरा उपयोग किया जाय, (२) लोहा और इस्पात, एल्यूमोनियम,

सिमेंट रसायनिक खाद, भारी रसायनिक, मशीनो के औजारों इत्यादि उद्योगों की उत्पादन शक्ति बढ़ाई जाय, (३) उन औद्योगिक इकाइयों का निर्माण कार्य पूरा किया जाय जिन पर काफी पूँजी लगाई जा चुकी है और (४) जिप्सम से गन्धक, विशेष प्रकार के रेशम का उत्पादन करने के लिए आवश्यक सामग्री, और अलौह धातुओं के टुकड़ों का उत्पादन करने के लिये नये कारखाने स्थापित किये जायें जिससे बड़े और अत्यन्त महत्व के उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति की जा सके। प्राथमिकता का यह क्रम यह प्रकट करता है। कि उपलब्ध साधनों का पूरा उपयोग किया जायगा और किसी भी उद्योग के प्रति उदासीनता नहीं अपनायी जायगी। राज्य अनेक कारखाने स्थापित कर सकते हैं परन्तु कृषि के विपरीत उद्योगों का विकास पूर्णतया निजी उद्योग क्षेत्र के हाथों में छोड़ दिया गया है। कृषि तो सरकारी उद्योग क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। पंच-वर्षीय योजना में ४२ उद्योगों के लक्ष्य निर्धारित किये गये थे और यह अनुमान लगाया गया था कि इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पाँच वर्ष में कुल २३३ करोड़ रुपया व्यय करना पड़ेगा। इसके साथ ही कारखानों के आधुनिकीकरण में और मशीनों को बदलने में १५० करोड़ रुपया और व्यय होगा। यदि इसमें चालू पूँजी की रकम भी जोड़ दी जाय तो पता चलेगा कि पाँच वर्ष में केवल उद्योग ही की वित्तीय आवश्यकता ७०७ करोड़ रुपये के बराबर होगी। इस वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति सरकार नहीं करेगी। इसके लिए निजी उद्योगों को स्वयं प्रयत्न करना पड़ेगा।

वित्त—योजना को सफल बनाने के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वित्तीय आवश्यकता पूरी करने में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। कृषि तथा औद्योगिक साधनो का विकास करने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी लगाने की आवश्यकता है। यदि यह पूँजी देश के अन्दर ही प्राप्त नहीं होती तो इसके लिए हमे विदेशी स्रोतों की सहायता लेनी पड़ेगी। भारत की पंचवर्षीय योजना केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की वर्तमान आय में से बचत, भारतीय रेलवे की आय में से बचत, ऋण तथा जनता की बचत और विदेशी पूँजी पर निर्भर करती है। योजना के व्यय की पूर्ति करने के लिए भारत के पौण्ड पावने, विदेशी सहायता और ऋण पर भी पूरा विचार कर लिया गया है। इन सारे साधनों का उपयोग कर लेने के बाद भी कुछ कमी रह जाती है जिसकी पूर्ति के लिए यह आशा की जाती है कि अतिरिक्त कर लगाकर या स्वदेशी बाजार से अधिक मात्रा में ऋण लेकर इस कमी को पूरा किया जायगा परन्तु यदि ऐसा संभव न हो सका तो पंचवर्षीय योजना की लागत में इतनी रकम की कमी कर दी जायगी।

योजना की कुल लागत २,०६९ करोड़ रुपया थी ; सरकारी तथा निजी बचत से पाँच वर्ष में १,२५८ करोड़ रुपया प्राप्त होगा जबकि इन्हीं स्रोतों से योजना के मूल वर्ष १९५०-५१ में २२२ करोड़ रुपया प्राप्त हुआ। १,२५८ करोड़ रुपये की उपलब्ध राशि मे से ७४० करोड़ रुपये केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों और रेलवे बजट की अतिरिक्त आय से प्राप्त होगे और ५१८ करोड़ रुपया निजी बचत से। सशोधित योजना मे बजट से प्राप्त आय में और व्यक्तिगत बचत मे विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है जो कि आशा की जाती है कि ७४३ और ५१८ करोड़ रुपये क्रमश होगी। बढ़ी हुई लागत अधिकाश घाटे के अर्थ प्रबन्धन द्वारा पूरी की जायगी जैसा कि कमी की मात्रा में ९८८४ करोड़ रुपया बढ़कर हो जाने से प्रतीत होता है। यह आशा की जाती है कि पौण्ड पावने से प्राप्ति को विचाराधीन रखते हुये यह कमी ७०१ करोड़ रुपये की रह जायगी।

योजना को अतिम रूप देने के पहले भारत को विदेशों से सहायता और ऋण के १५६ करोड़ रुपया मिला था। योजना आयोग ने इसे भी सम्मिलित कर लिया। योजना मे यह व्यवस्था भी की गई थी कि घाटे का बजट बढ़ाकर २९० करोड़ रुपयों की और पूर्ति की जाय। इसके बाद भी ३६५ करोड़ रुपयो की पूर्ति शेष रह जाती है। यह बहुत सभव है कि यह कमी और अधिक हो यदि राज्य तथा निजी बचत की स्थिति आशा के अनुकूल न रही।

यदि सारी स्थिति पर दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि सरकारी क्षेत्र मे जो कुल २,०६९ करोड़ रुपये की लागत रखी गई है उसमे से दीर्घकालिक व्यय (Capital expenditure) केवल १,६०० से १,७०० करोड़ रुपये के बीच मे होगा। यदि इसमें निजी उद्योग क्षेत्र मे लगायी गयी पूँजी को भी मिला लिया जाय (जिसमे उद्योग, वाणिज्य और व्यापार में लगी पूँजी भी सम्मिलित है) तो पाँच वर्ष मे स्वदेशी स्रोतों से ही दीर्घकालिक व्यय की २,७०० से २,८०० करोड़ रुपये की राशि पूरी करनी पड़ेगी। यदि इसमें इसी अवधि में पौण्ड पावने की मद में से मिलने वाले २९० करोड़ रुपये (जो भारत में घाटे की बजट व्यवस्था का आधार है) और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड इत्यादि से प्राप्त १५६ करोड़ रुपया जोड़ा जाय तो कुछ साधन ३,१५० से ३,२५ करोड़ रुपयो के बीच हो जाते हैं। सशोधित रूप मे यह धनराशि ३३३० ३४३० करोड़ रुपया हो जायगी।

आलोचना—पंचवर्षीय योजना मे भारत के कृषि तथा औद्योगिक विकास के सम्बन्ध मे बड़ा आशावादी दृष्टिकोण अपनाया गया। आँकड़ो के अभाव और साधनों की कमी के कारण इससे अच्छी योजना तैयार करना सभव नहीं था।

योजना पूर्ण होने पर राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ेगी, आय बढ़ेगा और जनता अधिक धनवान और प्रसन्न हो सकेगी, भारत के आर्थिक विकास में जो कमियाँ हैं उन्हें दूर किया जा सकेगा, खाद्यान्न में देश निरन्तर स्वावलम्बी बनता जायगा और कुछ कच्चे मालों का जिनके लिये देश आयात पर निर्भर है, उत्पादन बढ़ेगा। योजना में वैज्ञानिक प्रगति और टेक्निकल शिक्षा की आवश्यकता को भी महत्व दिया गया है। इन पर उद्योग और कृषि की सफलता निर्भर करती है। वैज्ञानिक जाँच-परख, टेक्निकल शिक्षण इत्यादि के लिये भी योजना में विशेष व्यवस्था की गई है। कुछ समय बाद इसका प्रभाव प्रकट होगा।

यह आलोचना की गई है कि पांच वर्षों में योजना को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक वित्त के सम्बन्ध में पचवर्षीय योजना ने बहुत आशावादी दृष्टिकोण अपनाया है और जनता से बहुत आशा की है। इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि (क) योजना आयोग ने अनुमान लगाया है कि ५ वर्षों में केन्द्रीय सरकार के बजट, राज्य सरकारों के बजट और रेलवे में क्रमश. १६० करोड़ रुपया, ४०८ करोड़ रुपया और १७० करोड़ रुपया अतिरिक्त प्राप्त होगा परन्तु इस मात्रा में अतिरिक्त आय होना सम्भव नहीं है। जनता में अब और अधिक कर देने की क्षमता नहीं है और रेलवे तथा सरकारों की आय भी उतनी अधिक होना सम्भव नहीं है जितनी की योजना में अपेक्षा की गई है। इसका तात्पर्य यह है कि पचवर्षीय योजना अपने मूलरूप में कार्यान्वित नहीं हो पायेगी और उसमें काट छाँट करनी पड़ेगी। (ख) योजना में यह माना है कि १९५१ और १९५६ के बीच प्रति वर्ष अतिरिक्त आय का २० प्रतिशत पूँजी निर्माण में लगाया जायगा और १९५६ से १९६८ तक अतिरिक्त आय का ५० प्रतिशत इसमें लगाया जायगा। भारत जैसे निर्धन देश में जहाँ की अधिकतर जनता की आय अपने जीवन निर्वाह के लिए ही पर्याप्त नहीं है अतिरिक्त आय का इतना अधिक अंश पूँजी निर्माण में लगा सकने की आशा करना वास्तविक स्थिति के अनुकूल नहीं है। यदि जनता की आय बढ़ती है तो वह उसको विनियोग में लगाने की अपेक्षा उपयोग में व्यय करना अधिक पसन्द करेगी। यदि ऐसा होता है तो योजना आयोग की यह आशा कि १९५६ तक कुल राष्ट्रीय आय १०,००० करोड़ रुपये तक बढ़ जायगी और १९७७ तक प्रति व्यक्ति की आय दूनी हो जायगी, पूरी नहीं हो सकती है।

इन आलोचनाओं में कुछ सत्य अवश्य है परन्तु यह योजना का आधार भूत दोष नहीं है। किसी भी योजना की आलोचना में यह तर्क दिये जा सकते हैं। नियोजन के लिए यह आवश्यकीय है कि जनता त्याग करे। भारत

की प्रथम पचवर्षीय योजना में सवमतः अन्य योजनाओं की अपेक्षा कुछ अधिक त्याग करने की मॉग की गई है। परन्तु इस विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं कि भारतीय जनता से किस सीमा तक त्याग करने की अपेक्षा की जाय और वह कितना त्याग कर सकने में समर्थ है। योजना मे यह व्यवस्था की गई है कि १६५१-५६ के बीच प्रति वर्ष अतिरिक्त आय का २० प्रतिशत विनियोग में लगाया जाय जबकि १६५०-५१ मे, जो योजना का प्रथम वर्ष था, केवल ५ प्रतिशत के विनियोग की व्यवस्था की गई थी। इसके बाद की योजनाओं में प्रतिवर्ष अतिरिक्त आय का २० प्रतिशत विनियोग में लगाने की आशा की जायगी। जहाँ तक इस पक्ष का सम्बन्ध है योजना अभी पहला प्रयोग मात्र है। यदि जनता योजना में निर्धारित अनुपात मे रुपया नहीं लगा सकी तो कम मात्रा में लगायेगी परिणाम स्वरूप प्रगति की गति भी धीमी हो जायगी। यही बात अतिरिक्त आय के सम्बन्ध में भी लागू होती है। बिना सही सूचना के इस क्षेत्र मे उपयुक्त अनुपात निर्धारित करना सभव नहीं है। जैसे-जैसे योजना लागू की जायगी और नए अनुभव प्राप्त होगे उसी के साथ साथ योजना में आवश्यक परिवर्तन किए जायँगे।

पचवर्षीय योजना के आलोचकों ने कुछ गभीर तर्क भी दिये हैं। उनका कहना है कि: (१) योजना में उद्योग की अपेक्षा कृषि को अधिक महत्व दिया गया है। इसका कारण यह बताया गया है कि जो योजनाएँ वर्तमान में कार्यान्वित की जा रही हैं उन्हें पूरा किया जाय और भविष्य में देश के औद्योगिक विकास के लिए सुदृढ आधार स्थापित किया जाय। इस तर्क का मूल विचार यह है कि भारत का वर्तमान औद्योगिक विकास कृषि विकास के अनुरूप हुआ है। परन्तु वास्तव में स्थिति ऐसी नहीं है। भारतीय स्थिति का ज्ञान रखने वाला कोई भी व्यक्ति यह जानता है कि भारत मे कच्चे माल और बिजली इत्यादि का वर्तमान में जितना उत्पादन होता है उससे देश का बहुत अधिक औद्योगिक विकास किया जा सकता है। योजना आयोग ने एक और बात की ओर ध्यान दिया। यह बहुत सभव है कि जब तक हम भारत के भावी औद्योगिक विकास के लिए सुदृढ आधार स्थापित करेंगे तब तक विश्व स्थिति मे ऐसा परिवर्तन हो सकता है जिससे भारत का औद्योगिक विकास आज की अपेक्षा अधिक कठिन हो जायगा। ऐसी स्थिति में कृषि के विकास का क्या उपयोग किया जा सकेगा? अत में इस सम्बन्ध मे सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि योजना का उद्देश्य भारत की आर्थिक व्यवस्था की त्रुटियों को दूर करके देश का अधिक सन्तुलित विकास करना है। इस दिशा मे सबसे बड़ी कमी यह है कि भारत में मशीनों के निर्माण करने वाले

उद्योग नहीं है, विद्युत, इंजीनियरिंग, केमिकल इत्यादि के उद्योग का अच्छी तरह विकास नहीं हो सका है इसलिए अधिक सन्तुलित व्यवस्था बनाने के लिए योजना को इस दिशा की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए था और इन उद्योगों का विकास करने की व्यवस्था करनी चाहिए थी।

(२) योजना के अनुसार देश का औद्योगिक विकास निजी उद्योगपतियों के हाथों मे सौंपा गया है। इसमें किसी प्रकार की हानि नहीं है क्योंकि अतीत मे निजी उद्योगपतियों ने भारतीय उद्योगों का कुशलता पूर्वक विकास किया। परन्तु योजना के आलोचकों का मत है कि औद्योगिक विकास अधिकांश रूप मे निजी उद्योगपतियो के हाथों मे सौंपने और उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित करने के साथ निजी उद्योग के पूर्ण उपयोग के लिए पर्याप्त साधनों की व्यवस्था नहीं की गई है। भारतीय उद्योगपतियों का मत है कि योजना मे २३३ करोड़ रुपये की पूँजी का विनियोग करने की और १५० करोड़ रुपये की पूँजी टूट-फूट इत्यादि के लिए रखने की व्यवस्था की गई है। परन्तु यह पूँजी उत्पादन के निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के लिए बिल्कुल अपर्याप्त है। इसके साथ ही यह बात ध्यान देने योग्य है कि उद्योग केवल वित्त की ही आवश्यकता नहीं होती है बल्कि इसके अतिरिक्त अनेक सुविधाओं की भी आवश्यकता होती है, जैसे कर सम्बन्धी, छूट टूट-फूट इत्यादि के लिए अधिक पूँजी और कुछ परिस्थितियों मे नकद आर्थिक सहायता। यह खेद की बात है कि पचवर्षीय योजना में इसके लिए कुछ व्यवस्था नहीं की गई है। इसके अभाव मे निजी उद्योग देश के औद्योगिक विकास के प्रति अपने कर्तव्य का पूर्ण रूप से निर्वाह नहीं कर सकता है।

(३) प्रथम योजना का एक और गभीर दोष यह है कि इसमें दीर्घकालीन योजनाओं पर विशेष जोर दिया गया है। इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि सुनियोजित आर्थिक व्यवस्था में दीर्घकालिक योजनाओं पर विशेष जोर देना चाहिये। कुछ विदेशी राष्ट्रों में, जिसका सबसे उत्तम उदाहरण सोवियत रूस है, दीर्घकालिक योजनाओं को ही नियोजन का आधार बनाया गया। परन्तु भारत की स्थिति उससे भिन्न है। भारत में दीर्घकालिक योजनाएँ अधिक होनी चाहिये परन्तु साथ ही अल्पकालिक योजनाओ पर विशेष जोर देना चाहिये था। इससे प्रति एकड़ उत्पादन मे शीघ्र वृद्धि की जा सकती थी और खाद्यान्न के सम्बन्ध मे देश शीघ्र स्वावलम्बी बनाया जा सकता था। इससे बहुत सीमा तक भारत की बेरोजगारी की समस्या भी हल की जा सकती थी।

दीर्घकालिक योजनाओं पर अधिक जोर देने में एक और हानि यह है कि वस्तुओं के उत्पादन में दीर्घकाल के बाद वृद्धि होगी जबकि जनता की क्रय शक्ति

शीघ्र ही बढ़ेगी। इससे मुद्रास्फीति का जोर और बढ़ जायगा। सुनियोजित व्यवस्था में कुछ अंश तक मुद्रास्फीति और परिणाम स्वरूप अधिक कीमतें होना अनिवार्य है परन्तु यदि नियोजन के द्वारा वस्तुओं की पूर्ति बढ़ती है तो उससे मुद्रास्फीति का प्रभाव कम हो जाता है यदि पचवर्षीय योजना में अल्पकालिक योजनाओं पर अधिक जोर दिया जाता तो ऐसा होना सभव था। इसके अभाव में योजना के लागू होने से मुद्रास्फीति का जोर बढ़ा है जिससे उपभोक्ताओं को हानि हुई है।

(४) योजना की सफलता विशेष कर उस संगठन की कार्यक्षमता पर निर्भर करती है जिस पर उसके कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व है। भारतीय प्रथम पचवर्षीय योजना की यह सबसे बड़ी कमी थी कि इसमें योजना को लागू करने के लिए किसी विशेष सगठन की व्यवस्था नहीं की गई। कुछ औद्योगिक और नदी घाटी योजनाओं को कार्यान्वित करने का कार्य स्वतन्त्र कार्पोरेशनों को सौंपा गया है। इन कार्पोरेशनों पर सरकार अपना नियन्त्रण रख सकने में विशेष समर्थ सिद्ध नहीं हुई है जिसके परिणाम स्वरूप जनता का बहुत सा रुपया नष्ट हो गया है, योजनाओं में प्रायः सशोधन किया गया है और आशानुकूल उत्पादन भी नहीं बढ़ा है। अन्य बहुत सी योजनाएँ राज्य सरकारों के अधिकार क्षेत्रों में रखी गई हैं और राज्य सरकारें इनको लागू करने का कार्य जिला अधिकारियों को सौंप देती हैं। यह प्रबन्ध सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हो सका है। जिला अधिकारी अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण विकास योजनाओं के प्रति पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाते हैं। कुछ राज्य सरकारों द्वारा नियोजन अधिकारियों का कार्य विशेष सन्तोषजनक नहीं रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि योजना को उचित रीति से लागू नहीं किया गया है और उससे जितनी आशा की जाती थी उतना लाभ नहीं हो सका। इसके विपरीत जो कुछ प्रगति हुई है वह केवल कागजों तक ही सीमित है। यदि भारत सरकार आई० ए० एस० की तरह 'भारतीय आर्थिक प्रशासन' (Indian Economic Service) के अन्तर्गत उपयुक्त कर्मचारी नियुक्त करती और इस प्रकार योजना को कार्यान्वित करने के लिये विशेष सगठन को जन्म दिया जाता तो इस दिशा में अधिक प्रगति की जा सकती थी। इससे कार्यालयों इत्यादि पर सरकारी व्यय में अवश्य वृद्धि होती परन्तु वह व्यय व्यर्थ नहीं जाता उससे पञ्चवर्षीय योजना की उपयोगिता बढ़ सकती थी।

इन दोषों के होते हुये भी इसमें सन्देह नहीं कि भारत की प्रथम पचवर्षीय योजना देश के आर्थिक विकास के सम्बन्ध में एक प्रशसनीय प्रयत्न था। आरम्भ में तो अवश्य ही योजना की सफलता कम होती। परन्तु यह देश के कृषि उद्योग, उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि करने के प्रयत्न का आरम्भ ही था।

सफलता की प्रगति

योजना आयोग द्वारा मई १९५७ में प्रकाशित प्रथम पंचवर्षीय योजना के पुनर्वीक्षण के अनुसार सम्पूर्ण पाँच वर्षों में किया गया व्यय २०१२.८ करोड़ रु० हुआ (जबकि संशोधित लक्ष्य २३७७.७ करोड़ रु० था)। इसमें से १२७७.३ करोड़ रु० बजट से प्राप्त आय थी तथा २०३.२ करोड़ रु० विदेशी सहायता से प्राप्त हुये। इस प्रकार लगभग ३६६ करोड़ रु० कम व्यय हुये। पहले पाँच वर्षों में राज्य सरकारों ने ८९७.५ करोड़ रु० तथा केन्द्रीय सरकार ने १११४.६ करोड़ रु० का व्यय किया।

चूँकि १९५५-५६ की वास्तविक संख्यायें पता नहीं है अतएव यह सम्भव है कि योजना का कुल व्यय २०१३ करोड़ रु० के बजाय १९६० करोड़ रु० हो जाय। प्रारम्भ में २९० करोड़ रु० के छोटे के अर्थ प्रबन्धन की व्यवस्था थी। वास्तव में यह ४२० करोड़ रु० हुआ। इसके फलस्वरूप भारतीय अर्थ व्यवस्था पर काफी भार पड़ा।

योजना में राष्ट्रीय आय के ५% के विनियोग को बढ़ा कर ७% तक करने का उद्देश्य था तथा पाँच वर्षों में ३५००-३६०० करोड़ रु० के विनियोग का लक्ष्य था। सरकारी क्षेत्र में लगभग १५०१ करोड़ रु० का विनियोग हुआ जब कि निजी क्षेत्र में १६०० करोड़ रु० का विनियोग हुआ। इस प्रकार पाँच वर्ष की अवधि में ३,००० करोड़ रु० विनियोग हुआ। १९५०-५१ की तुलना में योजना के अन्त तक विनियोग का स्तर लगभग दूना हो चुका था।

कुछ कार्यों में प्रथम योजना की प्रगति और सफलता निस्सन्देह आश्चर्यजनक रही है। खाद्यान्न इंजन और सूती कपड़ा के सम्बन्ध में १९५५-५६ में उत्पादन सोचे हुये १९५५-५६ के ध्येय से कहीं आगे बढ़ गया। अमोनियम सल्फेट, तटीय जलयात्रा और सीमेण्ट के सम्बन्ध में यद्यपि उत्पादन १९५५-५६ के अनुमानित ध्येय से कम ही रहा फिर भी काफी वृद्धि हुई है। कुछ ही कार्य ऐसे रहे हैं जिनमें आशा के विपरीत बहुत कम वृद्धि हुई है और उनमें १९५५-५६ तक भी सोचे हुये ध्येय तक वृद्धि न हो। इसलिये इस निर्णय पर पहुँचना कि पंचवर्षीय योजना ने अर्थ व्यवस्था पर अनावश्यक भार डाले बिना संतोषप्रद प्रगति की है, युक्ति संगत होगा।

अध्याय ४०

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

द्वितीय पचवर्षीय योजना की अवधि १९५६ ५७ से १९६०-६१ तक है। प्रथम पचवर्षीय योजना की अपेक्षाकृत इसकी धारणा (Conception) अधिक व्यापक और सुदृढ है। प्रथम पचवर्षीय योजना की सफलता और विकास की गति से प्रोत्साहित होकर योजना आयोग ने द्वितीय पचवर्षीय योजना को अधिक ऊँचे लक्ष्यों के साथ सामने रखा। द्वितीय योजना के प्रमुख उद्देश्य यह है कि (अ) राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो, जिसके फलस्वरूप देशवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा किया जा सके, (ब) अत्यन्त शीघ्रता से औद्योगीकरण हो, जिसके अन्तर्गत आधारभूत उद्योगो के विकास पर अधिक बल दिया जाय, (स) रोजगारी में वृद्धि हो, और (द) सामाजिक न्याय की व्यवस्था की जाय। यह उद्देश्य प्रथम पंचवर्षीय योजना के उद्देश्यों के अनुकूल ही हैं, अन्तर केवल इतना है कि द्वितीय योजना में औद्योगिक विकास को पहली योजना की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त एक अन्तर और भी है। भारत-सरकार ने 'समाजवादी ढाँचे पर आधारित समाज' (socialistic pattern of society) का आदर्श स्वीकार कर लिया है और इसी के फलस्वरूप द्वितीय पचवर्षीय योजना मे सामाजिक न्याय पर इतना जोर दिया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि नियोजन के द्वारा कृषि व औद्योगिक उत्पादन और कुल राष्ट्रीय आय मे वृद्धि करने की उस समय तक कोई सार्थकता नहीं जब तक कि उस वृद्धि के साथ साथ वितरण मे सुधार न हो क्योकि इसी वितरण के द्वारा निर्धन व्यक्तियों का जीवन पहले की अपेक्षाकृत अधिक उत्तम हो जाता है।

पूँजी निर्माण की गति—प्रथम योजना ने आगामी २७ वर्षो के लिए प्रगति का एक आदर्श सामने रखा। उस आदर्श या लक्ष्य के अनुसार यह अनुमान है कि २२ वर्षों म राष्ट्रीय आय और २७ वर्षों मे प्रति व्यक्ति आय दोगुनी हो जायगी। इसके अतिरिक्त २५ वर्ष से कुछ अधिक समय मे (१९५०५१ और १९७७ के बीच) प्रति व्यक्ति उपभोग की मात्रा में लगभग ७०% वृद्धि हो जायगी। द्वितीय पचवर्षीय योजना इस आदर्श के अनुरूप ही है।

सबसे कठिन समस्या जो योजना बनाने वालों के सम्मुख उपस्थित है वह विनियोग की उस दर का अनुमान है जिसको बिना किसी आशका के कार्यान्वित किया जा सकता है और राष्ट्रीय आय की वृद्धि पर उसका प्रभाव है। योजना

बनाने वालों को अब प्रथम योजना का अनुभव भी प्राप्त है जिसके सहारे वे अपने कार्य में आगे बढ़ सकते हैं। १९५०-५१ में विनियोग राष्ट्रीय आय का ४.९% था परन्तु १९५१-५२ में बढ़कर ७% हो गया। इस वृद्धि का कुछ भाग तो माल का बिना बिके जमा रहने के कारण था जिसके परिणाम स्वरूप आयात में बाहुल्य हो गया था। अगले दो वर्षों में विनियोग की दर घट कर राष्ट्रीय आय की ५% हो गई, १९५४-५५ में पुनः बढ़कर ६% या ६.५% हुई और बढ़ते बढ़ते योजना काल के अन्तिम वर्ष में ७.३% हो गई। यदि योजना काल की पूरी अवधि में विनियोग की दर का राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में प्रतिशत औसत लगाया जाय तो लगभग ६% होता है जो कोई विशेष आकर्षक नहीं है। इस विनियोग के परिणाम स्वरूप भारत की राष्ट्रीय आय लगभग १८% बढ़ी अर्थात् ९,११० करोड़ रुपयों से जितनी कि १९५०-५१ में थी बढ़कर १९५५-५६ में १०,८०० करोड़ रुपये हो गई।

तालिका १
आय और विनियोग में वृद्धि जिसकी आशा की जाती थी
१९५०-५१ से १९७१-७६ तक

(१९५२-५३ के मूल्य स्तर के आधार पर)

	प्रथम योजना १९५१-५६	द्वितीय योजना १९५६-६१	तृतीय योजना १९६१-६६	चतुर्थ योजना १९६६-७१	पंचम योजना १९७१-७६
अवधि के अन्त में राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपयों में)	१०८००	१३४८०	१७२६०	२१६८०	२७२७०
कुल वास्तविक विनियोग (करोड़ रुपयों में)	३१००	६२००	९९००	१४८००	२०७००
अवधि के अन्त में विनियोग का कुल राष्ट्रीय आय से प्रतिशत अनुपात	७.३	१०.७	१३.७	१६.०	१७.०
अवधि के अन्त में जन संख्या (१० लाख)	३८४	४०८	४३४	४६५	५०
वृद्धि की मात्रा का पूँजी और उत्पादन अनुपात	१.८८:१	२.३०:१	२.६२:१	३.३६:१	३.७०:१
प्रति व्यक्ति वार्षिक आय अवधि के अन्त में (रुपयों में)	२८१	३३१	३९६	४६६	५४६

द्वितीय पचवर्षीय योजना में यह मान लिया गया है कि राष्ट्रीय बचत तथा विनियोग में वृद्धि के कारण १९५५-५६ की राष्ट्रीय आय के ७·३% से १९६०-६१ में १०·७% बढ जाने से, राष्ट्रीय आय में लगभग २५% की वृद्धि हो जायगी अर्थात् १९५५-५६ के १०,८०० करोड रुपयों से १९६०-६१ में बढकर १३,४८० करोड रुपया हो जायगी। सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न इस सम्बन्ध मे यह है कि क्या भारत इतने अधिक विनियोग का भार वहन कर सकता है? योजना आयोग के अनुसार वहन कर सकता है जैसा कि प्रथम योजना का अनुभव तथा अन्य देशों का अनुभव बतलाता है :

"प्रथम योजना रिपोर्ट में १९५६-५७ से ५०% बचत करने की सीमान्त दर मान ली गई थी और इसके आधार पर यह अनुमान लगाया गया था कि १९६८-६९ तक देश की आर्थिक व्यवस्था में राष्ट्रीय आय का २०% विनियोग किया जायगा और आगे चलकर इसी स्तर पर स्थायी हो जायगा। अब ऐसा आभास होता है कि यह अनुमान अत्यधिक है। जिन प्रक्षेपों (projections) का अनुगणन किया गया है उनके आधार पर विनियोग का गुणक (Coeffici-ent) ७% से जो कि १९५५-५६ में था बढकर १९६०-६१ में ११% हो जायगा, १९६५-६६ तक गुणक के १४% और १९७०-७१ तक १६% तक बढ जाने का अनुमान है। उसके पश्चात् गुणक स्थिर रहेगा और १९७५-७६ तक १७% तक बढ जायगा (तालिका नं० १ के अनुसार)। १६% या १७% राष्ट्रीय आय का विनि-योग निस्सन्देह ऊँची दर है पर पहुँच के बाहर नहीं है। पाश्चात्य देशों में जिन्होंने अपना औद्योगिक विकास पहिले आरम्भ किया था पूँजी निर्माण की दर १० और १५ प्रतिशत के बीच रही है। जापान में विनियोग की दर का १९१३-१९३९ के बीच औसत १६ और २० के बीच था। रूस में १५ और २० प्रतिशत की दर निरन्तर स्थिर रही है। उन देशों के आकड़ों से जो ई० सी० ए० एफ० ई० (ecafe) क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं यह पता लगता है कि १९५० से कुल पूँजी का निर्माण बर्मा में १० से २० प्रतिशत के बीच, जापान में २४ से ३० प्रतिशत के बीच, लंका में १० से १३ प्रतिशत के बीच और फिलीपाइन्स में ७ से ८·५ प्रतिशत के बीच रहा है। भारत के सम्बन्ध में तुलनात्मक आँकडे १० से ११ प्रतिशत हैं। कुछ लैटिन अमरीकी देशों में इस सम्बन्ध के आँकडे १५ और २९ प्रतिशत के बीच प्रायः रहे हैं। कभी कभी स्तर कुछ ऊँचा भी हुआ है। पूर्वी योरुप के कुछ देशों में जैसे जैकोस्लोवेकिया और पोलैण्ड में पूँजी निर्माण की दर २० और २५ प्रतिशत के बीच रही है। नये विकासोन्मुख देशों में विनियोग की दर वर्तमान स्तर से निश्चय ही बढाई जा सकती है—यदि उपयुक्त विनियोग नीति का अनुसरण किया जाय

और यदि राज्य द्वारा विकास कार्यक्रम आरम्भ किये जायँ। इसलिये भारत के सम्बन्ध में यह धारणा बनाना कि प्रयत्न करने से विनियोग की दर ऊपर बताये गये स्तर तक बढ़ाई जा सकती है असगत नहीं हो सकता"।

प्रथम पचवर्षीय योजना का उद्देश्य था कि देश में जीवन की आधारभूत वस्तुओं के उपभोग को पुन. उस स्तर पर ले आया जाय जिस पर वह महायुद्ध के पूर्व था। द्वितीय पचवर्षीय योजना इस सम्बन्ध में एक पग आगे है और उसका लक्ष्य यह है कि योजना काल के अन्तर्गत कुल उपभोग की मात्रा में लगभग २०% और व्यक्ति उपभोग की मात्रा में १२ से १३ प्रतिशत की वृद्धि हो। कुछ विशेष वस्तुओं के प्रति व्यक्ति उपभोग के आकड़ों में इस बात का आभास मिलता है कि कितनी अधिक प्रगति का अनुमान लगाया गया है। पौष्टिक सलाहकार समिति (Nutrition Advisory Committee) ने यह अनुमान लगाया था कि एक वयस्क के प्रतिदिन के सन्तुलित आहार में कम से कम १४ औंस अन्न होना चाहिये। १९५०-५१ में प्रत्येक वयस्क प्रतिदिन १३ औंस अन्न का औसत उपभोग करता था। किन्तु प्रथम पचवर्षीय योजना के परिणाम स्वरूप १९५३-५४ में प्रतिव्यस्क प्रतिदिन अन्न के उपभोग की मात्रा बढ़कर १५ औंस हो गई। परन्तु चने और दालों का उपभोग अभी भी निम्नतम आवश्यकताओं से कम है। यह अनुमान लगाया गया है कि प्रति व्यस्क को प्रतिदिन २½ से ३ औंस तक चने और दालों का उपभोग करना चाहिये। किन्तु बढ़ती हुई जनसख्या और प्रति व्यक्ति की आय में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप अन्न के उपभोग में वृद्धि होगी अतएव द्वितीय पंचवर्षीय योजना मे देश के भीतर खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिये। "दूध, घी, मास, मछली, अडे, चर्बी, फल, तरकारियाँ और चीनी के उपभोग का वर्तमान स्तर निम्नतम आवश्यकताओं से बहुत कम है। द्वितीय योजना में रहन-सहन के अधिक ऊँचे स्तर की व्यवस्था करने के लिये पशु-पालन, मछली-उद्योग, मुर्गी पालन, तरकारियों की खेती और अन्य प्रकार की खाद्य सामग्री के उत्पादन पर विशेष ध्यान देना चाहिए"। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत में प्रति व्यस्क प्रति वर्ष के हिसाब से १५ गज सूती कपड़े का उपभोग करता था और प्रथम पचवर्षीय योजना के समाप्त होने पर कपड़े के औसत उपभोग का वही स्तर पुनः प्राप्त कर लिया गया है। सूती कपड़े की जाँच समिति की सिफारिश को मानकर द्वितीय पचवर्षीय योजना में १९६० तक प्रति व्यक्ति सूती कपड़े के औसत उपभोग को १८ गज करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

प्राथमिकता का क्रम—प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि, सिंचाई

श्रौर बिजली की शक्ति के विकास को प्रमुख महत्व दिया गया था श्रौर इन मदों पर योजना की कुल लागत की ४३ २% रकम व्यय करने का अनुमान था। इसके विपरीत द्वितीय पचवर्षीय योजना ने उद्योगों को प्राथमिकता दी है। प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उद्योगों पर कुल लागत की ७·६% रकम व्यय के लिये निर्धारित थी जबकि इस दूसरी योजना मे (जैसा कि तालिका २ में दिखाया गया है) कुल लागत का १८·५% व्यय होने का अनुमान लगाया गया है। प्राथमिकता के क्रम मे परिवर्तन करने के दो कारण हैं : (अ) कृषि, सिंचाई श्रौर शक्ति (विद्युत) के विकास पर प्रथम पचवर्षीय योजना में पहले ही से पर्याप्त ध्यान दिया गया है, श्रौर विकास की वर्तमान गति के द्वारा भी उन्हें पूर्ण रूप में विकसित किया जाना सभव है, अतएव उन पर कोई विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, श्रौर (ब) अब यह अनुमान किया जाने लगा है कि देश के आधार भूत उद्योगो को बगैर विकसित किए हुए यह सभव नहीं है कि भारत की राष्ट्रीय आय मे एक ऊँचे स्तर तक वृद्धि की जा सके अथवा बेरोजगारी की समस्या का ही कोई हल खोजा जा सके।

द्वितीय पचवर्षीय योजना का यह उद्देश्य है कि देश की राष्ट्रीय आय में प्रति

तालिका २

सरकारी क्षेत्र मे प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजना पर कुल लागत के तुलनात्मक आकडे

	प्रथम योजना		द्वितीय योजना	
	कुल लागत (करोड़ रुपयों में)	कुल का प्रतिशत	कुल लागत (करोड़ रुपयों में)	कुल का प्रतिशत
१ कृषि श्रौर सामुदायिक विकास	३५७	१५·१	५६८	११ ८
२ सिंचाई श्रौर शक्ति (बिजली)	६६१	२८·१	९१३	१९ ०
३. परिवहन श्रौर सचार	५५७	२३ ६	१३८५	२८·९
४ उद्योग श्रौर खनिज	१७९	७ ६	८९०	१८ ५
५. निर्माण कार्य श्रौर सामाजिक सेवायें	५३३	२२ ६	९४५	१९ ७
६ विविध	६९	३ ०	९९	२ १
कुल	२३५६	१००%	४८००	१००%

वर्ष लगभग ५% की वृद्धि हो और इस लक्ष्य की पूर्ति करने के लिये पाँच वर्ष की अवधि में कुल ६२०० करोड़ रुपये का वास्तविक विनियोग (Net Investment) करने की आवश्यकता होगी, जबकि प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत मूल रूप में वास्तविक विनियोग की रकम ३१०० करोड़ रुपये थी। अनुमान है कि इसमें से ३८०० करोड़ रुपये की रकम का विनियोग सरकारी क्षेत्र पर होगा, जिसकी व्यवस्था सरकार अपने वित्तीय साधनों से करेगी और शेष २,४०० करोड़ रुपये निजी क्षेत्र पर व्यय होंगे, जो निजी विनियोग द्वारा उपलब्ध होंगे। विकास सम्बन्धी व्यय में ४८०० करोड़ रुपयों की कमी जो कि प्रस्तावित वास्तविक विनियोग के कारण सरकारी क्षेत्र में आवश्यक होगा तालिका न २ में दिया हुआ है।

द्वितीय पचवर्षीय योजना की 'आधारभूत नीति' यह है कि (अ) इस्पात, यन्त्र-निर्माण, खनिज पदार्थ आदि के प्रमुख और आधारभूत उद्योगो पर यथासभव अधिक से अधिक धन विनियोग किया जाय और इसके विपरीत सामान्य उपभोग में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं के उद्योगों पर यथासंभव कम से कम धन व्यय किया जाय, और (ब) छोटे पैमाने के व घरेलू उद्योग-धधों के विकास को प्रोत्साहन दिया जाय, चाहे इस प्रयास में बडे पेमाने के उद्योगों की हानि ही क्यों न हो।

उद्योगो और खनिज पर प्रस्तावित ८९० करोड़ रुपयों के व्यय में से ६१७ करोड़ रुपयों के लगभग बडे और मध्य वर्ग के उद्योगों पर, ७३ करोड़ रुपये खनिज के विकास पर और २०० करोड़ रुपये ग्राम्य तथा छोटे उद्योगों पर व्यय किया जायगा। उद्योगों मे से लोहे और इस्पात उद्योग को सबसे अधिक भाग मिलेगा। प्रमुख विशेषता द्वितीय योजना की छोटे और कुटीर उद्योगों को प्राथमिकता देने की है, जिस पर २०० करोड़ रुपया व्यय करने के लिए नियत किया गया है।

यद्यपि द्वितीय पचवर्षीय योजना में उद्योगों और खनिज पदार्थों को प्रमुख रूप से प्राथमिकता दी गई है, किन्तु कृषि, परिवहन और सामाजिक सेवाओं की उपेक्षा नहीं की गई है। अनुमान है कि १९५५-५६ से १९६०-६१ तक द्वितीय योजना के अन्तर्गत खाद्यान्न का उत्पादन ६५० लाख से ७५० लाख टन, रुई का ४२ लाख से ५५ लाख गाँठ, गन्ने का ५०·८ लाख टन से ७०·१ लाख टन, तिलहन का ५५ लाख से ७० लाख टन, चाय का ६४·४ करोड़ से ७० करोड़ पौंड हो जायगा। सिंचाई की जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल ६·७ करोड़ एकड़ हो जायगा। इसी प्रकार राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं और सामुदायिक योजनाओं के मण्डलों की सख्या ५०० से ३८०० और ६२२ से ११२० क्रमश. हो जायगी। द्वितीय योजना की विशेषता यह है कि इसमें अनेकों कृषि उत्पत्ति की वस्तुयें जैसे

नारियल, सुपाडी, लाख, कालीमिर्च और बृककफल आदि, जिनकी ओर प्रथम योजना में ध्यान नहीं दिया गया था, इसमें सम्मिलित कर ली गई हैं और उनके विकास का ध्येय निश्चित कर दिया गया है। द्वितीय योजना में कृषि का विकास अधिक विस्तृत ढंग पर होगा।

जहाँ तक परिवहन से सम्बन्ध है भारतीय रेलों की यात्रियों तथा माल ले जाने की शक्ति बढा दी जायगी। रेलपथ १० करोड़ ८० लाख मील से बढाकर १२ करोड़ ४० लाख मील और माल की ढुलाई १२ करोड से १६ करोड २० लाख हो जायगी। इसी काल मे राष्ट्रीय सड़कें १२,६०० मील से १३,८०० मील और कच्ची सड़कें १०७,००० मील से १२५,००० मील बढकर हो जायँगी। तटीय व्यापार में जलयानो द्वारा टनेज ३·२ लाख जी० आर० टी० से बढकर ४ ७ लाख जी० आर० टी० हो जायगा। भारतीय बन्दरगाहों की माल चढाने और उतारने की शक्ति २ करोड ५० लाख टन से बढकर ३ करोड़ २५ लाख टन हो जायगी।

तालिका २ मे प्रकट होता है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत (अ) हाथ के करघे और शक्तिचालित करघे से तैयार किये गए कपडे, रासायनिक खादों, लोहे व इस्पात, एल्यूमीनियम और कोयले के उत्पादन में सब से अधिक वृद्धि होगी, (ब) भारी रसायनों, धातु के सामान, अभ्रक, मेगनीज, साइकिलों, सीने की मशीनों और बिजली के उत्पादन में अपेक्षाकृत कम वृद्धि की जायगी, और (स) मिल में तैयार होने वाले सूती कपड़ों, ऊनी सामान, चीनी, साबुन, जूतों और वनस्पति तेलो के उत्पादन मे और भी कम वृद्धि होगी। इस प्रयास मे यह ध्यान रखा गया है कि आधारभूत और प्रमुख उद्योगों का यथासम्भव अधिक से अधिक विकास किया जाय और जहाँ तक अन्य उद्योगों का सम्बन्ध है, उनके उत्पादन के द्वारा आत्मनिर्भरता के अधिक से अधिक निकट पहुँचा जाय।

रोजगार उपलब्ध कराने की क्षमता (Employment potential)—द्वितीय पचवर्षीय योजना का एक मूलभूत उद्देश्य यह भी है कि रोजगारी के पर्याप्त अवसर उत्पन्न किए जायँ। भारतीय अर्थ व्यवस्था की इसी आवश्यकता के फलस्वरूप कृषि की अपेक्षाकृत उद्योगों पर अधिक बल दिया गया है। इस योजना को इतना अधिक विस्तृत बनाने का आंशिक कारण यह है कि बेकारी की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया जाय। द्वितीय योजना काल मे नये काम करने वालों की सख्या जो वर्तमान सख्या मे जुड़ जायगी लगभग १ करोड़ के अनुमान की गई है। यदि उसमें से ३८ लाख व्यक्तियो को, जो नगर की मजदूर सख्या मे वृद्धि अनुमानित है, पृथक कर लें तो जितने मजदूर देहातों के क्षेत्र में बढेंगे उनकी

सख्या ६२ लाख के लगभग आती है। यदि एक करोड़ नये श्रमिकों की सख्या में ५३ लाख पहले के बेकारों की सख्या (२५ लाख नगरों की और २८ लाख ग्राम्य क्षेत्र में) जोड़ दी जाय तो कुल बेकारो की सख्या १९५६-६१ में लगभग १ ५३ करोड़ हो जायगी। इतने नये व्यक्तियों को काम करने का अवसर प्राप्त करवाना सम्भव नहीं है। कदाचित ८० लाख व्यक्तियों के लिये द्वितीय योजना में काम के नये अवसर दिये जा सकते हैं। किंतु रोजगारी के अतिरिक्त अवसरों की केवल योजना-मात्र गढ़ लेने से तो समस्या हल नहीं की जा सकती। व्यापार और उद्योगों का प्रसार मात्र करके यह आशा करना कि उनके द्वारा अब अधिक व्यक्तियों की खपत अपने आप होने लगेगी व्यर्थ है। इस समय ऐसे अनेक व्यवसाय हैं जिनमे आवश्यकता से अधिक लोगो को खपा लिया गया है। इसका परिणाम यह होगा कि जैसे-जैसे उन व्यवसायों में काम की वृद्धि होगी, वैसे-वैसे पहले से ही अधिक सख्या में काम करने वाले व्यक्तिया पर काम का बोझ अधिक होता जायगा और इस प्रकार उन व्यवसायों मे रोजगार के अवसरों में वृद्धि नहीं हो सकेगी। कुछ उद्योगों और व्यापारिक सस्थाओं में अभिनवीकरण की योजनाएँ लागू किये जाने की भी सम्भावना है, जिसका फल यह होगा कि प्रसार किये गये उन उद्योगों में रोजगार के लिये और भी अधिक कम सख्या में लोगों की खपत की जा सकेगी। योजना आयोग इन कठिनाइयो से भली भाँति परिचित है। "रोजगारी में अनुमानित वृद्धि लाने के लिए वित्त और उपयुक्त नीति का अनुसरण करने की आवश्यकता तो होगी ही, उसके साथ-साथ सुगठित सङ्गठन की भी व्यवस्था करनी पड़ेगी। बेकारी दूर करने के लिये छोटे छोटे उद्योग-धन्धों को विकसित करने पर अधिक बल दिया गया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि सुव्यवस्थित प्रयत्नों के अभाव में इनका उस सीमा तक विकास और प्रसार नहीं हो सकता। काम करने के अवसर प्रदान करने का अर्थ केवल नौकरियों की जगहें बढ़ा देना मात्र नहीं है। यह जगहों के बढ़ा देने के प्रति जनता की प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है। रोजगारी की व्यवस्था करने का यह भी अर्थ है कि भिन्न-भिन्न कर्मचारियों के लिए जितने प्रशिक्षण की आवश्यकता है उसे प्रदान करने की सुविधाओं का प्रबन्ध किया जाय। यह अनुमान लगाया गया है कि अनेक क्षेत्रों में उत्पादन वृद्धि होने के फलस्वरूप उसी अनुपात में थोड़ी या बहुत मात्रा में रोजगारी में भी वृद्धि होगी। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि अत्यधिक अभिनवीकरण पर नियन्त्रण किया जाय। साथ ही यह भी देखने की आवश्यकता है कि कहीं पहले से रोजगार प्राप्त लोगों की मजदूरी बढ़ जाने से उस वस्तु की माँग में कमी न आ जाय और इस प्रकार बेकार लोगों की स्थिति और भी न बिगड़ जाय।"

वित्त व्यवस्था—योजना की सफलता वित्त की प्राप्ति पर निर्भर है। भारत में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि राष्ट्रीय बचत का स्तर राष्ट्रीय आय के अनुपात में बहुत कम है। इसलिये विदेशी वित्तीय सहायता पर निर्भर रहना आवश्यक हो जाता है। द्वितीय योजना के अनुसार विकास सम्बन्धी ४८०० करोड़ रुपयों के व्यय का प्रबन्ध तालिका नं० ३ में जैसा दिखाया गया है किया जायगा। उसमें से ८०० करोड़ रुपया केन्द्रीय और राज्य सरकारों की अतिरिक्त आय से, १२०० करोड़ रुपया सरकारी ऋण से, ४०० करोड़ रुपया अन्य बजट में व्यक्त आय स्रोतों से, ८०० करोड़ रुपया विदेशी सहायता से और १२०० करोड़ रुपया घाटे के बजट से प्राप्त किया जायगा। इसमे ४०० करोड़ रुपयों की कमी पड़ेगी जिसका प्रबन्ध या तो नये करों मे प्राप्त आय द्वारा अथवा अधिक घाटे के अर्थ प्रबन्ध द्वारा या अधिक विदेशी सहायता द्वारा या द्वितीय योजना के विस्तार को कम करके किया जायगा।

सरकारी क्षेत्र में विकास योजनाओं का अर्थ प्रबन्ध एक दूसरे दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। पाँच वर्षों की अवधि में ४८०० करोड़ रुपयों के व्यय में से लगभग १००० करोड़ रुपयों का व्यय तो शिक्षा, स्वास्थ्य, वैज्ञानिक अन्वेषण और राष्ट्रीय विकास आदि पर चालू व्यय के रूप में होगा। इस प्रकार के व्यय से पूँजी का प्रत्यक्ष रूप से निर्माण नहीं होता और इसलिये विनियोजित व्यय नहीं माना जाता। ऐसे क्षेत्रों पर व्यय चालू आय स्रोतों से पूरा किया जाता है। इसलिये वास्तविक विनियोग ३८०० करोड़ रुपयों का है और इसका प्रबन्ध ऋण द्वारा किया जा सकता है। विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में जहाँ पर पूँजी निर्माण सम्बन्धी व्यय उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, वहाँ यह वाञ्छनीय होगा कि उसके एक अंश का प्रबन्ध कर से प्राप्त अतिरिक्त आय में से किया जाय। इस सिद्धान्त पर प्रथम योजना की रिपोर्ट में जोर दिया गया था और इस पर फिर जोर देना चाहिये। योजना के अर्थ प्रबन्ध की व्यवस्था में चालू आय में से केवल ८०० करोड़ रुपयों के प्रबन्ध की व्यवस्था की गई है जब कि चालू व्यय के अनुसार १००० करोड़ रुपयों की आवश्यकता है। रेलवे से प्राप्त १५० करोड़ रुपयों की आय को चालू आय का भाग समझना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि कुल चालू आय से योजना के लिये प्राप्त वित्त ६५० करोड़ रुपयो का हुआ जब कि चालू व्यय की मात्रा १००० करोड़ रुपया अनुमान की गई है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सरकारी आय में कुछ भी बचत नहीं है जिसका प्रयोग ३८०० करोड़ रुपये के विनियोग के लिए किया जाय, वास्तव मे ५० करोड़ रुपयो का घाटा है। दूसरे शब्दो मे कुल ३८०० करोड़ पूँजी निर्माण का अर्थ-प्रबन्ध व्यक्तिगत बचत द्वारा

ही करना सम्भव होगा। यदि ८०० करोड़ रुपयों की विदेशी वित्तीय सहायता को अलग कर दिया जाय क्योंकि यह विदेशों की बचत पर निर्भर है और २०० करोड़ रुपयों की सहायता पौण्ड पावने की बची हुई रूप से प्राप्त की जाय, तो देश की आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत चालू बचत की मात्रा जो कि सरकारी योजनाओं में विनियोजित की जायगी, २८५० करोड़ रुपयों के बराबर ठहरती है। यदि यह मान लिया जाय कि ४०० करोड़ रुपयों की कमी सरकारी बचत द्वारा पूरी करली जायगी तो व्यक्तिगत बचत की मात्रा जो सरकारी क्षेत्र में स्थानान्तरित की जायगी वह २४५० करोड़ रुपयों की होगी।

तालिका न० 3
सरकारी क्षेत्र के लिये वित्त के स्रोत

(करोड़ रुपयों में)

१. चालू आय के अतिरिक्त से .	८००
(1) १९५५-५६ में प्रचलित कर की दर से . . .	३५०
(ii) अतिरिक्त कर मे	४५०
२ जनता से प्राप्त ऋण से	१२००
(1) बाजार ऋण (Market loans)	७००
(ii) छोटी बचत	५००
३. बजट के अन्य आय स्रोतों से	४००
(1) रेल का विकास कार्यक्रम में योगदान ...	१५०
(ii) प्रोविडेन्ट फण्ड तथा अन्य शीर्षों के अन्तर्गत जमा धन से	२५०
४. विदेशों के स्रोतों से	८००
५ घाटे के अर्थ प्रबन्ध से	१२००
६ कमी—देशीय अतिरिक्ति स्रोतों से पूरी की जायगी . . .	४००
कुल	४८००

"क्या यह मान लेना युक्तिसंगत न होगा कि २४५० करोड़ रुपयों तक की व्यक्तिगत बचत की रकम सरकार को विनियोग के लिये प्राप्त हो जायगी? इस सबंध में बाजार मे ऋण लेने, छोटी मात्रा की बचत और घाटे के अर्थ प्रबन्ध में अन्तर बहुत साधारण महत्व की बात है। ये सब व्यक्तिगत बचत को अपनी ओर से अथवा मूल्य की वृद्धि द्वारा बरबश राजकीय कोष मे पहुँचाने के ढङ्ग हैं। व्यक्तिगत बचत की मात्रा राजकीय कोष में कितनी और किस ढङ्ग से पहुँचती है जनता की अपनी सम्पत्ति को रोकड़, सरकारी ऋण पत्रों, तथा छोटी मात्रा वाले सेविंग

सर्टीफिकेट के रूप में या जमा धन के रूप में रखने की इच्छा पर निर्भर रहता है। जब तक कुल बचत जो सरकारी कोष मे पहुँचती है पर्याप्त मात्रा मे रहती है तब तक इस बात से लोग उदासीन रहते हैं कि बचत की रकम ऋण पत्र, छोटी मात्रा के सेविंग सर्टीफिकेट अथवा सरकारी नोट के रूप में है। ऐसी स्थिति में सबसे प्रमुख महत्ता की बात यह जानने में है कि क्या जनता की व्यक्तिगत बचत की मात्रा को हम व्यक्तिगत क्षेत्र की आवश्यकता से उतनी अधिक होने की आशा कर सकते हैं जितनी कि सरकारी क्षेत्र की आवश्यकता है। व्यक्तिगत बचत इस दृष्टिकोण से पर्याप्त तभी हो सकती है जब कि उपभोग पर आवश्यक नियन्त्रण लगाया जाय। दूसरे शब्दों मे इसका अर्थ है कि प्रत्यक्ष रूप से जितने ही कम अनुपात में जनता की बचत सरकार को अतिरिक्त करों की आय के रूप में अथवा सरकारी अनुक्रमों के लाभांश के रूप में होगी उतनी ही अधिक आवश्यकता ऐसे उपायों के प्रयोग मे लाने की बढती जायगी जिनसे उपभोग आवश्यक सीमा से आगे न बढे"।

"केन्द्र और राज्यों के बजट स्रोतों मे जो आय करो, ऋण, तथा अन्य उपायों से प्राप्त की जा सकती है वह लगभग २४०० करोड़ रुपये की है। घाटे के अर्थ प्रबन्ध द्वारा लगभग १२०० करोड रुपयों की और आय बढाई जा सकती है। इस मात्रा मे यदि ८०० करोड़ रुपयों की विदेशी वित्तीय सहायता और जोड़ दी जाय तो कुल आय जो सरकारी क्षेत्र में योजना के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये प्राप्त होगी वह ४४०० करोड़ रुपया होती है। इससे ४०० करोड़ रुपयों की कमी रह जाती है जिसके प्राप्त करने के विस्तृत उपायों को बाद मे ढूँढा जायगा। यह तो मान लिया गया है कि यह कमी देश के स्रोतो में वृद्धि द्वारा ही पूरी की जायगी। घाटे के अर्थ प्रबन्ध की सीमा को विचाराधीन रखते हुये जिसके बारे में ऊपर संकेत किया जा चुका है तथा इस बात को भी विचाराधीन रखते हुए कि जिस अर्थ प्रबन्ध की योजना की रूपरेखा यहाँ बताई गई है उसमे ऋण पर आवश्यकता से अधिक भरोसा किया गया है, इस कमी को पूरा करने का एक ही उपाय जिस पर निर्भर रहा जा सकता है वह करों का आरोग्य, तथा सम्भावित सीमा तक सरकारी उपक्रमों का लाभांश है।"

द्वितीय योजना को इस बात का पूरा ज्ञान है कि १२०० करोड़ रुपयो के घाटे के अर्थ प्रबन्ध किये जाने से मुद्रास्फीति की दशा उत्पन्न हो जायगी। योजना बनाने वालों ने ऐसी स्थिति से बचाव के लिये अनेक प्रतिबन्धो का निर्देश दिया है। उनके विचारानुसार :—

"सबसे प्रमुख संरक्षण का उपाय बहुत बड़ी मात्रा मे खाद्यान्न एकत्रित करके

रख लेना होगा जिससे जब जब मुद्रास्फीति का प्रभाव जोर पकडे तो उसका निराकरण किया जा सके। जहाँ की आर्थिक व्यवस्था में तीव्रगति से विकास का प्रयत्न किया जा रहा है वहाँ चाहे कितनी ही समझदारी से अर्थ प्रबन्ध क्यों न किया जाय मुद्रास्फीति का भय पूर्णतया मिटाया नहीं जा सकता। मुद्रास्फीति से सबसे उत्तम बचाव का ढग मुद्रास्फीति न होने देना है परन्तु ऐसी नीति जिसमें मुद्रास्फीति तो हो पर उसके दुष्प्रभावों से बच निकलें कभी सफल नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में कुछ जोखिम तो उठानी ही पडेगी। इस जोखिम से बचने का सबसे अधिक सफल उपाय खाद्यान्नों के और अन्य आवश्यक वस्तुओं के भण्डार पर अधिकार रखना है ताकि जब इनकी कमी पडे तो बाजार में इनकी पूर्ति बढा दी जाय। भारतीय आर्थिक व्यवस्था में अन्न और वस्त्र के मूल्यों का विशेष महत्व है और इनमें अधिक वृद्धि हर प्रकार से रोकना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक इन वस्तुओं के मूल्य को युक्ति-सगत स्तर पर रक्खा जा सकेगा तब तक देश की अधिकाश जनसख्या के जीवनस्तर की लागत नियन्त्रण में रहेगी। अन्य वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि अपेक्षाकृत कम महत्ता की बात होगी यद्यपि व्यवस्था में किसी भी वस्तु के मूल्य मे अत्यधिक वृद्धि होने से द्रव्य के अपेक्षाकृत कम आवश्यक उपयोग की वस्तुओं पर व्यय किये जाने का भय है। यदि ऐसा हो जाय तब उसे ठीक करने का प्रयत्न करना आवश्यक होगा। मुद्रास्फीति के प्रभावों से बचने का दूसरा उपाय विवेचनात्मक (discriminating) परन्तु तुरन्त ही करारोप के उपाय का अनुसरण कुछ वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक उपयोग होने से बचाने के लिये और अत्यधिक लाभाश तथा अनायास प्राप्त हुये लाभाश को रोक देने के लिये (जिनका कि घाटे के अर्थ प्रबन्ध में उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है) अत्यन्त आवश्यक होगा। अन्त में, कन्ट्रोल के उपाय का जिसमें राशनिंग तथा मात्रा नियत करना आदि सम्मिलित होंगे उपभोग के उचित सीमा से आगे जाने से रोकने के लिये तथा दुर्लभ वस्तुओं और कच्चे माल आदि के प्रयोग में मितव्ययता लाने के लिये प्रयोग करना आवश्यक होगा। परन्तु अतीत का अनुभव बताता है कि आवश्यक प्रयोग की वस्तुओं पर कन्ट्रोल लम्बी समयावधि के लिये विश्वस्त उपाय सिद्ध नहीं होंगे। इस कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि इसके अतिरिक्त अन्य बचाव के उपायों का प्रयोग पूर्ण रूप से किया जाय क्योंकि योजना के कार्य-क्रम में कमी करने की सम्भावना तो अत्यन्त कठिनाई में पडने पर ही करना उचित होगा।"

आलोचना—द्वितीय पचवर्षीय योजना की धारणा प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक व्यापक और सुदृढ है। जब यह योजना समाप्त होगी तो प्रति

व्यक्ति की वास्तविक आय में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होगी और लोगों की आर्थिक स्थिति में निश्चित रूप से सुधार होगा। द्वितीय योजना की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं :

(१) इसके अन्तर्गत भौतिक (physical) नियोजन पर बल दिया गया है, न कि वित्तीय (financial) नियोजन पर। इसका अर्थ यह है कि लक्ष्य भौतिक उत्पादन के रूप मे निर्धारित किये गये हैं जैसे इतने लाख टन इस्पात, कोयला, सीमेन्ट आदि और फिर इन भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लक्ष्यो के लिये वित्त को निर्धारण किया गया है। प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत पर्याप्त दर से व्यय नहीं किया जा सका और वास्तविक रूप में विकास का क्रम भी नहीं जारी रह सका, क्योंकि वह वित्तीय नियोजन पर आधारित था। भौतिक नियोजन मे इस बात पर बल नहीं दिया जाता है कि अमुक योजना पर कितनी मात्रा में धन व्यय किया गया है, वरन् उसमे महत्वपूर्ण बात यह रहती है कि उस वस्तु के उत्पादन में कितनी सफलता प्राप्त हुई है। इसका परिणाम यह होता है कि नियोजन मे अधिक वास्तविकता आ जाती है। किन्तु भौतिक और वित्तीय लक्ष्यों में समन्वय स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि निम्न विषयों पर विस्तृत और यथार्थ सूचना प्राप्त की जाय (अ) भिन्न भिन्न वस्तुओ की प्रत्येक इकाई का उत्पादन करने मे कितनी मात्रा में कच्चे माल, शक्ति, श्रम आदि की आवश्यकता होती है, और (ब) भविष्य में इन विभिन्न कच्चे मालो व श्रम आदि का क्या-क्या मूल्य होगा। अभाग्यवश भारत मे इनसे सम्बन्धित सही-सही और विश्वसनीय सूचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं और इसीलिए यह आशका उत्पन्न होती है कि भौतिक नियोजन से समस्या हल होने के स्थान पर कहीं और जटिल न हो जाय। "लोकतान्त्रिक नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुये एक ऐसे देश में जहाँ का शासन-यंत्र आर्थिक नियोजन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता और जहाँ का प्रत्येक विभाग और प्रत्येक मन्त्रालय अपनी चलाई हुई योजनाओं पर यथासभव अधिकतम धन व्यय करने का प्रयत्न करता है, वित्तीय नियोजन के स्थान पर भौतिक नियोजन पर बल देने का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि (क) अत्यधिक धन का अपव्यय होगा और (ख) अधिक मात्रा में सरकारी व्यय के कारण मुद्रास्फीति की प्रवृतियों के उत्पन्न होने की सभावना है। प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत वित्त मन्त्रालय ने यह सिद्धात सामने रखा कि विशेष परिस्थितियों को छोड कर अन्य स्थितियों मे किसी को भी निर्धारित रकम से अधिक व्यय करने की स्वीकृति नही दी जानी चाहिये और इस प्रकार सरकारी व्यय पर कड़ा नियन्त्रण स्थापित किया गया। किन्तु जहाँ तक भौतिक नियोजन का सम्बन्ध

है, यह तर्क बिल्कुल निरर्थक है। चूंकि द्वितीय पचवर्षीय योजना का मूलभूत उद्देश्य है कि निर्धारित किये गये भौतिक लक्ष्यों (physical targets) की पूर्ति की जाय, अतएव भिन्न-भिन्न विभागों और मन्त्रालयों को अपने निर्धारित वित्त से कुछ अधिक व्यय कर सकने की छूट प्राप्त होगी। सरकारी व्यय में कमी करना अथवा योजना-काल के अन्तर्गत अनुमानित रकम का विनियोग न कर सकना योजना का एक दोष है। किन्तु उससे भी बड़ा दोष यह है कि धन का अपव्यय किया जाय और उसके फलस्वरूप सरकारी धन की हानि तो हो ही साथ ही साथ अनियन्त्रित मुद्रास्फीति के दुष्परिणामों का भी सामना करना पड़े[1]।" इससे यह प्रकट होता है कि वित्तीय नियोजन से सम्बद्ध खतरों और भूलों से बचने के लिये अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वित्तीय नियोजन के स्थान पर भौतिक नियोजन पर बल दिये जाने से द्वितीय पंचवर्षीय योजना में अधिक वास्तविकता आ गई है।

(२) द्वितीय योजना ने प्रमुख रूप से औद्योगिक विकास पर बल दिया है। प्रथम पचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि और शक्ति (बिजली) के विकास को प्राथमिकता दी गई थी। इस प्रकार द्वितीय योजना से देश का आर्थिक विकास अधिक सन्तुलित हो जायगा। औद्योगीकरण पर इसलिए जोर दिया गया है कि (अ) प्रथम योजना के अन्तर्गत कृषि और सिंचाई में पहले ही से काफी प्रगति हो चुकी है और इसीलिए उद्योगों पर अधिक ध्यान देना आवश्यक हो गया है, क्योंकि प्रथम योजना के अन्तर्गत उद्योगों की उपेक्षा की गई थी; (ब) यदि हम प्रमुख रूप से केवल कृषि पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं तो यह सभव नहीं है कि तेजी से बढ़ती हुई जनसख्या के साथ-साथ बेरोजगारी और आशिक रोजगारी की समस्या को हल किया जा सके। औद्योगिक विकास को प्राथमिकता देने का यह उद्देश्य है कि बेरोजगारी और आशिक रोजगारी की समस्या को हल करने मे सहायता मिले, और (स) पहले की अपेक्षाकृत यह अधिक स्पष्ट रूप से अनुभव किया जाने लगा है कि देश की आर्थिक सम्पन्नता अन्तत औद्योगीकरण से सम्बन्ध रखती है।

(३) प्रथम पचवर्षीय योजना की अपेक्षाकृत द्वितीय योजना के अन्तर्गत 'सामाजिक न्याय' पर अधिक ध्यान दिया गया है। प्रथम योजना का उद्देश्य यह था कि देश में महायुद्ध के पूर्व दैनिक उपयोग की वस्तुओं की जिस मात्रा में खपत

1 *Vide* the Author's article on "Some Basic Considerations about the Second Five-year Plan" in the *Commerce*, dated July 2, 1955, page 15

होती थी, उसी स्तर को फिर से ले आया जाय। द्वितीय योजना एक पग और आगे बढ गई और उसका लक्ष्य यह है कि उसके समाप्त होने पर देश के कुल उपभोग में लगभग २०% और प्रति व्यक्ति के उपभोग में १२-१३ प्रतिशत की वृद्धि हो। यह सभव होगा या नहीं, किन्तु द्वितीय पचवर्षीय योजना के समाप्त होने तक राष्ट्रीय आय की १०% राशि करों के रूप में ली जायगी, जबकि अभी तक करों के रूप में ली जाने वाली राशि इसकी ७% है और गृह निर्माण, सामाजिक कल्याण आदि पर अधिक रकम व्यय करने की व्यवस्था की गई है क्योंकि इनके द्वारा धनिकों की अपेक्षा निर्धनों को अधिक लाभ होता है। इसी कारण द्वितीय पचवर्षीय योजना को प्रगतिशील कहा जा सकता है।

निःसदेह द्वितीय पचवर्षीय योजना में ऐसे अनेक दोष हैं जो इसे एकाङ्गी और अति-आकाक्षी (over-ambitious) बना देते हैं। सबसे पहले तो यही तर्क रखा जाता है कि वर्तमान परिस्थितियों में द्वितीय योजना के लिए यह सभव नहीं है कि वह पाँच वर्ष की अवधि मे कुल ६,२०० करोड़ रुपए के वास्तविक विनि-योग (net investment) का प्रबन्ध कर सके, या दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि १९५५-५६ में राष्ट्रीय आय की जो ७·३% राष्ट्रीय बचत होगी, उसे १९६०-६१ तक राष्ट्रीय आय की १०·७% कर देना संभव नहीं होगा। इस धारणा का समर्थन कुछ ऐसे विदेशी राष्ट्रों के अनुभवों के दृष्टान्त देकर किया गया है जहाँ पर लोकतान्त्रिक आधार पर नियोजन हुआ है या हो रहा है। प्रो० वी० आर० शिनोय की यह धारणा है कि "अपने पिछले वर्षों के और दूसरे जनतान्त्रिक देशों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अभी कुछ समय तक यह आशा करना व्यर्थ है कि विकास कार्य-क्रम के लिए इतने अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध होंगे, जिनसे राष्ट्रीय आय में होने वाली वृद्धि की दर दुगुनी हो जायगी। इस समय हमारे देश में राष्ट्रीय बचत की दर राष्ट्रीय आय की ७% या इससे भी कुछ कम है। पिछले पाँच वर्षों के अन्तर्गत इसमे लगभग १% वृद्धि हुई है। यह अनुमान करना कि भावी पाँच वर्षों में वृद्धि की दर बहुत अधिक तेज हो जायगी, केवल दुराशा-मात्र है। सरकार ने यह नीति घोषित की है कि आय वितरण की अस-मानताओं को यथासभव कम किया जायगा, जिसका परिणाम यह होगा कि सम्पूर्ण बचत की रकम में घटती हो जायगी। चूँकि हमारे देश के अधिकाश लोग जिस मात्रा मे खाद्यान्न का उपयोग करते हैं, वह राष्ट्रीय औसत और पौष्टिक भोजन के निम्नतर स्तर से कम है, इसलिए यह अनुमान है कि दैनिक उपयोग के व्यय में जो वृद्धि होगी उसका ५०% तो खाद्यान्न पर ही व्यय कर दिया जायगा। परम्परा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इधर कई वर्षों मे पैदावार

अच्छी अवश्य हुई है, किन्तु फिर भी सभावना है कि आगामी वर्षों में फसलें बिल्कुल ही खराब होंगी या उनसे कम पैदावार होगी। इन परिस्थितियों में यह अनुमान करना कि भावी पाँच वर्षों में बचत की दर ८ प्रतिशत से अधिक होगी उचित नहीं है। किन्तु इसके साथ ही बचत की दर में अनुमान से अधिक वृद्धि होना भी बिल्कुल असभव नहीं है। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि बचत की उक्त दर से जिस मात्रा में वित्तीय साधन वास्तव में उपलब्ध होंगे, उन्हीं के अनुरूप योजना के आकार को बनाने के लिए उसमे सशोधन किए जाय और राष्ट्रीय आय की अनुमानित वृद्धि के अनुसार ही विनियोग की रकम निर्धारित की जाय"।[1]

यह तर्क दिया जा सकता है कि किसी भी योजना के अन्तर्गत अनुमानित व्यय की रकम स्वभावतः ही प्रयोगिक (Tentative) रूप में निर्धारित की जाती है और यदि अनुमानित साधन उपलब्ध न हों तो योजना की लागत को उसी के अनुसार घटाया जा सकता है। किन्तु इस तर्क के विरोध में यह कहा जा सकता है कि (अ) "इस प्रकार सशोधन करने से नियोजन में गडबड़ी आ जाती है। सबसे बड़ा दोष तो यह है कि अनुमानित विनियोग और उत्पादन के स्तर में बहुत अधिक कमी कर देने से सामान्य जनता में योजना के प्रति निराशा उत्पन्न हो जाने की सभावना रहती है। यदि सरकार कृत्रिम रूप से विनियोग की दर को लादने का प्रयास करती है, तो उसके फलस्वरूप निश्चित रूप से भीषण मुद्रास्फीति का उदय होगा। आर्थिक नियम अत्यन्त कठोर होते हैं और उनके लागू होने में साँख्यिकों (Statisticians), अर्थ-शास्त्रियों या राजनीतिज्ञों की सुविधा-असुविधा पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। यदि कोई भूल की जाती है, तो उसके दुष्परिणाम हमें निश्चित रूप से भुगतने पड़ेंगे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिक से अधिक यथार्थवादी होकर अधिकतम सावधानी बरतने की आवश्यकता है", और (ब) "वास्तव में जितने साधन उपलब्ध हैं, उनकी क्षमता से अधिक विकास कार्य-क्रम को बलपूर्वक गतिशील बनाने का अनिवार्य रूप से यह परिणाम होगा कि अनियन्त्रित मुद्रास्फीति उत्पन्न होगी। एक ऐसे जनतान्त्रिक देश में, जहाँ की अधिकाश जनता के पास जीविका-निर्वाह के केवल निम्नतम साधन हैं, वहाँ मुद्रास्फीति के परिणाम अत्यन्त भयकर होंगे और सम्भव है कि उनसे समाज का वर्तमान ढाँचा भी जर्जर हो जाये। यदि मुद्रास्फीति को रोकने के लिए साम्यवादी

1 Prof B R Shenoy, "A Note of Dissent on the Memorandum of the Economists' Panel", p 4 Also see for a summary of this note *Commerce*, dated May 28, 1955, p 15

अर्थ व्यवस्था के समान भौतिक साधनो का सहारा लिया गया तो योजना की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए शासन-सम्बन्धी या अन्य वैधानिक उपायों के द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और जनतान्त्रिक सस्थाओं का (धीरे धीरे या तेजी से) लोप हो जायगा। अतएव अतिआकाक्षी योजना के भयकर दुष्परिणामों के प्रति हमे सचेत रहने की आवश्यकता है"।[1]

द्वितीय पचवर्षीय योजना की आलोचना का दूसरा आधार यह है कि उसके अन्तर्गत उपभोक्ता की क्रय शक्ति पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। जब किसी विकास कार्य-क्रम पर धन व्यय किया जाता है तो वह श्रमिकों, कच्चे माल की पूर्ति करने वालों और अन्य व्यक्तियों को प्राप्त होता है, जो स्वय उस धन को उत्पादित वस्तुओं पर व्यय करते हैं। वस्तुतः आर्थिक विकास की यही प्रक्रिया है। यदि सभी दृष्टिकोणों से विचार करें तो ज्ञात होगा कि धन-उपार्जन करने वालों के द्वारा उसका व्यय किया जाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी के फलस्वरूप उत्पादित वस्तुओं को बेचने का अवसर प्राप्त होता है जिसका परिणाम यह होता है कि उन बिकी हुई वस्तुओं के फलस्वरूप फिर नई वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। उत्पादन की प्रक्रिया को बराबर जारी रखने के लिए आवश्यक है कि उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति (purchasing power) में वृद्धि हो। जब तक कि सभी साधनों का पूर्ण उपभोग नहीं हो जाता है, यह प्रक्रिया चलती रहती है। यदि किन्हीं कारणों से लोग उत्पादित वस्तुओं का उपभोग नहीं कर पाते तो आर्थिक विकास की प्रक्रिया का क्षेत्र सकुचित हो जाता है। द्वितीय योजना में यह निर्देश किया गया है कि योजना की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश में राष्ट्रीय आय पर कर की ७ प्रतिशत दर को बढ़ाकर १९६०-६१ तक ९ या १० प्रतिशत किया जायगा। यही नहीं, कर की दर मे १२ प्रतिशत तक वृद्धि करने की आवश्यकता पड़ सकती है। भारत में कर की दर पहले ही से ऊँची है और इसीलिए योजना आयोग की यह धारणा है कि "करों के वर्तमान स्तर—राष्ट्रीय आय का ७%—को भी बनाए रखने के लिये उसमें कुछ न कुछ सशोधन अवश्य करने होंगे"। यदि करों में अब तनिक भी वृद्धि हुई, तो उससे लोगों को अत्यधिक कष्टों का सामना करना पडेगा और व्यापार व उद्योगों के सामने भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जायेंगी। यदि करों की किसी भी विधि से लोगों की क्रयशक्ति क्षीण होगी अथवा वस्तुओं में वृद्धि होगी, तो यह निश्चित है कि द्वितीय योजना के कार्य-क्रम में बाधा पहुँचायेगी। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आय में वृद्धि

[1] *Vide* the Autuor's article, *loc cit*, p 15

होगी और औद्योगिक व व्यवसायिक कार्यों का क्षेत्र विस्तृत होता जायगा, वैसे-वैसे करों से प्राप्त होने वाले सरकारी राजस्व में निश्चित रूप से वृद्धि होती जायगी। किन्तु यदि उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति को क्षीण बनाते हुए करो में वृद्धि करने का प्रयास किया जायगा तो यह निश्चय है कि योजना के कार्यान्वित होने मे बाधा पड़ेगी और राष्ट्रीय आय में अनुमानित वृद्धि भी नहीं आ सकेगी। इसका परिणाम यह होगा कि बाजार में तथा कारखानों के गोदामों में बगैर बिकी हुई वस्तुओं का ढेर लग जायगा और इस प्रकार उसका उत्पादन या तो घट जायगा या बिल्कुल ही बन्द हो जायगा। इस अव्यवस्था के फलस्वरूप योजना की प्रगति को गहरा धक्का लगेगा।

यदि लोगों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे अपना उपभोग कम और बचत अधिक करें तो ठीक वैसे ही दुष्परिणाम उत्पन्न होंगे। कुछ समय पूर्व यह धारणा प्रचलित थी कि अधिक बचतों से उसी अनुपात में आर्थिक विकास भी अधिक होता है। किन्तु अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्त इस धारणा के बिल्कुल विरोधी निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। उनके अनुसार जितना ही अधिक उपभोग किया जायगा उतना ही अधिक आर्थिक विकास होगा। यदि कृत्रिम राशि का विनियोग करने के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि हो और उसकी खपत हो जाने पर पहले की अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन हो और यह सम्पूर्ण आर्थिक प्रक्रिया निर्विघ्न रूप से चलती रहे, तो बचतों के सम्बन्ध में कठिनाई उठाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने के फलस्वरूप बचत की कुल रकम में भी वृद्धि होती है और अन्त में बचतो के द्वारा विनियोग सन्तुलित हो जाता है। किन्तु यदि बहुत शीघ्रता से बचत की रकम में वृद्धि करने का प्रयास किया जाय तो आर्थिक विकास का क्षेत्र सकुचित हो जायगा। यदि सरकार की कर नीति अथवा अन्य नीतियों से वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो और उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति घट जाय, तो इसका परिणाम यह होगा कि कपड़े, चीनी, खाद्यान्न और अन्य वस्तुओं की प्रति-व्यक्ति खपत (*Per capita* consumption) में अनुमानित वृद्धि नहीं होगी और न रहन-सहन का स्तर ही ऊँचा उठेगा, चाहे किसी प्रकार उन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा ही क्यों न लिया जाय।

तीसरी बात यह है कि योजना के अन्तर्गत अनुमानित घाटे के बजट की १,२०० करोड़ रुपये की रकम (जा देश की वर्तमान द्रव्य-पूर्ति का ५०-६०% है) से अत्यधिक मुद्रास्फीति उत्पन्न हो जाने की सभावना है। किसी भी ऐसे देश में, जहाँ व्यवस्थित रूप से आर्थिक विकास किया जा रहा है, मुद्रास्फीति का उदय

होना अवश्यम्भावी है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि मुद्रास्फीति पर कड़ा नियन्त्रण रखा जाय जिससे कि अधिक हानि न होने पाये। प्रोफेसर शिनोय की यह धारणा ठीक ही है कि "यदि यह मान भी लिया जाय कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर दुगुनी हो जायगी, तो भी अतिरिक्त रोकड़ बाकी (cash balances) के लिए इतनी अधिक माँग नहीं हो सकती कि कुल द्रव्य-पूर्ति (money supply) की ५०-६०% रकम की व्यवस्था घाटे के बजट के रूप में करने की आवश्यकता पड़े। यदि केन्द्रीय बैंक (Central bank) का एक-तिहाई अनुमानित द्रव्य घाटे के बजट के द्वारा चलन में आकर व्यवसायिक बैंको (Commercial banks) के सुरक्षित कोषों में वृद्धि करता है और उसके आधार पर वे व्यवसायिक बैंक ६-७ गुनी साख का निर्माण कर लेते हैं, तो योजना-काल के उपरान्त कुल द्रव्य की पूर्ति योजना प्रारंभ करने के समय की द्रव्य-पूर्ति से दुगुनी या उससे भी अधिक हो सकती है। इसके फलस्वरूप मुद्रास्फीति को निश्चित रूप से जन्म मिलेगा"।[1]

---

१ पर्याप्त सूचनायें न होने के कारण यह बताना कि किस सीमा तक घाटे का अर्थ प्रबन्ध भारतीय अर्थ व्यवस्था बिना हानि पहुँचाये सहन कर सकती है असम्भव है। प्रो० शिनोय ने अनुमान लगाने का साहस किया है। "इस शीर्षक के अन्तर्गत घाटे के अर्थ प्रबन्ध की मात्रा में पौण्ड पावने की मात्रा जो सरकारी क्षेत्र की आर्थिक आवश्यकता के लिये काम में लाई गई है जोड़ देने पर जो मात्रा आवे उसे ही घाटे के अर्थ प्रबन्ध करने की वह सीमा समझा जा सकता है जिस तक किसी हानि की आशंका नहीं की जा सकती। पाँच वर्षों के भीतर पौंड पावने की मात्रा १०० से लगाकर १५० करोड़ रुपये तक योजना के अन्तर्गत मानी गई है। इसके एक अंश को व्यक्तिगत क्षेत्र के लिये नियत करना पड़ेगा और उसकी मात्रा के बराबर बैंकों द्वारा साख उत्पन्न करनी पड़ेगी। यदि हम रोकड़ बचत तथा पौंड पावने की रकमों को सरकारी और व्यक्तिगत क्षेत्रों में २:१ के अनुपात में क्रमशः बाँटें तो कुल घाटे का [illegible] १८० से लगाकर २२० करोड़ रुपये तक पाँच वर्षों की अवधि में पड़ेगा, अर्थात ३५ से ४४ करोड़ रुपये प्रति वर्ष की दर के हिसाब से होगा।" इस मात्रा को घाटे के अर्थ प्रबन्ध की उचित सीमा चाहे हम मानें या न मानें पर इसमें कोई सन्देह नहीं है कि २०० करोड़ रुपयों का घाटे का प्रति वर्ष औसत अर्थ प्रबन्ध जो कि द्वितीय योजना में किया जाने वाला है बहुत अधिक है। इससे ऐसी मुद्रास्फीति शक्तियाँ उत्पन्न हो सकती है कि योजना ही नष्ट भ्रष्ट हो जाय।

अंतिम बात यह है कि यद्यपि द्वितीय योजना द्वारा प्रथम योजना की एक भूल का सुधार किया गया है और औद्योगिक विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है, किन्तु फिर भी सभव है कि एक दोषपूर्ण औद्योगिक ढाँचे का ही निर्माण हो, क्योंकि उसमें दैनिक उपयोग में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओं का उत्पादन करने वाले कारखानों के उद्योगों की उपेक्षा की गई है । "यदि योजना आयोग की बडे पैमाने वाले उद्योगों के स्थान पर छोटे पैमाने के और घरेलू उद्योग-धधों को विकसित करने की योजना सफल हो जाती है, तो इसका परिणाम यह होगा कि बडे-बडे उद्योगों का ह्रास होने लगेगा और उनके द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रयुक्त होने वाली मशीनें, इस्पात और अन्य आधारभूत सामग्री की माग बढ़ने के स्थान पर और भी घट जायगी" । दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "यदि संरक्षण, सगठन और आर्थिक सहायता के द्वारा जितना ही अधिक घरेलू उद्योग-धधों का विकास होगा और कारखानो के क्षेत्र में आधुनिकीकरण व प्रसार करने का कार्य जितने ही अधिक समय के लिए स्थगित किया जायगा, तो उक्त समस्याओं को हल करने की कठिनाई भी बढती ही जायगी । यदि ऐसा विकास कार्यक्रम अपनाया गया, जिसमें छोटे-छोटे उद्योगों का प्रसार करके औद्योगिक नीति बिल्कुल परिवर्तन कर दी जायगी और मशीनो व बिजली की शक्ति की पूर्ति भी इन्हीं घरेलू उद्योग-धधों के लिए की जायगी, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कार्य आर्थिक दृष्टि से नितान्त अनुचित होगा" ।[1]

---

1 इस सम्बन्ध में इस बात पर जोर देना उचित होगा कि "छोटे और ग्राम्य उद्योगों को सगठित करने के लिये बहुत अधिक प्रयत्न करना आवश्यक होगा । ऐतिहासिक दृष्टि से तो प्रवृत्ति सुसगठित फैक्ट्रियों की स्थापना के साथ ग्राम्य उद्योगों के बहिष्कार करने की रही है । यह बहिष्कार जहाँ कहीं भी हुआ है प्रशासन की आज्ञानुसार नहीं हुआ है । यह तो अधिक कुशल उत्पादन की प्रणाली के प्रति पक्षपात जो कि आर्थिक विकास का तर्कयुक्त परिणाम है उसके कारण हुआ । इसलिये स्वभावत नष्टप्राय ग्राम्य उद्योगो का पुनरुद्धार करने के लिये हमें विकास-क्रम के ऐतिहासिक प्रवाह के विरुद्ध चलना पड़ेगा और उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले फैक्ट्री की व्यवस्था वाले उद्योगों के विस्तार के विरुद्ध कृत्रिम बाधायें उपस्थित करनी पड़ेंगी, और इस सम्बन्ध में मुद्रास्फीति की ऐसी स्थिति उत्पन्न करनी पड़ेगी कि जो आगे चलकर सम्भवत हमारे नियन्त्रण के बाहर हो जाँय अथवा हमारी आर्थिक व्यवस्था को सदा के लिये स्थिर कर दें । यदि परम्परागत ढङ्ग के छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों को विकसित किया जाय तो खर्चीली व्यवस्था का प्रबन्ध करना

इस सम्बन्ध में एक दूसरा दृष्टिकोण यह है कि भावी औद्योगीकरण सरकार और निजी उद्योगों के सम्मिलित प्रयास पर आधारित होगा। यद्यपि द्वितीय पचवर्षीय योजना में निजी क्षेत्र के अन्तर्गत २४०० करोड़ रुपए के व्यय की रकम निर्धारित की गई है किन्तु उसमें यह उल्लेख नहीं किया गया है कि इतनी अधिक राशि किन साधनों से उपलब्ध होगी। योजना के अनुसार, "निजी उद्योगों के निर्माण-कार्य के लिए बचत की रकम प्राप्त करने के क्या साधन होंगे, यह निर्देश करना कठिन है। इसके अतिरिक्त यह भी दावे के साथ नहीं कहा जा सकता है कि निर्माण-कार्य में अनुमानित वृद्धि की पूर्ति होगी ही। कुल बचत के अपर्याप्त होने पर कमी कहाँ से पूरी की जायगी, इसका पता नहीं"। चूँकि सरकारी क्षेत्र को सभी साधन उपलब्ध होने की कदाचित् अधिक सभावना है, इसीलिये बहुत कुछ सभव है कि निजी क्षेत्र को अनुमानित साधन न प्राप्त हो सकें। इस परिस्थिति का फल यह होगा कि इधर सरकारी क्षेत्र के अतर्गत औद्योगिक विकास होगा और उधर निजी क्षेत्र में औद्योगिक प्रगति न होने के कारण सम्पूर्ण औद्योगिक विकास की स्थिति बहुत कुछ सीमा तक वैसी ही रह जायगी। अतएव द्वितीय योजना के अन्तर्गत जितना औद्योगिक विकास होने का अनुमान किया गया है वह नहीं हो सकेगा।

द्वितीय पचवर्षीय योजना ने बेरोजगारी की समस्या को हल करने पर बहुत जोर दिया है। वास्तव में छोटे पैमाने के और घरेलू उद्योग धन्धों के विकास को प्रोत्साहित करने का प्रमुख कारण भी यही है। किन्तु यन्त्र तैयार करने वाले उद्योगों का नियोजन इगलैंड, अमरीका और रूस के आधार पर किया जा रहा है। योजना आयोग को चाहिये था कि हमारी विशिष्ट आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर इस प्रकार के नये यन्त्र तैयार करने की व्यवस्था करता, जो इतने कार्यक्षम होते कि उनके द्वारा प्रति इकाई के उत्पादन की उतनी ही लागत पड़ती जितनी कि विश्व के अन्य औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में तैयार की गई 'श्रम की बचत करने वाली' (Labour-saving) और अपने आप चलने वाली मशीनों के द्वारा पड़ती है, किन्तु उनके (भारत की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनने वाली मशीनों) द्वारा पूँजी-विनियोग की प्रति इकाई से अधिक श्रमिकों की खपत होती। यदि उचित ध्यान दिया जाय तो इस प्रकार

आवश्यक होगा। ऐसा करने पर सफलता तो सीमित मात्रा में ही प्राप्त होगी पर यदि असफल हुये तो परिणाम भयावह होगा।" (Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry's "Second Five-Year Plan, *A Comparative Study of the Objectives and Techniques of the Tentative Plan-frame*", pp 78)

के यन्त्रो का निर्माण होना पूर्णरूप से सम्भव है। केवल पूँजी की बचत करने वाले (Capital-saving) ऐसे यन्त्रों का निर्माण करने का महत्व इसलिए भी बहुत अधिक है कि केवल इन्हीं के द्वारा भारत की बेरोजगारी और आंशिक रोजगारी की समस्या स्थायी रूप से हल की जा सकती है। ऐसी व्यवस्था की कमी द्वितीय पचवर्षीय योजना का एक बहुत गम्भीर दोष है।

योजना का पुनर्मूल्यन

द्वितीय पचवर्षीय योजना को प्रारम्भ से ही असाधारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। (अ) आयात की हुई मशीनों, कच्चे माल तथा अन्य माल का मूल्य स्वेज-सकट के कारण बढ गया। विदेशों में भी मूल्य बढ गये। देश में विनियोग की अत्यधिक देर के कारण मुद्रास्फीति की दशा उत्पन्न हो गई जिसके परिणाम स्वरूप मूल्यों में वृद्धि हुई। परिणाम यह हुआ कि योजना के अतर्गत विभिन्न योजनाओं की लागत बढ गयी तथा प्रारम्भ में निर्धारित वित्त से भौतिक लक्ष्यो (physical targets) की प्राप्ति असम्भव हो गई। (ब) योजना के लिये अत्यधिक कर लगाने तथा अन्य उपाय करने पर भी साधनों की कमी पड़ गयी और विदेशी विनिमय का सकट उपस्थित हो गया। (स) द्वितीय योजना का भार जनता की वहन शक्ति के लिये अधिक साबित हुआ। योजना मे सदैव ही कुछ त्याग करना होता है किन्तु द्वितीय योजना मे अपेक्षित त्याग बहुत अधिक हो गया। अतएव योजना आयोग तथा भारत सरकार को यह सुझाव दिया गया कि योजना में कटौती की जाय तथा विनियोग की दर कम की जाय। योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद तथा भारत सरकार ने विचार-विमर्श के बाद योजना मे कटौती करने के बजाय उसे दो भागों मे बाँट दिया। (१) भाग अ जिसके अन्तर्गत कृषि उत्पत्ति की वृद्धि से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित योजनायें, मुख्य (core) योजनायें (रेलवे, बडे बन्दरगाह, स्टील, कोयला तथा अन्य शक्ति योजनायें) जो काफी आगे बढ गयी हैं तथा अन्य योजनायें जिन पर कुल ४५०० करोड़ रु० के व्यय का अनुमान है, तथा (२) भाग ब जिसमें ३०० करोड़ रुपये की शेष योजनायें सम्मिलित हैं।

जैसा कि 'द्वितीय पचवर्षीय योजना : पुनर्मूल्यन व सम्भावनायें' (मई १९५८) से प्रकट है योजना आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि योजना पर प्रारम्भिक अनुमान की तुलना में ५४० करोड़ रु० कम अर्थात् ४२६० करोड़ रु० व्यय होगा।

मई १९५८ में योजना आयोग ने घोषणा की कि यथार्थ उपलब्ध साधन ४२६० करोड़ रु० ही है, फिर भी भाग अ के अर्थ प्रबन्धन का पूरा प्रयत्न किया

योजना के लिये प्रसाधन (१९५६-१९६१)

(करोड़ रु० मे)

साधन	योजना के लक्ष्य	उपलब्धि की सम्भावना
१. बजट के साधन	२८००	२२६२
(अ) चालू आय से बचत	१२००†	९६६
(ब) रेलवे का अंशदान	१५०	१५०
(स) ऋण तथा अल्प बचत	१२००	१०४४
(द) ऋण तथा विविध पूँजी प्राप्ति	२५०	६६
२. विदेशी सहायता	८००	१०३८
३. घाटे का अर्थ प्रबन्धन	१२००	१२००
कुल	४८००	४२६०

जायगा। सितम्बर १९५८ में यह घोषणा की गई कि भाग अ की योजनाओं को ४५०० करोड़ रु० तक नहीं सीमित किया जा सका अतएव १५० करोड़ रु० का व्यय और करना होगा और इस प्रकार कुल व्यय ४६५० करोड़ रु० होगा। योजना आयोग ने यह सुझाव दिया कि राज्य सरकारें योजना की शेष अवधि में १४० करोड़ रु० का अतिरिक्त साधन प्राप्त करें—६० करोड़ रु० कर द्वारा, ५० करोड़ रु० ऋण और अल्प बचत द्वारा तथा ३० करोड़ रु० योजना के बाहर के व्यय में कमी कर के। परन्तु राज्य सरकारें ६० करोड़ रु० कर द्वारा एकत्रित नहीं कर सकतीं। ऊँचे मूल्यों के कारण जनता की बचत कम हो गई है तथा अंशतः बचत निजी साहसी प्रयोग में ले आते हैं अतएव इस साधन से राज्य सरकारों को ५० करोड़ रु० प्राप्त करना सम्भव नहीं प्रतीत होता। कुछ लोगो की राय में कहीं अच्छा होता यदि योजना आयोग स्थिति का यथार्थता से सामना करता तथा व्यय को देश की शक्ति के अन्दर ही रखता।

आयात के मूल्यों मे वृद्धि होने तथा अन्य लागतों के बढ़ने के कारण सबसे अधिक वृद्धि 'उद्योग तथा खनिज' में हुई है तथा सबसे बड़ी कटौती 'सामाजिक

† इसके अन्तर्गत मूल योजना में दिखाया गया ८०० करोड़ रु० का चालू आय का अतिरेक तथा कर से पूरा होने वाला ४०० करोड़ रु० का घाटा भी सम्मिलित है।

अध्याय ४१

तृतीय पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा

भारत की तृतीय योजना की तैय्यारी की जा रही है और सबसे अधिक गभीर प्रश्न जो योजना आयोग तथा सरकार के समक्ष है वह योजना के रूप और आकार के सम्बन्ध में है। तृतीय योजना के आरम्भ न करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। यद्यपि द्वितीय योजना के कुछ ध्येयों की पूर्ति होना सम्भव नहीं है और देश का आर्थिक विकास हमारी आशा से कहीं कम हुआ है, फिर भी प्रथम और द्वितीय योजनाओं ने राष्ट्रीय उत्पत्ति तथा आय, कार्य के अवसरों तथा जनता के रहन-सहन के स्तर को प्रभावशाली ढग से बढाया है। यह सिल-सिला चलता रहना चाहिये और इसके लिये अधिक विस्तृत और महत्वाकांक्षी तृतीय योजना की आवश्यकता है। इसके भी ध्येयों को लगभग प्रथम और द्वितीय योजना के समान ही होना चाहिये, अर्थात् देश मे प्राप्त वस्तुओ के साधनों का सर्वोकृष्ट ढग से उपयोग, औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धो उत्पत्ति को अधिक से अधिक बढाना ताकि काम करने के अवसरो की वृद्धि तथा जनता के रहन-सहन के स्तर को वास्तविक रूप से ऊँचा उठाया जा सके, होना चाहिये। साराश यह कि भारत मे वास्तव रूप से कल्याणकारी सरकार की स्थापना हो सके। यह तो प्रत्यक्ष है कि इन आदर्शों को पूरा कर लेने के लिये लोगों को कुछ वस्तुओ के अपने वर्तमान उपभोग को अधिक कर (tax) देकर त्यागना पडेगा और अपनी बचत की मात्रा का पूँजी की वृद्धि करने के लिये बढाना पडेगा।

अभी तक तृतीय योजना के सम्बन्ध में मतभेद उसके आकार पर ही केन्द्रित रहा है। सरकारी मतानुसार तृतीय योजना का ध्येय १०,००० करोड़ रुपयों के विनियोग का ५ वर्ष की अवधि में होना चाहिये जबकि द्वितीय योजना में प्रस्ता-वित मात्रा केवल ६२०० करोड़ रुपया ही थी। इस नीति के विरोधकों का कहना है कि इतनी मात्रा का विनियोग अत्यधिक होगा और उन्होने यह सुझाव उप-स्थित किया है कि तृतीय योजना में विनियोग का स्तर लगभग वही होना चाहिये जितना कि द्वितीय योजना मे था। परन्तु तृतीय योजना के आकार के सम्बन्ध में मतभेद बिना उसके रूप के समझे असगत और निरर्थक है।

इस सम्बन्ध में सबसे अधिक गम्भीर बात विनिमय की मात्रा में सरकारी और व्यक्तिगत क्षेत्रो के भाग की है। प्रथम योजना मे औद्योगिक विकास के सम्बन्ध में व्यक्तिगत क्षेत्र का भाग कुल विनियोग मे आधा था परन्तु द्वितीय

योजना मे वह घटाकर एक-तिहाई कर दिया गया था। ऐसा स्पष्ट रूप से लक्षित हो रहा है कि तृतीय योजना में व्यक्तिगत क्षेत्र का भाग और भी अधिक घटा दिया जायगा। इसका अर्थ यह है कि द्वितीय योजना में केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा विकास सम्बन्धी विनियोग जो कि ४८०० करोड़ रुपया था (और जो बाद में घटाकर ४५०० करोड़ रुपया कर दिया गया था) उसे ७५०० करोड़ रुपया करना पडेगा यदि योजना का कुल व्यय १०००० करोड़ रुपया रक्खा गया। यदि ऐसा हुआ तो १०००० करोड़ रुपयों के आकार की योजना देश की शक्ति के बाहर होगी और यदि लादी गई तो देश में बड़ी कठिनाई तथा अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। ४५०० करोड़ रुपयों की विकास याजना की वित्त व्यवस्था करने में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने बहुत से नये करो का आरोप किया है और पहिले से आरोपित करो में वृद्धि की है जिनसे ५ वर्षा में ६०० करोड़ रुपयों की कुल अतिरिक्त आय की आशा की जाती है। इन करों के अतिरिक्त सरकार ने बहुत बड़ी मात्रा मे घाटे की अर्थ-व्यवस्था भी की है जा कि द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में ६५० करोड़ रुपये की मात्रा के लगभग होगी यद्यपि सघ के वित्त मत्री ने १९५९-६० तक उसका २२२ करोड़ रुपये ही अनुमान लगाया है। चूँकि यह सर्व विदित है कि द्वितीय योजना की ५ वर्ष की पूरी अवधि मे १५०० करोड़ रुपयो से अधिक का घाटे का अर्थ प्रबन्धन होगा इसलिये हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि वित्तमत्री द्वारा अनुमानित मात्रा कम है। यदि सरकार अपनी विकास योजनाओं पर कर-आय अथवा जनता से लिये गये ऋण का व्यय करती है तो मुद्रास्फीति उसका परिणाम नहीं होना चाहिये और उसके फलस्वरूप मूल्य स्तर में वृद्धि भी न होनी चाहिये। ऐसा इसलिये होगा कि जनता की द्राव्यिक आय, जिसमे से वह कर देती है अथवा सरकारी ऋणों में जिसका विनियोग करती है समान मात्रा की सेवाओं तथा वस्तुओं द्वारा सतुलित हो जाती है। यदि जनता अपनी आय का व्यय करती है तो वह इन सेवाओं और वस्तुओं का उपभोग स्वय कर लेती है और यदि वह कर (tax) देती है अथवा सरकारी ऋण मे विनियोग करती है तो दूसरे शब्दो में वह इस प्रकार सरकार को उसी मात्रा की सेवाओं और वस्तुओं के उपभोग का अधिकार प्रदान कर देती है। यदि सरकारी विकास योजनाओं की वित्त व्यवस्था कर-आय तथा ऋण द्वारा प्राप्त धन से की जाती है तो देश में ऐसी वस्तुये और सेवायें प्राप्त होंगी जिन पर यह द्रव्य व्यय किया जा सकता है और कुछ ही समय मे ऐसी समायोजना स्वय हो जायगी कि ऐसे व्यय के कारण मूल्य स्तर में वृद्धि न हो। लगभग ऐसी ही स्थिति उस समय भी होती है जब कि विकास योजनाओं की वित्त व्यवस्था विदेशी अनुदानों अथवा

देश के विदेशी विनिमय निधियों से की जाती है क्योकि यह धन भारत के वस्तुओं के आयात से ही प्राप्त होता है और इस प्रकार जो कुछ भी व्यय सरकार योजना पर करती है उससे सतुलित हो जाता है। यथार्थ मे ये आयात की हुई वस्तुये यही नहीं कि मूल्य स्तर की वृद्धि मे ही रोकथाम करें वरन् ये वास्तव में मूल्य स्तर को नीचे गिराने मे सहायक होती हैं और इसलिये इन्हें हम मुद्रा सकुचन उत्पन्न करने का कारण कह सकते हैं। परन्तु ऐसा घाटे का अर्थ प्रबन्धन जिसका अर्थ ऐसी स्थिति है जिसमें सरकार अपनी चालू कर-आय, ऋण से प्राप्त धन, जमा धन और निधियाँ इत्यादि से जो कि उसके पास हैं अधिक व्यय करती है, मुद्रास्फीति उत्पन्न करने का कारण है और यदि इसकी कुल मात्रा अधिक हुई तो यह मुद्रास्फीति का बहुत अधिक प्रभावशाली कारण बन सकती है, क्योंकि द्रव्य के व्यय का वस्तु की पूर्ति द्वारा इस स्थिति मे सतुलन नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि अपने देश में करारोप अपनी अधिकतम सीमा पर पहुँच चुका है और जनता बिना असह्य कष्ट उठाये अब और अधिक कर देने में असमर्थ है, और घाटे का अर्थ प्रबन्ध भयावह सीमा तक पहुँच चुका है और उसका परिणाम मुद्रास्फीति जन्य मूल्य स्तर मे वृद्धि हो चुकी है। इसलिये सरकार के लिये अब और अधिक घाटे के अर्थ प्रबन्धन का विचार करना अनुचित होगा। परन्तु यदि हमारी तृतीय योजना अधिक विस्तृत और महत्वाकाक्षी है और सरकारी क्षेत्र अधिक विस्तृत है तो करों तथा घाटे के अर्थ प्रबन्धन के स्तर को पर्याप्त मात्रा मे बढाना पडेगा क्योंकि सरकार के लिये महत्वाकाक्षी योजना को पूरा करने का कोई अन्य उपाय नहीं है। यदि कुल व्यय मे सरकारी क्षेत्र का भाग और अधिक बढाना है और सरकार को उसकी व्यवस्था करने के लिये धन कहीं से ढूँढ निकालना है तो हमें समझना चाहिये कि अधिक विस्तृत योजना को पूरा करना हमारी सामर्थ्य के बाहर है चाहे हमारी कितनी ही अधिक अवश्यकता क्यो न हो।

परन्तु यदि तृतीय योजना के अन्तर्गत कुल व्यय मे व्यक्तिगत क्षेत्र का भाग बढा दिया जाता है और यदि सरकार की आर्थिक, औद्योगिक तथा अन्य नीतियों को आवश्यकतानुसार परिवर्तित करके उचित वातावरण का सृजन किया जा सकता है तो यह सम्भव हो सकता है कि हम अपनी तृतीय योजना को बिना कठिनाइयो तथा मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न किये हुये ही अधिक विस्तृत तथा महत्वाकाक्षी बनाएँ। यह इसलिये सम्भव है कि व्यक्तिगत क्षेत्र में विनियोग का प्रबन्ध प्रायः बचत की मात्रा और कुछ थोड़ा सा विदेशी पूँजी से किया जाता है और यह व्यय वस्तुओं की पूर्ति द्वारा देश की आर्थिक व्यवस्था में सतुलित हो

जाता है। जहाँ तक बैंक द्वारा लिये हुये ऋण से इसकी व्यवस्था होती है उस सीमा तक वस्तु की पूर्ति द्वारा सतुलन नहीं होता और मुद्रास्फीति उत्पन्न करने का कारण बन सकता है। परन्तु भारत में व्यक्तिगत क्षेत्र के कुल विनियोग के बहुत थोड़े से अश की व्यवस्था इस ढग से होती है इसलिये व्यक्तिगत क्षेत्र द्वारा विकास-योजना में विनियोग से मुद्रास्फीति के प्रोत्साहित होने की सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि तृतीय योजना की रूपरेखा उसके आकार को प्रभावित करती है।

इसमें सदेह नहीं कि द्वितीय योजना में आरम्भ किये हुये विकास कार्यों को उनकी शाखा प्रशाखाओं सहित तृतीय योजना में पूर्ण करना है इसलिये विनियोग की मात्रा द्वितीय योजना से अधिक अवश्य होगी। यह भी सत्य ही है कि यदि जनसख्या के अधिक अश को काम देना है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतवर्ष मे जनता को काम करने के अधिक अवसर प्रदान किये जाने चाहियें। भारत की जनसख्या में २% की प्रतिवर्ष वृद्धि को विचाराधीन रखते हुये लोगों को वृद्धिमान रहन-सहन का स्तर प्रदान करने के लिये अधिक तीव्र गति से आर्थिक विकास की आवश्यकता है।

परन्तु यदि सरकारी क्षेत्र के विस्तार को बढा दिया जाय तो यह सब सम्भव न हो सकेगा। द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में राष्ट्रीय आय लगभग २% प्रतिवर्ष की औसत दर से बढी है और लगभग २७ लाख ५० हजार व्यक्तियों को काम करने के अतिरिक्त अवसर प्रदान किये गये हैं जब कि द्वितीय योजना का ध्येय ५% प्रतिवर्ष की वृद्धि राष्ट्रीय आय में और ८० लाख व्यक्तियों को अतिरिक्त काम देना निश्चित किया गया था। वृद्धि की इस दर ने जनता पर ऊँचे करों, जीवन-यापन के ऊँचे मूल्यों, और नीचे गिरे हुये रहन-सहन के दर्जे के रूप में बहुत कठिनाइयाँ लादी हैं। ताकि इन कठिनाइयो को बिना अधिक मात्रा मे बढाये तृतीय योजना का विस्तार बढाया जा सके इसलिये योजना आयोग और सरकार को यह निश्चय करना पडेगा कि किसी विचारादर्श के प्रति अपनी आस्था प्रदर्शित करने के लिये उसी पर अडे रहना, अथवा अधिक तीव्र गति से देश का आर्थिक विकास करना देश के लिये कहाँ तक हितकर होगा। चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था का स्थान समाजवादी व्यवस्था द्वारा धीरे-धीरे लिये जाने का कार्य आरम्भ हो चुका है इसलिये वह तो अपना पूरा समय लेगा, परन्तु यदि उसके स्वाभाविक विकास को जल्दी लाने का प्रयत्न किया गया तो इसका अर्थ आर्थिक उन्नति और देश की सम्पन्नता की प्रगति मे बाधा डालना होगा।

तृतीय योजना की रूपरेखा का जानना उसके आकार को निश्चित

करने के लिये ही आवश्यक नहीं है वरन् देश को विकास योजनाओं से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिये भी आवश्यक है। व्यक्तिगत क्षेत्र को उसका उचित अंश देने के बाद दूसरा आवश्यक प्रश्न योजना के अन्तर्गत आये हुये विकास कार्यों का क्रम है। क्या तृतीय योजना के विकास कार्यक्रम में कृषि को वही स्थान दिया जाना चाहिये जो कि उद्योग को दिया जाय? द्वितीय योजना के अनुभव के आधार पर जिसमें कृषि को औद्योगिक विकास की तुलना में कम महत्व का स्थान दिया गया था हम कह सकते है कि कृषि का स्थान अधिक महत्व का होना चाहिये। द्वितीय योजना में सर्वप्रथम १०० लाख टन खाद्यान्न के उत्पादन का लक्ष्य बनाया गया था जो कि बाद में बढ़ाकर १·७५ लाख टन कर दिया गया। द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में इस लक्ष्य का आधे से अधिक पूरा न किया जा सकेगा। कृषि के प्रति उदासीनता के परिणाम स्वरूप खाद्यान्न में कमी तथा उनके निरन्तर बढ़ते जाने वाले मूल्य देश के समक्ष आये। ऐसी अर्थ व्यवस्था में जहाँ खाद्यान्न के मूल्य का सबसे अधिक महत्वशाली स्थान है वहाँ अन्न के मूल्य के बढ़ने के साथ ही साथ अन्य वस्तुओं के मूल्य भी बढ़ने लगते हैं। और इस प्रकार मुद्रास्फीति की स्थिति के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सब बातों को उत्पन्न न होने देने के लिये तृतीय योजना में कृषि उत्पत्ति के अधिक बढ़ाने की व्यवस्था की जानी चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि देश की कुल आय तथा उत्पत्ति औद्योगिक विकास के फलस्वरूप कृषि के विकास की तुलना में अधिक तीव्र गति से बढ़ जायगी। यही बात काम के अवसरों, निर्यात तथा जनता के रहन-सहन के दर्जे के बढ़ाने के सम्बन्ध में भी सत्य है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि ऐसी आर्थिक उन्नति का क्या प्रयोजन जब जनता को भर पेट भोजन मिलना ही दुष्कर हो जाय। कृषि के विकास के प्रति विशेष ध्यान देने का अर्थ चाहे आर्थिक विकास में कमी करना ही क्यों न हो यह जोखिम उठाने योग्य है क्योंकि इससे अन्न की उपज तथा अन्य कृषि उत्पत्ति के बढ़ जाने के कारण औद्योगिक विकास के लिये दृढ़ आधार प्राप्त हो जाता है।

औद्योगिक विकास में वास्तविक कठिनाई विभिन्न हितों के समायोजित करने की है जैसे: (१) छोटे स्तर के घरेलू उद्योग-धन्धे और ज्वाइंट स्टाक कम्पनी व्यवस्था वाले बड़े स्तर के उद्योग, और (२) बड़ी मशीनों के निर्माण करने वाले उद्योग तथा उपभोक्ता की वस्तुओं तथा अन्य छोटी-छोटी वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योग। भारतीय आर्थिक तथा उद्योग व्यवस्था में छोटे स्तर पर उत्पादन करने वाले घरेलू उद्योग-धन्धों का एक विशेष स्थान है और इसलिये उन्हें पूर्ण रूप से प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बड़े स्तर

पर उत्पादन करने वाले उद्योगों का अहित करके ऐसा किया जाय। द्वितीय योजना में एक महान भूल बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों की चिन्ता न करके छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले तथा घरेलू उद्योग धन्धों को बढ़ाने की की गई थी। इसके मूल में योजना के अन्तर्गत काम करने के अवसरों को बढ़ाने की भावना थी। इसका उदाहरण सूती कपड़ा उत्पादन करने वाले उद्योग थे। यह नीति काम के अवसरों के बढ़ाने में सफल नहीं हुई वरन् उसने बड़ी मात्रा मे उत्पादन करने वाले उद्योगों को घाटा पहुँचाया। यह भूल तृतीय योजना मे बचाई जानी चाहिये और केवल उन्हीं घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये जिनका विकास बिना बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों को हानि पहुँचाये किया जा सकता है और केवल ऐसे ही ढंगों का प्रयोग किया जाना चाहिये जिनसे घरेलू उद्योगों की तो सहायता प्रभावशाली ढंग से हो पर बड़े उद्योगों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। जैसे-जैसे बड़ी मात्रा मे उत्पादन करने वाले उद्योगों का विकास होता चलेगा अधिकाधिक काम करने के अवसर जनसंख्या को मिलते जायगे और इस बीच मे इस बात का प्रयत्न होना चाहिये कि श्रम-बचाव के ढंग का प्रयोग न हो वरन् नये कारखानों में तथा उन पुराने कारखानों में जहाँ मशीनें बदली जाने वाली हैं अधिक कुशलता से काम लेने वाली मशीनों का प्रयोग हो।

तृतीय योजना में अधिक व्यय होने के कारण ज्यों-ज्यों लोगों की आय बढ़ेगी त्यों-त्यों उन्हें अधिक उपभोग की वस्तुओं की आवश्यकता होगी। भूत काल में ऐसी वस्तुयें अंशत: विदेशों में अपने विदेशी विनिमय निधियों के और अंशत भुगतान सतुलन के अतिरेक के आधार पर आयात की जा सकती थीं। अब उपभोक्ता की वस्तुओं की पूर्ति देश मे ही बढ़ानी है। परन्तु यदि इन्हीं उद्योगो पर अधिक विनिमय कर दिया गया तो मशीनों के निर्माण, भारी रासायनिक द्रव, इन्जीनियरिंग तथा अन्य इस प्रकार के उद्योगो पर जो कि अभी भारत में पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुये हैं, और जिनके विकास को औद्योगिक आधार प्रदान करने के लिये आवश्यकता है, व्यय करने के लिये पर्याप्त मात्रा से धन न बचेगा। इन उद्योगों के सम्बन्ध मे योजना के दृष्टिकोण से कठिनाई यही है कि निकटस्थ भविष्य मे ये उद्योग लोगों को इतने काम के अवसर न प्रदान कर सकेंगे जितने कि उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन वाले उद्योगो के विकसित करने से मिलते। इसके अतिरिक्त उनका उत्पादन बाजार में बिक्री के लिये अधिक दिनों के पश्चात् आयेगा और बढ़ी हुई क्रय-शक्ति अधिक विनियोग होने के कारण बाजार मे माल पहुँचने के पहिले पहुँच जायगी जिससे मुद्रास्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जायगी।

परन्तु इन सब कठिनाइयों के होते हुये भी भारत की तृतीय योजना के अन्तर्गत भूत काल की अपेक्षा अधिक मात्रा में व्यय बड़ी मशीनों के निर्माण करने वाले कारखानो के लिये नियत करना आवश्यक होगा।

चूँकि अपने देश में साधन का अभाव है इसलिये महत्व मे प्रथम वस्तु को प्रथम स्थान दिया जाना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि तृतीय योजना को कार्यान्वित करने के लिये विकास से असम्बन्धित समस्त व्यय तथा तृतीय योजना के बाहर विकास सम्बन्धी व्यय को न्यूनतम स्तर पर रखना चाहिये और भारत के सरकारी व्यय में जितनी भी मितव्ययता सम्भव हो, की जानी चाहिये। इस बात पर बारम्बार योजना आयोग ने तथा सरकार ने जोर दिया है परन्तु अभी तक केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो द्वारा इसे कोई प्रयोगात्मक रूप नही दिया गया है। प्राप्त साधनों का सर्वोत्तम प्रयोग करने के लिये भी यह आवश्यक है कि तृतीय योजना के बाहर के व्यय को न्यूनतम करने के लिये कोई प्रयोगात्मक उपाय ढूंढ निकाला जाय।